रत्नाकर-शतक

द्वितीय भाग

अनुवादक और सम्पादक
भारतगौरव श्री १०८ आचार्यरत्न, धर्मनेता, विद्यालंकार
श्री देशभूषणजी महाराज

प्रकाशक
जैन मित्र मण्डल,
धर्मपुरा, दिल्ली ।

प्रकाशक :
जैन मित्र मण्डल,
धर्मपुरा, दिल्ली
ट्रैक्ट नं० १५७

द्वितीय संस्करण-वीर नि० सं० २४१०
मूल्य २॥) ढाई रुपया

प्रस्तावना

भारतीय साहित्य मे जैन वाङ्मय का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। जैन-साहित्य के निर्माताओ मे बहुभाग जैनाचार्यों का है। जैनाचार्य त्याग और संयम के मूर्तिमान रूप होते हैं। उनके जीवन का सारा आयोजन आध्यात्मिक होता है। वे सासारिक आरम्भ-परिग्रह को त्याग कर केवल आत्म-साधना मे निरत रहते है। उनके कन्धों पर जैन शासन और जैन संघ की सुरक्षा के जो महान् दायित्व होते हैं, उनका निर्वाह वे कुशलतापूर्वक करते हैं। जैन-शासन की नौका के सामने कई बार पहाड आकर खडे हो जाते हैं, किन्तु आचार्य उन पहाडो मे मार्ग बनाकर नौका को ले ले जाते हैं।

जब अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को लेकर १२००० मुनियो के साथ दक्षिण भारत की ओर चले गये, उसके बाद शताब्दियो तक उत्तर भारत मे कोई प्रसिद्ध जैनाचार्य नही हुए। सभी प्रसिद्ध आचार्य दक्षिण भारत मे ही होते रहे। आचार्य पुष्पदन्त, भूतबली, गुणभद्र, आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, अकलंक, सिद्धसेन, विद्यानन्दी, जिनसेन, रविषेण, नेमिचन्द्र, देवनन्दी, रामसेन आदि सभी प्रमुख आचार्यों ने दक्षिण भारत मे जन्म लिया और प्राय उधर ही प्रचार किया। उनके महान् व्यक्तित्व, विद्वत्ता और प्रतिभा के कारण सारा दक्षिण जैनधर्म का अनुयायी बन गया, दक्षिण के सभी राजवंश—चोल, पाण्ड्य, होयसल, कदम्ब, चालुक्य जैनधर्म के कट्टर भक्त हो गये। और इसी का परिणाम यह हुआ कि जब दक्षिण मे शंकराचार्य के धर्म-प्रचार की आँधी उठी, उसमे बौद्ध धर्म के भारत से पैर उखड गये, किन्तु इन दिग्गज आचार्यों ने उस आंधी को अपनी छाती पर झेल

लिया, उससे उनके पैर नहीं डगमगाये। इतिहासकारों को अभी यह खोजना शेष है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने भारत के चारों कोनों पर जो चार आश्रम या तीर्थ स्थापित किये थे, उनका शंकराचार्य के युग में क्या रूप परिवर्तित हुआ और हिन्दुओं के वर्तमान चार धाम ही क्या कुन्दकुन्द द्वारा स्थापित चार तीर्थ नहीं हैं? यह असम्भव नहीं है कि जैसे दक्षिण भारत के प्रसिद्ध शैव मन्दिर कभी जैन मन्दिर रहे थे और लिंगायतों के प्रभाव में वे परिवर्तित कर लिये गये, इसी प्रकार चारों तीर्थ ही परिवर्तित करके हिन्दुओं के चार धाम बन गये हों। बद्रीनाथ पर मूलनायक प्रतिमा आज भी ऋषभदेव की ही प्रतिमा है और उसे हिन्दू लोग अपना आराध्य मानते हैं। केवल नाम-रूप ही बदल दिया है। अस्तु।

दक्षिण भारत में आचार्य-परम्परा में जब तक प्रौढ़ आचार्य होते रहे, तब तक उन्होंने धर्म और संस्कृति की रक्षा की, वे साहित्य-सृजन करते रहे। उनके बाद गृहस्थ विद्वानों ने और भट्टारकों ने यह कार्य किया और साहित्य की श्री-वृद्धि की।

उत्तरभारत से यद्यपि मुनि-संघ भद्रबाहु स्वामी के साथ चला गया था, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उत्तर भारत में मुनियों का एक-दम अभाव हो गया था। यहाँ भी मुनि रहे थे और उन्होंने भी समय-समय पर साहित्य-निर्माण में हाथ बटाया। इनके अतिरिक्त विद्वान् पण्डितों ने अनेक विषयों की प्रौढ़ रचनाएँ कीं।

आचार्य और मुनि आध्यात्मिक जीवन के व्यावहारिक और मूर्तिमान रूप रहे हैं, अतः उनकी रचनाओं का मुख्य विषय अध्यात्म रहा है। स्वयं अध्यात्म-साधना में निरत रहने वाले यह कैसे स्वीकार कर सकते थे कि वे अपनी रचनाओं द्वारा जनता के मानस में अश्लील शृंगार के माध्यम से कुरुचि अथवा विकृति भर दें। इसलिये इन महान् आचार्यों ने संसार की गहन समस्याओं के मूल में जाकर द्रव्यों और तत्त्वों का जिस बारीकी के साथ विश्लेषण किया है, उसकी व्याख्या का

स्वरूप रूपी पुद्गल के आवरण को दूर करके अपने अनुभव के ओर से जगत के समक्ष प्रस्तुत किया, जन्म-मरण की परम्परा का सही निदान करके उसके कारणो का निरसन करने का जो मार्ग उद्घाटित किया, वह जैनाचार्यों की अपनी ही विशेषता रही है और इस विशेषता की बदौलत ही वे दूसरे लेखको से पृथक् पहचाने जा सकते हैं। साम्प्रदायिक आवरण डालकर दुनिया को देखने वाले उनके दृष्टिकोण को कभी-कभी साम्प्रदायिक कह बैठते हैं, किन्तु निष्पक्ष तत्व मनीषियो की दृष्टि मे चरम सत्य की उपलब्धि इसके अतिरिक्त दूसरी हो नही सकती। वस्तुत सत्य का साक्षात्कार करने की जो दृष्टि जैनाचार्यो ने अपनी रचनाओं द्वारा दी है, उसी के कारण यह सम्भव हो सका कि दार्शनिक इस या उस रूप मे अनेकान्त और स्याद्वाद की उपयोगिता को स्वीकार करने लगे। जैन तत्वज्ञानियो ने आत्मा मे अनन्तशक्ति, अनन्त-ज्ञान और अनन्त सुख की जो स्वीकृति दी है, वह सत्य की महान् उद्भावना है और इस स्वीकृति के बिना आत्मा के सही रूप के न कभी दर्शन हो सकते है और न उस दिशा मे कोई प्रयत्न ही सम्भव है।

किन्तु इस सबका अर्थ यह नही है कि जैनाचार्यों ने केवल शुष्क अध्यात्म को ही अपनी रचनाओ और प्रतिभा का विषय बनाया। न्याय, छन्द, कोष, अलकार, वैद्यक, ज्योतिष, पुराण, इतिहास, चम्पू, काव्य, व्याकरण, मत्र, गणित आदि सभी विषयो पर समान अधिकार के साथ अपनी लेखनी चलाई। और साहित्य के सभी अगो को अपनी प्रतिभा द्वारा समृद्ध किया।

आचार्यों की तरह गृहस्थ विद्वानो और भट्टारकों ने भी उपरोक्त सभी विषयो पर प्रौढ रचनाएँ की।

जैन लेखको ने—चाहे वे आचार्य हो, विद्वान् हो या भट्टारक—कभी अपनी लेखनी को बेचा नही, व्यवसाय नही बनाया और न राजाओ या धनिको की सन्तुष्टि का साधन ही बनाया। उन्होने जो

कुछ लिखा, स्वान्तः सुखाय ही लिखा, उन्होंने जो कुछ लिखा, जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर लिखा। उनकी रचनाओं से उनके लेखकों को आत्म सन्तुष्टि प्राप्त हुई और पाठकों को कल्याण के दर्शन हुए। एक और भी उनका दृष्टिकोण था, उसे समझ लेना भी आवश्यक है, जिससे कहीं उनके साथ अनजाने में अन्याय न हो जाय। उन्होंने जो कुछ भी लिखा, परम्परा की सीमा में रहकर ही लिखा; उन्होंने जो कुछ लिखा मर्यादा में रहकर लिखा। अपनी परम्परा और मर्यादा का निर्वाह वे न कर सके हों, ऐसा हमें कहीं नहीं मिलता। इसलिये ही उनकी लेखनी नियन्त्रित, संयत और उद्बुद्ध रहकर चली, उच्छृंखलता, दम्भ और माया को कहीं प्रश्रय नहीं मिल पाया। इसीलिये वादीभकालानल, स्याद्वादाचलसिंह, तार्किक चक्रवर्ती, वादीभ पंचानन और वाक्कल्लोलपयोनिधि जैसे विरुदधारी भी गुरु और धर्म-शासन के समक्ष अपनी लघुता प्रदर्शित करके ही आगे बढ़ सके।

जैन साहित्य-निर्माताओं की एक विशेषता यह रही है कि उन्होंने किसी भाषा विशेष की दासता कभी स्वीकार नहीं की। उनका उद्देश्य भाषा की श्रेष्ठता प्रमाणित करना कभी नहीं रहा, अपितु वे एक उद्देश्य को लेकर चले थे। उस उद्देश्य का प्रचार-प्रसार जिस भी भाषा से हो सकता था, उसी के द्वारा उन्होंने अपने विचारों को अभिव्यक्त किया। भाषा भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम है, सबल साधन है, इस सत्य को सबसे पहले जैन साहित्यकारों ने ही पहचाना था। इस सत्य को पहचानने की प्रबल प्रेरणा उन्हें तीर्थंकरों की दिव्य ध्वनि से प्राप्त हुई थी। तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि अर्धमागधी में प्रकट होती है। वह भाषा निरक्षरी होती है, किन्तु देव, मनुष्य और तिर्यंच सभी जीव उसे अपनी भाषा में समझ लेते हैं। जैन-साहित्यकारों ने साहित्य-निर्माण करते समय इसका निष्कर्ष निकाला कि तीर्थंकरों के उपदेश सभी लोगों के पास उनकी भाषाओं में जाने चाहिये। इसका अर्थ यह भी है कि कोई एक भाषा श्रेष्ठ नहीं है, बल्कि सब भावों के व्यक्तीकरण का अपना-अपना

उद्देश्य पूरा करती है। इस फलितार्थ पर पहुँच कर वे किसी भाषा-विशेष के बन्धन मे जकड़े नही रह सकते थे, न उन्हें किसी भाषा-विशेष से व्यामोह हो सकता था और न किसी भाषा को वे हीन ही समझ सकते थे।

अत उन्होंने सस्कृत मे रचना की, प्राकृत मे रचना की, अपभ्रश मे साहित्य-सृजन किया। विभिन्न जनपद-भाषाओ को उन्होंने अपने साहित्य का माध्यम बनाया। प्राकृत भाषा पर जैन साहित्यकारो का सम्पूर्ण अधिकार रहा है। अपभ्रश साहित्यकारो मे बहुभाग जैन साहित्य-कारों का ही है। हिन्दी भाषा के आद्य रचनाकार जैन ही थे और यदि समुचित न्याय मिला—जिसका मुझे पूर्ण विश्वास है—तो हिन्दी के आद्य महाकवि बनने का गौरव चतुर्मुख स्वयम्भू और रयधू को देना होगा। व्रजभाषा, राजस्थानी और गुजराती मे जैन लेखको ने जो देन दी है, वह कम महत्वपूर्ण नही है। दक्षिण भारत की भाषाओ को साहित्य का माध्यम बनाने का एकमात्र श्रेय जैन साहित्यकारो को ही मिलेगा। तामिल भाषा के सगमो के सयोजक जैन रहे है। उसके आदि पांच महाकाव्य और कुरल काव्य जैनाचार्यों की ही कृतियाँ हैं। और कन्नड भाषा तो जैनो की प्रिय भाषा रही है। अधिकांश दिगम्बर जैन साहित्य कन्नड भाषा मे ही उपलब्ध होता है। कन्नड भाषा के पम्प, रन्न, पोन्न, जन्न, नाल्व, मगराज, रत्नाकर, प्रभाल, बन्धुवर्मा ये सभी जैन कवि थे। इस प्रकार जनपद भाषाओ और प्रान्तीय भाषाओ को साहित्य का माध्यम बनाने का श्रेय जैन साहित्यकारो को ही है और साहित्य के क्षेत्र मे जैनो की यह देन भारतीय भाषाओ के इतिहास में गौरव के साथ स्मरण की जाती रहेगी।

ग्रन्थ का नाम

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम लेखक के नाम पर 'रत्नाकर-शतक' है। यह कन्नड भाषा का बड़ा सरस उपदेश-ग्रन्थ है। इसमे कुल १२८ पद्य हैं। यह कन्नड भाषा के प्रसिद्ध कवि रत्नाकर वर्णी की महत्वपूर्ण रचना

है। इसमें मुख्य प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म, नीति और वैराग्य है। इन विषयों को लेकर कवि ने उपदेश दिया है। किन्तु कवि की उपदेश की भी अपनी शैली है। न उसमें गुरु का कठोर शासन है, न कान्तासम्मत प्यार भरी सीख है, न मित्रों जैसी हितकांक्षा है बल्कि कवि अपने रत्नाकराधीश्वर से प्रत्येक पद्य में भक्तिपूर्ण सलाप करता है और भक्ति में उसके हृदय में जो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें सब बन्धनों से ऊपर उठकर व्यक्त करता है। कभी वह अपने प्रभु से संसार की असारता का बखान करता है, कभी पाप-पुण्य को लेकर फरियाद करता है, कभी राजाओं की मनोवृत्ति की शिकायत करता है तो कभी अपने प्रभु को बड़े ध्यान से देखकर पुकारता है—'हे रत्नाकराधीश्वर! भगवन्! बोलो, क्या आपको मुनियों द्वारा भावपूर्ण पूजा इष्ट है या भव्यजनों द्वारा श्रेष्ठ पदार्थों से होने वाली पूजा इष्ट है? तुम बोलते क्यों नहीं?' किन्तु भक्त कवि सोच में पड़ जाता है, उसके भगवान् बोलते नहीं, मौन हैं। उनका मौन रहस्य से खाली नहीं है। तभी अचानक वह चिल्ला उठता है—'मैंने रहस्य जान लिया कि भगवान् मौन क्यों हैं। भगवन्! आप तो इच्छा रहित हैं।' किन्तु प्रश्न सुलझा नहीं, भगवान् चाहते क्या हैं? फिर भगवान् चाहेंगे ही क्या, उनके तो कोई इच्छा ही नहीं है। तब! भावपूर्ण पूजा, श्रेष्ठ पदार्थों द्वारा पूजा ये सब क्यों? कवि सोचता है और स्वयं ही उत्तर देता है—'भव्य लोग आपके अन्दर अपने मन को लगाने के लिये ये नानाविध साधन किया करते हैं।' (पद्य ६६)

एक ज्ञानी ने कहा—'भावों की शुद्धता ही पूजा है। भगवान् को प्रकार के पदार्थ चढ़ाना भगवान् की विडम्बना है, क्योंकि भगवान् वीतराग हैं, वे न चढ़ाने से प्रसन्न होते हैं, न वे न चढ़ाने से अप्रसन्न होते हैं। [illegible] जनों ने कहा—'हम अपने कर्मों को नष्ट करना चाहते हैं। कैसे करें, कुछ तो आलम्बन चाहिये। हम तो इसलिये भगवान् के आगे अष्ट द्रव्य चढ़ाकर उनके ज्ञानानल में आठ कर्मों का हवन करना चाहते हैं।

क्या बुराई है यो करने मे ।' कवि ने दोनो की बात सुनी और अपने भगवान् से बोला—'हे रत्नाकराधीश्वर ! जैसे योगी आपकी भावपूजा करके अपना कल्याण करता है, वैसे ही श्रेष्ठ पदार्थों से जो सत्पुरुष आपकी पूजा करते है, उनका भी महान् कल्याण होता है ।' कितना सुन्दर फैसला है कवि का । यह व्यवहारवादी दृष्टिकोण लेकर कवि चला है । (१८)

कवि गुरु का लक्षण करते हुए कहता है कि—'दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानने वाला, आत्मा को शरीर से पृथक् समझने वाला तथा परलोक को अपना देश मानने वाला इस लोक का गुरु है और उत्कृष्ट ज्ञानी है ।' कवि ऐसे ही गुरु को अपना गुरु मानता है और यही वह अपने गुरु देवेन्द्रकीर्ति मुनिराज का परिचय देते हुए कहता है कि वे ऐसे ही ज्ञानी गुरु थे ।

कवि एक ओर तो कहता है कि भगवान् के चरण-कमलो की भक्ति करने से किसी प्रकार की आपत्ति नही आती तथा अनेकानेक इष्टार्थ की सिद्धि भी होती है, और दूसरी ओर उसे भारी शिकायत है कि संसार के समाचारो पर स्नेह के साथ बात करते हुए शरीर की दशा भरे हुए घडे के समान रहती है, किन्तु भगवान् के नामाक्षर रूप मन्त्र का स्मरण और जाप्य करते समय जम्हाई आने लगती है, आँखो से पानी बहने लगता है, आलस्य सताने लगता है । कवि ने वास्तव मे सत्य ही कहा है—हमे दुनिया के कामो के लिये खूब समय है, उत्साह है, रुचि है, किन्तु भगवान् का नाम लेने के लिये हमारे पास न समय है, न रुचि है और न उत्साह ही है ।

आत्मा का स्वरूप क्या है, यह शरीर के बन्धन मे किस प्रकार पड़ा, ये और इसी प्रकार के दूसरे प्रश्न है, जिन पर भारतीय और अन्य दार्शनिको ने बड़ा ऊहापोह किया है । किन्तु आत्मा के स्वरूप को पहचानने मे वे अक्षम ही सिद्ध हुए हैं । जैनधर्म ने इस प्रश्न को अपने सिद्धान्त और दर्शन का मुख्य विषय मानकर विचार किया और इस

निष्कर्ष पर पहुँचा कि आत्मा शक्ति की दृष्टि से परमात्मा के समान अनन्त ज्ञानादि गुणों से युक्त है, किन्तु इसके गुणों पर मोह, राग-द्वेष आदि का आवरण पड़ा है। इसलिये उसकी शक्ति व्यक्त नहीं हो पाई। जैनधर्म की इसी मान्यता को रत्नाकर शतक में कवि ने प्रकट किया है। वह कहता है कि आत्मा स्फटिक मणि के समान निर्मल है। विभिन्न रंगों के साथ सम्बन्ध होने पर जैसे स्फटिक लाल-पीली आदि हो जाती है, उसी प्रकार विभिन्न शरीरों के संयोग के कारण यह आत्मा विभिन्न नाम-रूप की कहलाने लगती है। इन शरीरों के बंधन में यह आत्मा अपने किये हुए कर्मों के परिणाम-स्वरूप पड़ा है। जब तक कर्मों का नाश नहीं किया जाता, तब तक आत्मा के शुद्ध-निर्मल स्वरूप की उपलब्धि होना असम्भव है। (११८-११९)

इस प्रकार इस ग्रन्थ में अध्यात्म, सिद्धान्त, नीति, वैराग्य, उपदेश आदि को लेकर १२८ श्लोक दिये गये हैं।

ग्रन्थकार रत्नाकर वर्णी

इस ग्रन्थ के रचयिता रत्नाकर वर्णी कन्नड़ भाषा के मूर्धन्य साहित्यकारों में माने जाते हैं। इनकी उपलब्ध रचनाओं में तीन शतकों की बड़ी ख्याति है—रत्नाकर-शतक, अपराजित-शतक और त्रैलोक्येश्वर शतक। रत्नाकर शतक का दूसरा नाम रत्नाकराधीश्वर शतक भी है। तीनों शतकों में १२८-१२८ पद्य हैं, और इनमें अध्यात्म, नीति, वैराग्य, वेदान्त और त्रिलोक सम्बन्धी वर्णन है।

इनकी एक और रचना अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसका नाम है भरतेश-वैभव। भरतेश वैभव में योगिराज चक्रवर्ती भरत का जीवन-चरित्र गुम्फित किया गया है। इसमें वैराग्य के साथ शृंगार का जिस प्रकार समन्वय किया गया है, वह अनुपम है। इस काव्य ग्रन्थ के कारण इनका एक विरुद 'शृंगार कवि राजहंस' भी ग्रन्थों में मिलता है। इनके इस विरुद का रहस्य इसी काव्य में निहित है। मैं नहीं जानता कि इस काव्य का कन्नड़ महाकाव्यों में क्या स्थान है, किन्तु यदि इस काव्य को महाकाव्य

की कोटि मे नही सम्मिलित किया गया है तो निश्चय ही कन्नड भाषा और कन्नड भाषाभाषियो की यह महान् क्षति है।

कवि रत्नाकर का एक और भी शतक है, जिसका नाम 'सोमेश्वर-शतक' है। यह काव्य कवि की उस काल की रचना है, जब कवि ने जैनधर्म छोडकर शैवमत अङ्गीकार कर लिया था। इसमे तत्त्व तो जैन-धर्म सम्बन्धी है, किन्तु यह शिवजी को सम्बोधन करके लिखा गया है और प्रत्येक काव्य के अन्त मे 'हरहरा सोमेश्वरा' पद दिया गया है।

कवि का क्या परिचय है, कौन इनके गुरु थे आदि विषय अभी निर्भ्रान्त नही हैं। किन्तु फिर भी इन्होने रत्नाकर-शतक के पद्य १०८ मे गुरु की परिभाषा करते हुए बताया है कि 'दूसरे के सुख-दु ख-आनन्द को अपना मानने वाला, शरीर से अपने को पृथक् समझने वाला, परलोक को अपना देश कहने वाला, इस लोक का गुरु और उत्कृष्ट ज्ञानी है। वही मेरा भी गुरु है और वह ज्ञानी देवेन्द्रकीर्ति मुनीश्वर है।' इसमे अपने गुरु का नाम देवेन्द्रकीर्ति दिया है। इसी प्रकार अन्त मे 'श्रीमद्देवेन्द्रकीर्ति योगीश्वर-पादाम्भोजमृ गायमान-शृ गारकविराज-हंसराज विरचितमप्परत्नाकर सपाद शतक समाप्त अर्थात् देवेन्द्रकीर्ति योगीश्वर के चरण-कमलो मे भ्रमर के सदृश रहने वाले शृ गार कवि राजहस विरचित 'रत्नाकर सपादशतक समाप्त हो गया। इसमे भी यही बतलाया है कि शृ गार कवि राजहस के गुरु देवेन्द्रकीर्ति योगीश्वर थे। कही-कही इनके गुरु का नाम महेन्द्रकीर्ति मिलता है। किन्तु राजा-बलि कथा के अनुसार देवेन्द्रकीर्ति और महेन्द्रकीर्ति दोनो नाम एक ही व्यक्ति के थे।

कवि का जन्म कब हुआ, यह तो विदित नही हो पाया, किन्तु इतना निश्चित है कि वे १६वी शताब्दी मे हुए थे। ये सूर्यवंशी राजा देवराज के पुत्र थे। इनका जन्म तुलुदेश के मूडबिद्री मे हुआ था। वे अनेक विषयो के पारगामी विद्वान् थे।

ग्रन्थ का अनुवाद और टीकाकार आचार्य महाराज

इस ग्रन्थ का यह द्वितीय संस्करण है। इसका प्रथम संस्करण श्री स्याद्वाद प्रकाशन मंदिर आरा की ओर से प्रकाशित हुआ था। सुविधा की दृष्टि से पहले की तरह इस द्वितीय संस्करण को भी इसे दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रन्थ में कुल १२८ पद्य हैं, जिनमें से प्रथम भाग में ६३ पद्य दिये गये हैं और द्वितीय भाग में ६५ पद्य हैं।

प्रथम संस्करण में दोनों भागों की पृष्ठ संख्या २४०+२७१=५११ थी। किन्तु द्वितीय संस्करण में दोनों भागों की पृष्ठ संख्या ४१९+३१०=७२९ है अर्थात् प्रथम संस्करण से द्वितीय संस्करण में २१८ पृष्ठ अधिक दिये गये हैं। इसका कारण यह है कि पहले की अपेक्षा इस बार विषय को अधिक बोधगम्य बनाने के लिये उनका विशेष विवेचन किया गया है। आचार्यों की रचनाओं में से अनेकों उद्धरण देकर विषय को अधिक स्पष्ट किया गया है। इस संस्करण में भाषा, गैटअप, मेकअप आदि अन्त और बाह्य सौन्दर्य की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया है।

इस ग्रन्थ की हिन्दी टीका परम पूज्य आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषणजी महाराज ने की है। मूल ग्रन्थ कन्नड भाषा में है। आचार्य महाराज कन्नड, मराठी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती आदि अनेक भाषाओं के विद्वान् हैं, अनेक विषयों पर उनका अधिकारपूर्ण पाण्डित्य है। रत्नाकर शतक की हिन्दी टीका करते हुए उन्होंने अनेक शास्त्रों का आलोडन करके विविध विषयों का विशद विवेचन किया है। गम्भीर विषय को भी जितना सरल और सरस बनाया है, वह आपके ही उपयुक्त है।

आचार्य महाराज को स्वाध्याय का एक व्यसन सा है। जैन मुनि की आवश्यक क्रियाओं—सामायिक, आहार, प्रतिक्रमण आदि से अवशिष्ट समय में आप स्वाध्याय, ग्रन्थ-प्रणयन या ध्यान में ही निरत

रहते हैं। आप अपने एक-एक क्षण का ध्यान-अध्ययन मे जिस प्रकार सदुपयोग करते हैं, वह वास्तव मे हम ससारीजनों के लिये प्रेरणाप्रद है। जैन मुनि की चर्या और आचार-विचार बहुत कठिन है। चातुर्मास के अतिरिक्त शेष समय उन्हे विहार करते रहना पडता है। विहार करते समय ग्रन्थ-प्रणयन जैसा कार्य हो नही पाता। अत ग्रन्थ-प्रणयन और किसी विषय के गम्भीर अध्ययन का यदि कुछ सुयोग मिल सकता है, तो वह केवल चातुर्मास मे ही। वैसे तो चातुर्मास मे भी मुनियो का बहुत सा समय तो सामायिक, प्रतिक्रमण, आहार, प्रवचन, ध्यान, दर्शनार्थ आये व्यक्तियो को सबोधन, समय-समय पर होने वाले केशलुंचन आदि के आयोजन और विभिन्न धार्मिक समारोहो मे ही चला जाता है। ग्रन्थ रचना के लिये जिस गम्भीर अध्ययन, चिन्तन, मनन और अवकाश की आवश्यकता है, वह मुनियो को कठिनता से ही प्राप्त हो पाता है। उन मुनियो के लिये ऐसे महत्वपूर्ण कार्य के लिये समय निकाल लेना तो और भी कठिन है, जिनका जनता पर पर्याप्त प्रभाव है। किन्तु आचार्य देशभूषणजी इसके अपवाद हैं। वे जनता की श्रद्धा के केन्द्र हैं। जहाँ जाते हैं, जहाँ ठहरते हैं, जनता की श्रद्धा वहीं उमड पडती है और आचार्य महाराज के निकट जनता का मेला सा लग जाता है। उसमे ग्रन्थ-निर्माण के लिये समय निकालना कितना कठिन है, यह समझना कठिन नही है।

इस वर्ष आचार्य महाराज का चातुर्मास दिल्ली मे ला० लच्छूमल कागजी की धर्मशाला कूचा बुलाकीबेगम (दरीबाकला) मे हुआ। मुनि-धर्म के अनुकूल सभी आवश्यक क्रियाएँ चलती रहती थी, समय-समय पर धार्मिक आयोजन होते रहते थे। इन व्यस्तताओ मे भी आप स्वाध्याय और ग्रन्थ-प्रणयन के लिये पर्याप्त समय निकाल ही लेते थे। इस दिल्ली-चातुर्मास के अवसर पर आपके द्वारा अनूदित और सपादित रत्नाकर शतक प्रथम और द्वितीय भाग, णमोकारमत्र कल्प, उपदेश सारसग्रह छटा भाग, रयणसार, आदि कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं तथा धर्मामृत की विस्तृत

टीका का आपने प्रणयन किया है, जो प्रेस में भेजी गई है। थोड़े से समय में इतना विशाल साहित्य-सृजन का कार्य असाधारण है। यह साहित्य परिमाण की दृष्टि से तो विपुल है ही, गुण, सौष्ठव और गम्भीरता में भी बेजोड़ है। आज तक आचार्य महाराज की लगभग ४० रचनाएँ कन्नड, मराठी, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, इंगलिश में प्रकाशित हो चुकी हैं। मैंने निकट से देखा है कि महाराज को निरन्तर साहित्य-सृजन की अदम्य उत्कण्ठा और उत्साह है। इसके अतिरिक्त प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह, उनका सतत् अवलोकन, नानाविध धार्मिक प्रवृत्तियाँ आदि आचार्य महाराज की अपनी विशेषताएँ हैं। यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि साठ वर्ष की आयु, मुनि धर्म की कठोर मर्यादाएँ, आवश्यक चर्यायें, प्रभावशाली आचार्य होने के कारण दर्शनार्थियों की भीड़, आदि अनेक प्रकार की व्यस्तताओं और विवशताओं के बीच शोर-शराबे में एकाग्र होकर इतना विशाल और महान् साहित्य का निर्माण ये कैसे कर लेते हैं।

आचार्य महाराज की एक और भी विशेषता है, जिसके कारण सारा हिन्दी संसार उनका चिरऋणी रहेगा। वह है कन्नड भाषा के अमूल्य ग्रन्थ रत्नों का हिन्दी में रूपान्तर करके उनके सौष्ठव और रस से हिन्दी भाषियों को परितृप्त करना। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का जो महान् गौरव प्राप्त हुआ है, वह अपेक्षा करता है कि विविध भारतीय और भारतीयेतर श्रेष्ठ साहित्य को हिन्दी भाषा में अनूदित किया जाय। जो भी विद्वान् इस दिशा में प्रयत्न कर रहे हैं, उनके प्रति हिन्दी जगत् आभारी है और वह न केवल हिन्दी भाषा की ही सेवा है, बल्कि हिन्दी को समृद्ध करके वे लोग राष्ट्रभाषा के रूप में राष्ट्र की गौरवपूर्ण सेवा कर रहे हैं। आचार्य महाराज भी उन्हीं महान् व्यक्तियों में हैं। उन्होंने अब तक लगभग १६ कन्नड भाषा के ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद करके हिन्दी-साहित्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान किया है। इसे आचार्य [illegible] विशाल साहित्य का इस दृष्टि से भी समुचित मूल्यांकन

करना चाहिये।

आचार्य महाराज हिन्दी-सेवा के साथ-साथ जैनवाङ्मय की जो सेवा कर रहे हैं, वह तो विशेष उल्लेखनीय है ही। मुझे यह देखकर सन्तोष है कि महान् जैनाचार्यों ने अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता का उपयोग जैनवाङ्मय को समृद्ध करने मे किया और आचार्यों की उस परम्परा का निर्वाह आचार्य देशभूषणजी ने भी करके जिनवाणी माता को अर्घ्य-दान किया है। इससे भी अधिक सन्तोष इस बात का है कि लेखक के गौरव का आकलन उसके जीवन-काल मे ही हो, यह सौभाग्य कम ही लोगो को मिल पाता है। किन्तु आचार्य महाराज इस मामले मे भी पुण्यशाली हैं। उनकी रचनाओ का विद्वानो मे जो समादर आज भी है, वह उनकी सफलता का मापबिन्दु है।

आचार्य महाराज की प्रस्तुत रचना-रत्नाकर शतक का प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण) कुछ समय पूर्व प्रकाशित हो चुका है, दूसरा भाग यह प्रस्तुत है। मुझे आशा है, सर्वसाधारण और विद्वानो के लिये अन्य रचनाओ की तरह यह रचना भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

द्वितीय भाग के दाता

स्वनामधन्य साहू शान्तिप्रसादजी

रत्नाकरशतक जनता को इतना अधिक पसन्द आया कि इसका प्रथम सस्करण हाथोहाथ चला गया और शीघ्र समाप्त भी हो गया। किन्तु फिर भी जनता की माग जरा भी कम नही हुई। तब इसका द्वितीय सस्करण निकालने की योजना की गई। पूज्य आचार्य महाराज ६ वर्ष पश्चात् दिल्ली नगरी मे पुन पधारे और उनका चातुर्मास हुआ। जनता की माग को देखते हुए इसके प्रथम भाग को प्रकाशित करने के लिये ला० उग्रसैन...

उनकी धर्मनिष्ठा सौभाग्यवती धर्मपत्नी श्रीमती रमारानी जी जैन ने किया।

प्रस्तुत द्वितीय भाग के मुद्रण, कागज, बाईण्डिंग आदि का सम्पूर्ण व्यय श्रीमान् साहू जी और उनकी धर्मपत्नी ने किया है। आप दोनों ही अत्यन्त उदार, धर्म-प्रेमी और गुरु-भक्त हैं। आप जैन समाज के गौरव हैं। आपके हृदय में जैनधर्म का प्रसार करने की बड़ी भावना है, आपकी रुचि जैन तीर्थों के जीर्णोद्धार, प्राचीनकला और जैन पुरातत्व के संरक्षण में विशेष रूप से है, आप जैन साहित्य का प्रकाशन आकर्षक रूपसज्जा और विकसित संपादन कला के वर्तमान रूपों में चाहते हैं और इसके लिये न केवल दूसरों को आप अपना सक्रिय सहयोग ही देते हैं, अपितु आपने इसी उद्देश्य के लिये 'भारतीय ज्ञानपीठ' नाम से एक साहित्यिक संस्था की भी स्थापना की है और आज वह भारत की सर्वश्रेष्ठ प्रकाशन संस्थाओं में परिगणित की जाती है। साहित्यिक क्षेत्र में ज्ञानपीठ ने जो एक नया मानदण्ड स्थिर किया है, रुचि का जो परिष्कार किया है और आकर्षक बाह्य रूप सज्जा को जो दिशा दी है, उनके कारण ज्ञानपीठ प्रकाशन और संपादन के क्षेत्र में एक आदर्श बन गया है।

श्रीमान् साहू जी भारत के मूर्धन्य उद्योगपति हैं। भारत तथा विदेशों में आपके अनेक उद्योग चल रहे हैं। उनकी व्यवस्था और संचालन सम्बन्धी व्यस्तताएँ कुछ कम नहीं हैं, किन्तु फिर भी समय निकाल कर आप पूज्य आचार्य महाराज के दर्शनार्थ आते ही रहते हैं और धर्म-श्रवण कर शान्ति-लाभ करते हैं। मुझे व्यक्तिगत रूप से अनुभव है कि जैनधर्म के वास्तविक रूप को समझने-जानने की उनकी इच्छा बड़ी प्रबल है। वे धर्म के हर पहलू को तार्किक ढंग से समझना और उसे आत्मसात करना चाहते हैं। आचार्य महाराज द्वारा की गई इस धार्मिक प्रवृत्ति में अपना सहयोग देने में वे सन्तोष अनुभव करते हैं। वास्तव में आपकी गुरु-भक्ति सराहनीय है।
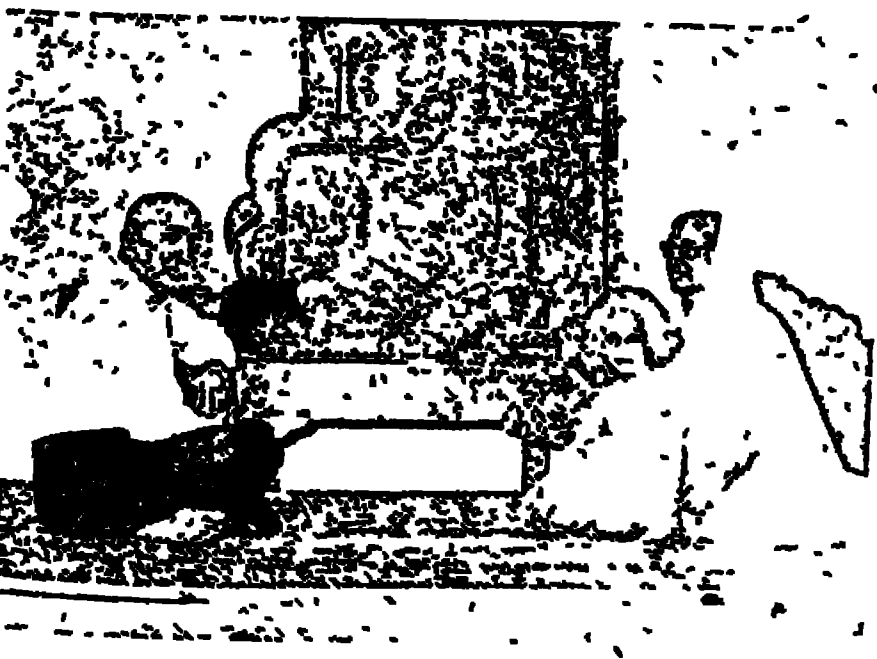
आचार्य देशभूषण जी से साहू शान्ति प्रसाद जी और उनकी धर्मपत्नी
सौ० रमारानी अपनी पौत्री के साथ धर्मोपदेश सुन रहे हैं।

आभार-प्रदर्शन

यद्यपि इस ग्रन्थ के प्रकाशन में कुछ कारणवश आवश्यकता से अधिक विलम्ब लग गया, किन्तु फिर भी यह जिस सजधज और सुन्दर रूप में प्रकाशित हो रहा है, इसका श्रेय नवचेतन प्रेस के प्रोप्राइटर बा० छोटेलाल जी को है। उनका मैं हृदय से आभारी हूं।

इनके अतिरिक्त जैन मित्र मण्डल के मन्त्री ला० महतावसिंह जी बी० ए० एल-एल० बी०, बा० आदीश्वर प्रसाद जी एम० ए०, ला० पन्नालाल जी (प्रकाशक दैनिक तेज), आचार्य महाराज के अनन्य चरणसेवक ला० रघुवरदयाल जी और बा० भगवानदास जी का भी मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनका कृपापूर्ण सहयोग और सौहार्द मुझे सदैव प्राप्त हुआ।

कूंचा बुलाकीबेगम,
दिल्ली
दिनांक-१० जनवरी '६४

बलभद्र जैन
(भूतपूर्व सम्पादक दैनिक सन्देश,
साप्ताहिक जैन सन्देश)

विषय-सूची

आचार्य देशभूषण जी महाराज साहू शान्ति प्रसाद जी को शुभाशीर्वाद देते हुए।

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

रत्नाकर शतक

द्वितीय भाग

आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषणजी विद्यालंकार द्वारा
व्याख्यात्मक भाषानुवाद

—:—

अनुवादकर्ता का मंगलाचरण

मोक्षाध्वसन्दर्शनतिग्मरश्मिम्
कामाद्रिविध्वंसन-वज्र-घोरम् ।
नमाम्यहं तद्गुणलब्धुकामो-
निरंजन धाम जिनेन्द्र-सत्तम् ॥१॥

या रत्नाकरवर्णिना शतपदी शैलाक्षिभूसम्मितैः
श्लोकैर्मंजु निगुम्फिता सुललिता कर्णाटकीभाषया ।
तां लोकोपचिकीर्षया सरलया हिन्द्या सतां सम्मुखं
व्याख्यास्येष हि देशभूषणमुनिर्नत्वा जिनेन्द्रप्रभुम् ॥२॥

रत्नाकरस्याद्भुततत्वकोषः
कर्णाटकीवाक्कलशे निगूढः ।
स चाद्य भाष्यार्थविजृम्भितेन
भव्यात्मलाभाय मयोदघाटि ॥३॥

अवबोधे न वंगिप्तुयं न्याय-काव्य-निघण्टुषु ।
प्रमादस्खलितं तस्मान्मर्षणीयं सुधीजनैः ॥४॥

सदाचारी श्रावक

धारापूर्वकमाद पेण्गळोळवर् प्रत्येकमेकैक प-
त्नि रागव्रतिकर् मदक्षय निमित्तं काममं तीर्चुवर् ॥
वारस्त्रीबहुलांगनापरवधूचेटी रतक्कादिलर् ।
सारात्मजिनदत्तमुख्यररवरे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥६४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

श्री जिनदत्त आदि सदाचारियों ने धर्मपूर्वक ग्रहण की हुई एक ही स्त्री के सहवास में सन्तोष प्राप्त करने का व्रत लिया था । उन लोगों ने कामरूपी शत्रु को शान्त करने के लिए एक ही स्त्री के साथ अपनी इच्छा की पूर्ति की । वेश्या, बहुपत्नी, परस्त्री और दासी के साथ संभोग करने में कभी उत्साहित नहीं हुए । जिनदत्तादि क्या कभी पापी कहे जायेंगे ?

विवेचन—यहाँ पर कवि ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि मनुष्य जन्म प्राप्त करने के बाद मनुष्य के अन्दर धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ मोक्ष मार्ग के साधनभूत न होंगे, तब तक गृहस्थाश्रम का सदुपयोग नहीं होगा क्योंकि संसार में गृहस्थ संसार के बन्धन में रहते हुए भी परलोक के साधन के लिए अपने गृहस्थ आश्रम को भगवान जिनेन्द्र देव के कहे अनुसार मर्यादापूर्वक रखता है । वह गृहस्थ अपने जीवन का, अपने शरीर का, धन का आत्म-कल्याण के साधन में सदुपयोग करता है । शास्त्रों में जितने श्रावकों का इतिहास देखने में आता है, उन्होंने अपने धर्म पर दृढ़ रह कर मनुष्य पर्याय को फलीभूत बना लिया ।

श्रावक धर्म

श्रावक धर्म अर्थात् श्रावक धर्म के कर्तव्य के बारे में एक कवि ने

बहुत सुन्दर कहा है कि—

त्रैकाल्ये जिनपूजनं प्रतिदिनं संघस्य सन्मानन ।
स्वाध्यायो गुरुसेवनं च विधिना दानं तथावश्यकम् ॥
शक्त्या च व्रतपालनं वरतपो ज्ञानस्य पाठस्तथा ।
सैष श्रावकपुंगवस्य कथितो धर्मो जिनेन्द्रागमे ॥

त्रिकाल अर्थात् प्रात काल, सायकाल और सन्ध्याकाल श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजन-अर्चा, नित्य पूजन, सायकाल को आरती, शास्त्र-अभ्यास, गुरु सेवा, विधि के अनुसार दान तथा आवश्यक प्रतिक्रमण आदि और शक्ति के अनुसार व्रत-पालन, उत्तम तप का शक्ति के अनुसार आचरण, भगवान तीर्थंकरो द्वारा कहे हुए शास्त्रो मे उत्तम श्रद्धा रखना इस तरह श्रेष्ठ श्रावको का धर्म कहा है । ऐसे ही गृहस्थ श्रावको का गृहस्थपना फलीभूत होता है ।

कर्तव्यनिष्ठ श्रावक

हस्ते दानविधिर्मनो जिनमते वाचः सदा सूनृते ।
प्राणाः सर्वजनोपकारकरणे वित्तानि चैत्योत्सवे ॥
येनैवं विनियोजितानि शतशो विश्वत्रयीमण्डनं ।
धन्यः कोऽपि स शिष्टपैकतिलकं काले कलौ श्रावकः ॥

हाथ से दान करने मे मन (हाथ से दान), श्री भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए धर्म मे मन लगाना, वाणी मे सत्य, सम्पूर्ण मनुष्यो पर दया-उपकार करने मे रत, भगवान् जिनेन्द्र देव के मन्दिर के उत्सव मे धन का व्यय इस प्रकार हमेशा करने वाला जो श्रावक ससार मे अपने कर्तव्य को समझ कर नित्य नियम से ये भावना रखता है, इस प्रकार सदाचार व्रत रखता है, वह श्रावक तीन लोक मे तिलक रूप श्रावक धर्म मे धन्य

माना जाता है ।

मोक्षाभिलाषी श्रावक का धर्म

कर्तव्या देवपूजा शुभगुरुवचनं नित्यमाकर्णनीयं ।
दानं देयं सुपात्रे प्रतिदिनममलं पालनीयं च शीलम् ॥
तप्यं शुद्धं स्वशक्त्या तप इह महती भावना भावनीया ।
श्राद्धानामेष धर्मो जिनपतिगदितः पूतनिर्वाणमार्गः ॥

नित्य देव-पूजा, शुभकारी गुरु वचन का श्रवण, सत्पात्र को प्रति दिन दान, निर्मल शील का पालन करना, अपनी शक्ति के अनुसार शुद्ध तप व आचरण करना इस प्रकार संसार में,शुभ भावना रखने वाले श्रावक का यह पवित्र मोक्ष मार्ग स्वरूप धर्म जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ।

पुण्यानुबन्धी श्रावक का लक्षण

सर्वज्ञार्चानुरक्तिर्विपुलतरधिया तीर्थयात्रानुरक्तिः ।
पापादाने विरक्तिर्मुनिवरचरणाराधनेऽगाधभक्तिः ॥
दानासक्तिः समग्रागृहविरतिरतिर्धर्मकर्मप्रसक्तिः ।
केषांचित् पुण्ययोगाद् भवति यदि परं प्राणिनां
प्राप्तिरेषा ॥

श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवान के पूजन में प्रेम, अत्यन्त उदार बुद्धि से तीर्थयात्रा में श्रद्धा, पाप-कर्मों से वैराग्य, मुनियों की चरण सेवा में अगाध भक्ति, दान में आसक्ति, समस्त मिथ्यात्व को दूर करने में सद्धर्म भावना, धर्म कार्य में आसक्ति ऐसे आचरण करने वाले श्रावक पुण्यानुबन्धी पुण्य प्राप्त करके अन्त में मोक्ष की प्राप्ति का साधन कर लेते हैं अर्थात् शीघ्र ही संसार-बन्धन से मुक्ति पाते हैं । श्रावक का यह धर्म आचार्यों ने बतलाया है ।

इस प्रकार कवि ने इस श्लोक में उत्तम श्रावक का धर्म बतलाते हुए उन श्रावको का वर्णन किया गया है । जिनदत्तादि श्रावक धर्मपूर्वक ग्रहण की हुई एक-एक स्त्री मे सन्तोष करके व्रत पालन करते थे। भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए धर्म मे कभी भी शका न करके पुण्य से प्राप्त किये हुए मानव पर्याय को विषय वासना मे रत न होकर धर्म मार्ग मे ज्यादा से ज्यादा लगाते थे।

साराश यह है कि वे गृहस्थ श्रावक विषय भोग के बीच मे रहते हुए भी तालाब मे जैसे पानी से भिन्न कमल रहता है उसी प्रकार रहकर विषय कषाय का बन्ध नही करते थे। ऐसे श्रावक ससार भोगकर अन्त मे मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधन बना लेते हैं। गृहस्थ अपने श्रावक धर्म को पालते हुए और विषय कषाय को कम करते हुए अष्टमी-चौदस पर्व तिथि के दिन मन्दिर या एकान्त मे जाकर रात्रि को प्रतिमा योग-धारण करते थे। इस समय उनके भाव केवल निष्परिग्रह भावना से आत्म-ध्यान में लीन रहते थे। जितने समय तक विषय-वासना का त्याग करते थे, उतना ही पुण्यानुबन्धी पुण्य के साथ कर्म की निर्जरा कर लेते थे। और मन-वचन-काय के द्वारा स्वस्त्री का त्याग करके अपने आत्मा में लीन रहते थे। महाव्रत की उपलब्धि करने के लिए अणुव्रतो का निरतिचार पालन करने का प्रयत्न करते थे। ऐसे उत्तम श्रावक ससार मे पवित्र माने जाते थे। उनका प्रभाव केवल मानव पर ही नही, पशु पर नहीं, परन्तु देवों तक पर पड़ता था। यह सभी धर्म के श्रद्धान का फल है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य व्रत के आगम में दो भेद किये गये है—ब्रह्मचर्य महाव्रत और ब्रह्मचर्य अणुव्रत। ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन तो तभी हो सकता है, जब पर विषयो की अनुसिमान का त्याग कर दिया जाय। पर विषयो की ओर थोड़ी प्रवृत्ति भी अब्रह्म है। जो आत्मज्ञानी है, जिन्होने अपनी बाह्य वृत्तियो का त्याग कर दिया है, और आत्मा के भीतर जो रमण करते है, उन्हे पर पदार्थों की तुच्छता का आभास हो

जाता है। उनकी आत्मप्रवृत्ति में किसी भी बाह्य निमित्त से क्षोभ नही होता है। सांसारिक विभूतियाँ उन्हें चलायमान नही कर सकती। आत्मा के सिवाय अन्य किसी भी पदार्थ में उनकी प्रवृत्ति नही होती है, जगत के सभी पदार्थ उन्हे तुच्छ प्रतीत होते हैं।

ब्रह्मचर्य महाव्रतधारी की दृष्टि में स्त्री हाड-मास का पुतला होती है, उसके मन में कोई भी विकार नहीं रहता है। आत्मा में अपूर्व ज्योति आ जाती है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का धारी समस्त इन्द्रिय और कषायो को जीत लेता है, उनकी इन्द्रिय विषयो में लालसा नही रहती है, समस्त पर पदार्थों से अनुराग छूट जाता है। उसे ज्ञायक आत्मा की प्रतीति हो जाती है।

जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नही कर सकते हैं, उन्हे ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्याणुव्रत का अभिप्राय यह है कि काम विकार को दूर करने के लिए स्त्री या पुरुष को शीलव्रत लेना चाहिए अर्थात् पुरुष को स्वदार सतोष और स्त्री को पतिव्रत ग्रहण करना चाहिये। जो व्यक्ति आजन्म केवल विकार को दूर करने के लिए ही स्वदार का उपयोग करता है, वह पवित्रात्मा जल्द ही निर्वाण प्राप्त करता है, अपनी कर्मराशि को थोड़े ही समय मे नाश कर परमपद को प्राप्त करता है। प्रथमानुयोग मे सती सीता और सेठ सुदर्शन आदि के ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनके ब्रह्मचर्याणुव्रत के प्रभाव से अग्नि शीतल और जल का सरोवर बन गयी थी, बड़ी-से-बड़ी विपत्ति भी टल गयी और व्रत के प्रभाव से सर्वत्र कीर्ति छा गयी। जो व्यक्ति एकदेश ब्रह्मचर्य का निरतिचार पालन करता है, ब्रह्मचर्य को दृढ करने वाली भावनाओ का चिन्तन करता है, वह धन्य है।

इन ससार मे कचन और कामिनी ये दो ही पदार्थ प्रधानत आसक्ति के कारण हैं। जो व्यक्ति इन दोनो को शक्ति के अनुसार छोड़ता है उसमें अपूर्व शक्ति आ जाती है। आत्मा की आच्छादित अनन्त शक्तियाँ उद्बुद्ध हो जाती हैं। जिन लोगों की दुष्प्रवृत्ति रहती है, उनका विवेक

नप्ट हो जाता है, वे निन्द्य विपय भोगो मे आसक्त हो अन्धे हो जाते हैं, अन्याय करते हैं तथा स्वच्छद विहारी हो जीवन-भर पाप-पक मे फसे रहते हैं। इस कामदेव—विपय-वासना—के अनेक नाम है। वे सव सार्थक है। यह आत्मा मे गर्व उत्पन्न करता है, इसलिए इसे कदर्प कहते है। विपयो मे नाना प्रकार की अभिलाषाएँ उत्पन्न करने के कारण इसे काम, नाना योनियो मे भ्रमण कराता है तथा प्राणियो को विपयो के लिए लडाता रहता है, इसलिए मार और सवर का घातक होने के कारण सवरारि कहते है। ब्रह्मचर्य के बिना समस्त व्रत, तप, जप व्यर्थ है। कायक्लेश सहन करना, उपवास आदि करना ब्रह्मचर्य के अभाव मे निष्फल हैं। स्पर्शन इन्द्रिय के विषयो से विरक्त होने पर ही आत्मस्वरूप की उज्वलता दिखलायी पडती है। ब्रह्मचर्य के पालन करने के लिए नृत्य, गान और गरिष्ठ भोजन का त्याग करना परमावश्यक है। मादक पदार्थों का सेवन भी ब्रह्मचर्य मे बाधक है। ब्रह्मचारी को शारीरिक श्रृगार करना, इन्द्रियो की लम्पटता को वढाने वाले पदार्थों का सेवन करना विल्कुल वर्ज्य है। एकदेश ब्रह्मचर्य के धारी मे भी अद्भुत आत्मशक्ति आ जाती है। उसका स्वास्थ्य सदा अच्छा रहता है। रोग उसके ऊपर आक्रमण नही कर पाते है। वह जितेन्द्रिय वन कर अपने चंचल मन को वश मे करता है तथा अपना उत्तरोत्तर विकास करता हुआ चला जाता है।

भोग बुरा है

सत्याधिष्ठितधर्ममं तिळिदु जीवं तन्ननी कामव-
प्रत्याख्यान कषायसंभवदे सुत्तित्तॆंदु पॆण्गूडियुं ॥
रत्यंतोद्भव हेयमं नॆनॆयुतं पोगल्जयं पॆण्गॆ ता-
नत्यंत प्रियवद्धनागॆ किडनॆ ? रत्नाकराधीश्वरा! ॥६५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जीवात्मा ने यथार्थ धर्म को न जान कर "क्रोध, मान, माया, लोभ

जैसे कषाय के प्रादुर्भाव से स्त्री-सम्भोग मे अपने को लिप्त कर रखा है, किन्तु रति-सुख का अनुभव करने पर भी सम्भोग के अन्त मे जो घृणा उत्पन्न होती है उसका स्मरण करते रहने से विषयोपभोग की कामना पर विजय प्राप्त की जा सकती है। स्त्रियो मे अधिक आसक्त होने से क्या मनुष्य नाश को प्राप्त नही होगा ?

विवेचन—औषध के समान गृहस्थ को विषयो का सेवन करना चाहिए। अधिक विषयो को भोगने से व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक नाना प्रकार की व्याधियां हो जाती हैं, जिससे उसका जीवन कष्टमय बीतता है। यदि कोई भी व्यक्ति विचार कर देखे तो उसे विषय भोगो की असारता अपने आप अनुभव मे आ जायगी। भोगो को भोगने के पश्चात् एक विचित्र प्रकार की घृणा और अरुचि उत्पन्न होती है, जिससे उनकी सारहीनता प्रत्यक्ष हो जाती है। जो व्यक्ति ससार के भोगो मे अधिक आसक्त रहता है, उसका सब प्रकार से विनाश अवश्यम्भावी है। इन्द्रिय-जय के समान ससार मे कोई भी सुखदायक नहीं है। विषयो को छोडने के लिए तथा ब्रह्मचर्य के पालन के लिए निम्न दस प्रकार के अब्रह्म का त्यागना आवश्यक है। ये आत्मा मे हिंसा भाव उत्पन्न करते हैं, पर-द्रव्यों की ओर लगाते हैं।

१—विषयाभिलाषा—शृंगार रस का श्रवण, मनन करना, सुन्दर गीत सुनना, सुगधित द्रव्यो के सूघने की अभिलाषा करना, रूपवती स्त्री तथा पुरुषो को देखने की लालसा मन में करना, विषय-अभिलाषा नामक अब्रह्म है। इनसे आत्मा मे अत्यन्त आकुलता उत्पन्न होती है। कोई भी व्यक्ति इस अभिलाषा के कारण हेयोपादेय के विवेक से शून्य हो जाता है। उसका विषयी मन विषयों मे घूमता रहता है, अपने और पर के विचारने के लिए उसे अवसर नही मिलता।

२—विकारी बनना—विषयाभिलाषा के उत्पन्न होने पर विकार-युक्त होना तथा उन विकारो को शात करने का प्रयत्न करना। इस दूसरी अवस्था मे विषयेच्छा के तृप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

३—वृष्याहार सेवन—समस्त इन्द्रियो को जीतने का एकमात्र साधन रसनेन्द्रिय को वश मे करना है। यदि व्यक्ति अपना आहार-विहार शुद्ध कर ले तो फिर इन्द्रियों को जीतना कुछ भी कठिन नही। भोजन का प्रभाव मन पर अवश्य पडता है। जैसा अनाज मनुष्य खाता है, वैसा ही उसका मन हो जाता है। शुद्ध और सात्विक भोजन करने वाले के मन मे विकार कभी उत्पन्न नही हो सकता। गरिष्ठ और पौष्टिक भोजन जो विलम्ब से पचता है, विकार उत्पन्न करने मे बहुत सहायक होता है। वास्तविक बात यह है कि भोजन का ध्येय शरीर को कायम रखना है। जिससे इस शरीर द्वारा धर्म का अर्जन होता रहे। ब्रह्मचारी की शारी-रिक शक्ति का क्षय नही होता, उसका शरीर ऐसा बना रहता है, जिससे अल्प और सादा भोजन से ही शरीर की आवश्यकता पूरी हो जाती है। अत दुष्पक्व भोजनो तथा रसो की लोलुपता का त्याग करना आवश्यक है।

४—ससक्त द्रव्य सेवन—भोगी पुरुषो द्वारा उपयोग मे लाये हुए वस्त्र, शय्या, आसन आदि पदार्थों का त्याग करना ससक्त द्रव्य सेवन त्याग है। इन पदार्थों से मन मे विकार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है तथा इनके सम्बन्ध मे मन विषयो की ओर जा सकता है।

५—इद्रियावलोकन—रागभाव से अपनी तथा पर की इद्रियो को देखने का त्याग करना भी आवश्यक है।

६—सत्कार—रागी व्यक्तियो का सत्कार करना तथा उनके सम्पर्क मे रहना महान् अनर्थ की जड है। इनके सत्कार से मन मे राग-बुद्धि उत्पन्न हुए बिना नही रह सकती है। इनका प्रभाव मन पर अवश्य पडता है, अत इनसे सदा दूर रहना चाहिए।

७—शारीरिक सस्कार—शरीर को सजाने का त्याग करना आव-श्यक है। शरीर के सजाने से राग-भाव उत्पन्न हुए बिना नही रह सकता है। रागभाव ही विकारो की उत्पत्ति करता है, जिससे यह आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है।

८—अतीत स्मरण—भोगे हुए भोगो का स्मरण नही करना। भोगो के स्मरण से मन मे विकार उत्पन्न होते हैं।

९—अनागताभिलाषा—आगामी काल के लिए भोगो की अभिलाषा नहीं करना तथा मन मे आगे के भोगो के लिए विचार न करना।

१०—इष्ट विषय सेवन—अनियन्त्रित आचरण का त्याग करना।

विषय का त्याग तरुण अवस्था मे करना योग्य है

मोलेयु मुद्दमोगं बेडंगेसेये पेण्णंतिर्दळितिर्दळें ।
दोलवि भाविसि काण्बुदे नरकमब्धप्रांतमग्नाद्रियोळ् ॥
सलिलं तन्नुडे मुट्टितोर्पनदे पल्यंकासनं स्फाटिको-
ज्ज्वनेंदागळेनिम्म कंदोडेसुखं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥६६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

स्तन, चमकते हुए सुन्दर कमल के समान मुख का सदा स्मरण करने से, अमुक स्त्री ऐसी थी, वैसी थी, इत्यादि कामुकतापूर्ण बातें करने से निश्चय ही नरक होगा। इसके विपरीत, "पद्मासनवाला, स्फटिकमणि के समान चमकने वाला स्वामी समुद्र के निकट डूबे हुए पर्वत मे रहकर अपनी कमर पर हाथ रख कर पानी की ओर सकेत करता है," ऐसा ध्यान करने वाला सुखी होगा।

यहाँ बतलाया है कि विषय-सुख का त्याग किये बिना आत्म सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। कहा भी है कि—

अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम् ।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे ॥

जिनका विवाह होना निश्चित हो गया, तो भी विवाह न करके जो बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचारी बन गये उनके लिए हमारा नमस्कार है। केवल ब्रह्मचारी ही नहीं बने किन्तु वंशपरंपरागत लक्ष्मी तथा राज्य

सपदा को पाकर भी उसे विना भोगे जिन्होने छोड दिया और दीक्षा धारण कर ली। किसी चीज को भोगने का अधिकार पाकर या भोगने के लिए सामने आ जाने पर यद्यपि न भोग कर ही छोड दिया तो भी वह चीज उच्छिष्ट या जूठन मान ली जाती है। क्योकि, कोई चीज चाहे भोग लें पर वाकी रह जाय और न भोग कर ही छोड दिया जाय पर उसे भोगने से वाकी रही हुई तो कहना ही पडेगा। वस, वाकी रहे हुए का नाम उच्छिष्ट है। उत् नाम बाकी, शिष्ट नाम छूट गया। इन्ही दोनो शब्दो के मिलाने से उच्छिष्ट बन जाता है। इसीलिए जो चीज न भोग कर भी छोड दी गई हो वह उच्छिष्ट हो गई समझना चाहिए। जिसने उसे पाकर छोड दिया, उसके लिए वह उपभुक्त भी हो ही चुकी। इसलिए उन ब्रह्मचारियो ने चाहे जग की विभूति को न भोग कर ही छोड दिया, पर वह विभूति, वह जग उनका उपभुक्त हो चुका। जग की रीति की तरफ देखें तो जो भोग लिया हो उसे उपभुक्त कहते है और जो भोगते-भोगते वाकी रह जाय उसे उच्छिष्ट कहते है। पर उन्होने भोगा ही नही तो भी जग भर उपभुक्त हो गया और छूट गया इसलिए उच्छिष्ट भी हो गया, यह आश्चर्य की सी बात है। और सच्चा आश्चर्य यह है कि बिना भोगे हुए पाई हुई सम्पदा को तृणवत् समझ कर उन्होने त्याग कैसे किया ? भोग सम्पदा न मिलते हुए भी जीव जहाँ कि शतश. मनोराज्य बनाता रहता है और विषयो से लालसा छूट नही पाती, यो करूँगा तव ये सुख मिलेंगे, ऐसा उद्योग करूँगा तव ऐसी धन-दौलत मिलेगी, ऐसी मानसिक भावना सदा ही इस जीव के अन्तरंग मे लहलहाती रहती है, और चाहे मिले रत्ती भर भी नही, वहाँ पाकर भी अतुल सम्पत्ति को छोड जाना और आत्मा के समाधि सुख मे जाकर रत होना कितने आश्चर्य की बात है ? उनके इस त्याग पर से यही कहना पडता है कि वे परम विरक्त हो चुके थे। इसीलिए उन्होने उस सारी सपदा को तिनके की तरह तुच्छ मान कर छोड दिया और असली आत्म-सुख के रसिया वने। ऐसे सर्वोत्कृष्ट साधुओ को सिर झुकाये विना

नहीं रहा जाता। उनको बार-बार हमारा नमस्कार हो।

युवावस्था के मद से मतवाले होकर जो विषय भोगों में सुख मानते हैं, कामुकतापूर्ण बातें कह कर जो अपना मन बहलाते है, विकथाएं करने में जिन्हे आनन्द आता है, सयम से जो बिल्कुल दूर हैं ऐसे प्राणियों को जीवन भर दु ख उठाना पडता है तथा मरने के पश्चात् नरक मिलता है। जिनका ध्यान अखण्ड आत्मा की ओर रहता है, ससार के विषय उनके ऊपर अपना प्रभाव नही डालते हैं। इस दुर्लभ मनुष्य शरीर को प्राप्त कर कल्याण-मार्ग मे न लगाना बडी भारी मूर्खता है। आत्मा मे अनन्त वीर्य-शक्ति वर्तमान है, इसका प्रादुर्भाव पुरुषार्थ के द्वारा किया जा सकता है। यह शक्ति सर्वथा आच्छादित नहीं है, केवल सामान्य हल्का पर्दा पडा है, इसे हटाने मे कोई कठिनाई नही। यह आत्मा स्वभाव से ब्रह्मस्वरूप है, राग भाव इसका अपना गुण नही है, यह पर निमित्त से उत्पन्न हुआ है। श्री आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार मे जो शुद्धात्मा का सामान्य और विशेष रूप से वर्णन किया है, उसका निरन्तर चिन्तन और स्मरण करने से सासारिक भोग-लालसा दूर हुए विना नही रह सकती। आचार्य कहते हैं—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥
पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झभावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥

जो कर्म के उदय के रस से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भाव है, वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, आत्मा प्रत्यक्ष अनुभवगोचर टकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव है। इस प्रकार समस्त कर्मजन्य भावों को पर समझना तथा अपने को ज्ञाता, दृष्टा जानना सामान्य रूप से आत्मा की प्रतीति करना है। इस प्रकार जो अपना अनुभव करता है उसकी राग-

रूप परिणति कभी होती नही है, उसकी दृष्टि बाह्य पदार्थों की ओर जाती ही नही है।

निश्चय से राग पुद्गल कर्म है, इस पुद्गल कर्म के उदय के विपाक से उत्पन्न प्रत्यक्ष अनुभवगोचर राग-रूप भाव यह आत्मा का स्वभाव नही है, आत्मा टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव रूप है। यही ज्ञायक स्वभाव मेरा है, ब्रह्मचर्य मेरा धर्म है, विषयो की प्रवृत्ति से मेरा कोई सम्बन्ध नही। यह प्रवृत्ति पर से उत्पन्न है, अत. पर का ही धर्म है। आत्मा सामान्य और विशेष दोनो ही दृष्टियो से पर पदार्थों से भिन्न टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव रूप है। जो इस आत्मा को अच्छी तरह जान लेता है, वह पर भाव को त्याग कर अपने स्वभाव मे प्रवृत्त हो जाता है। कर्म के उदय से उत्पन्न राग भाव, जिसके कारण इस जीव की विषयो मे प्रवृत्ति होती है, त्याज्य है।

आचार्यों ने सम्यग्दर्शन को इसलिए आवश्यक बताया है कि इसके बिना जीव अपने स्वरूप को नही पहचानता है। ससार के धन, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदि पदार्थों से सम्यग्दृष्टि को मोह नही रहता है, परद्रव्यो से मोह भाव उसे उत्पन्न नही होता। यद्यपि चारित्रमोहनीय का उदय उसके वर्तमान है, जिससे परिणामो मे कभी-कभी मलिनता उत्पन्न हो जाती है, पर यह स्थिर नही रहती। यह दूसरे क्षण अपने आत्म-स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है तथा शुद्धात्मा का अनुभव करने लगता है। सम्यग्दृष्टि का सामान्य ज्ञान भी विवेक के रूप मे परिणत हो जाता है, जिससे विषय कषायजन्य भावो को वह पर समझता है। उसकी दृष्टि मे स्त्री मे रागजन्य आकर्षण नही रहता, असयम-इन्द्रियो की विषयो मे उद्यम-प्रवृत्ति त्याज्य होती है। कामिनी का मोहक रूप उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है, केवल उसका ससार मे भ्रमण कराने वाला वीभत्स रूप ही दिखलायी पडता है। यह विषय-सुखो को त्याज्य समझ कर आनन्द का अनुभव करता है।

अनुभव भी बतलाता है कि जब तक मनुष्य की दृष्टि मे राग-भाव

रहेगा, विपयो मे प्रवृत्ति अवश्य होगी। विषय-प्रवृत्ति ससारी जीव का सहज विकार है, इसे दूर करने के लिए राग-प्रवृत्ति का छोडना आवश्यक है। मनुष्य रागवश ही तो पदार्थों मे इष्टानिष्ट की कल्पना करता है, राग के दूर होते ही ससार के पदार्थों मे ममत्व बुद्धि दूर हो जाती है।

मोह की महिमा

पेररं पेळ्दोडे नोवराननगे पेळ्वें कामिनीमूत्र दो-
ज्जरमेय्यं लतेयेंदु मांसकुचमं हेमाब्जमेंदेंदु ने-॥
त्तरनुंडा तुटिय सुधारुचियेनुत्तां बिळ्दुदुं सालदन्यर-
नोय्दें कवियो ? बलं कपियोनां ? रत्नाकराधीश्वरा !
॥ ६७ ॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

यदि दूसरे को उपदेश दिया जाय तो सम्भव है वह दुःख मान ले। इसलिए मैं अपने लिए कहता हूँ, कामुक स्त्रियो के मल-मूत्र के प्रवाह से मिले हुए उनके शरीर को लता से, मास से भरे हुए स्तन को सोने के कलश से तथा खून से भरे हुए ओष्ठो को अमृत-तुल्य मिठास से उपमा देते हुए मैं वासना मे पडा रहा। फिर भी जब इच्छा की पूर्ति न हुई तो दूसरों को भी घसीट ले गया। निश्चय ही मेरा यह पशुवत् व्यवहार है।

इस ससार मे मोह की महिमा महान है, मोह के कारण जीव पर पदार्थों को अपना समझता है। जब शरीर भी इस जीव का अपना नही है, पर है तब अन्य पदार्थों की बात ही क्या ? अन्य पदार्थ धन-धान्य स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब आदि तो इससे बिल्कुल भिन्न है। मोह के प्रबल उदय के कारण ही इस जीव को स्त्री के अगोपागो मे सुन्दरता एव सुख प्रतीत होता है। यदि स्त्री के शरीर को आच्छादित करने वाले चमडे के पर्दे को हटा दिया जाय, तो स्त्री का शरीर अत्यन्त घृणित प्रतीत होगा, इसमे

थोडा भी आकर्षण नही दिखलायी पडेगा। वास्तविक रूप के दर्शन होने पर एक क्षण भी वहाँ ठहरने का मन नही होगा। मोह के प्रबल वेग के कारण ही मनुष्य के मन में विकार और वासनाओ की जाग्रति होती है, इसी से वह हाड-मास से निर्मित घृणित स्त्री के शरीर से स्नेह करता है।

आचार्यो ने मनुष्य की प्रवृत्तियो का विश्लेपण करते हुए वताया है कि प्रधानत मनुष्य मे दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं—स्वाभाविक और वैभाविक। स्वाभाविक प्रवृत्तियो मे प्रत्येक व्यक्ति के भीतर ज्ञान की मात्रा रहती है तथा वह व्रत, समिति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र की ओर बढता है। अनात्मा की ओर ले जाने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय तथा प्रमाद, जिनके कारण इस जीव की वैभाविक प्रवृत्ति होती है, छोड देता है। शरीर को केवल धर्म-साधन मे सहायक समझ कर उसको पुष्ट करने वाली प्रवृत्तियो से वह दूर हट जाता है। वह ससार के यथार्थ स्वरूप को सोचता है कि इसमे कितना दु ख है, कोई किसी का नही। जीव अकेला ही अपने पुण्य-पाप के उदय से उत्पन्न सुख दु ख को भोगने वाला है। इसके कर्मो मे किसी का साझा नही है, और न कोई किसी का सहायक ही है। भ्रमवश भले ही कोई किसी को अपना सहायक समझता रहे, पर वास्तव मे इस जीव को समय आने पर, अन्य पदार्थो की तो वात ही क्या, यह शरीर भी सहायता नही कर सकता है। जव मृत्यु आती है तो कोई नही वचा सकता है। शारीरिक और मानसिक विपत्तियो के आने पर इस जीव को कोई भी सहायता नही पहुँचा सकता है। इस प्रकार ससार की सहायता और असारता का चिन्तन कर स्वाभाविक प्रवृत्ति वाली आत्मा और शरीर के भिन्नत्त्व का अनुभव करता है, सासारिक कष्टो को अपनी आत्मा से भिन्न समझ कर आत्म-स्वरूप मे स्थित होता है। यह रत्नत्रय को प्राप्त कर लेता है, इसकी प्रत्येक क्रिया रत्नत्रय को पुष्ट करने वाली होती है।

वैभाविक प्रवृत्ति वाला मनुप्य शरीर को ही आत्मा समझ लेता है, जिससे उसका प्रत्येक व्यवहार शरीराश्रित होने के कारण आत्मा के

स्वभाव से विपरीत पडता है। जो व्यक्ति शरीर को अपना समझता है, उसे प्रत्येक क्षण दु ख का अनुभव होता है। दुनिया के भौतिक पदार्थों का सम्बन्ध शरीर के साथ है, आत्मा के साथ नही। वासना और कषायें उसके ही मन को आलोडित अधिक करती हैं, जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं। खाना-पीना और आनन्द से रहना, यही जीवन का लक्ष्य नही, इतना ध्येय मानना तो वहुत ही निकृष्ट है। अत. प्रत्येक व्यक्ति को सयमी होना चाहिए। इन्द्रियो को जीतना तथा प्रत्येक कार्य में अहिंसक वनना यह मानवता के लिए आवश्यक गुण है। ऐश्वर्य पाकर मदोन्मत्त हो जाना तथा स्वार्थ के सकुचित दायरे मे वंध कर अपने को ही देखना, दूसरों को तुच्छ समझना, धर्म-कर्म का कुछ भी ख्याल नही करना, मानवता नही पशुता है। कुशील की प्रवृत्ति पशु-प्रवृत्ति है, मनुष्य का स्वाभाविक गुश शील है अत उसे शील का सर्वदा आचरण करना चाहिए। शील ही भीतर की छिपी हुई शक्तियो का विकास करता है, यही मनुष्य को देवता वनाता है। अत इस गुण की अवहेलना करना नितान्त अनुचित है।

जो व्यक्ति शील व्रत का पालन करते है, उनकी पाशविक प्रवृत्तियाँ छूट जाती हैं तथा वे ससार, शरीर और आत्मा की वास्तविक स्थिति समझ जाते हैं। सम्यग्ज्ञान का उदय उनकी आत्मा में हो जाता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन के उत्पन्न हो जाने से ही आत्मिक विश्वास उन्हें हो जाता है, फिर भी कदाचित् उत्पन्न होने वाला क्षणिक मोह जव उन्हें विचलित करता है तव वे सद्विवेक द्वारा अपने मन को स्थिर करते हैं। ब्रह्मचर्य या शील एक ऐसा ही गुण है जिसने प्रत्येक व्यक्ति अपने को समझ सकता है तथा अपना उद्धार कर सकता है।

पुण्य पुरुषों की कथा

गुरुमातापितरं पतिव्रतेयरं सम्यक्त्वसंपन्नरं।
र्पिरिदु वण्णिसि पेळ्गे तीर्थंककथाश्रृंगारमं पेळ्गेमेण्॥

दुरितस्त्रीयर नात्मबाह्यनरदें पेळ्वर्दिनं सज्गदं-
तिरेयंधंगेतम्मि स्रेयं नुडिवरे ? रत्नाकराधीश्वरा! ॥६८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

गुरुजन, माता-पिता, पतिव्रता और सम्यग्दृष्टि को ही अधिक-से-अधिक उपमा देकर विशेष रूप से वर्णन करना उचित है। तीर्थंकर की कथा मे आने वाले सत्शृगार का भी वर्णन किया जा सकता है। विषयी और आत्म-तत्त्व नही जानने वालो का वर्णन करके क्या लाभ होगा ? स्वर्ग के समान यदि उज्ज्वल दिन हो तो अन्धे उसे रात ही कहते हैं। अज्ञानियो को उचित है कि वे पुण्य पुरुषो की कथा को छोड कर पापियो की कथा कभी न कहे।

मनुष्य की भावनाओ के निर्माण मे वचनो का वडा हाथ रहता है। कोई भी व्यक्ति जिस प्रकार की वातचीत करता है, उसके मन मे भी वैसी ही पवित्र या अपवित्र भावनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। गन्दे विचार वाले व्यक्ति के मन मे पवित्र भावनाओ का उत्पन्न होना सम्भव नही, अतएव प्रत्येक व्यक्ति को सदा गुणवान महान पुरुषो के चरित्रो का ही वर्णन करना आवश्यक है। त्रेसठ शलाका पुरुषो के चरित्र का वर्णन करने से आत्मा मे महान गुण उत्पन्न होते हैं। पुण्य पुरुषो के चरित्र का मनन, चिन्तन और अध्ययन करने से प्रत्येक व्यक्ति को अपने उद्धार मे वडी भारी सहायता मिलती है, क्योकि सामान्य व्यक्ति की प्रवृत्ति उदाहरण सामने रखने पर ही सन्मार्ग की ओर हो सकती है। शास्त्रकारो ने विक-थाओ—स्त्री कथा, राजकथा, भोजन कथा और राष्ट्रकथा की चर्चा का इसलिए निषेध किया है कि इनकी चर्चा कुमार्ग की प्रेरणा देती है। पुण्य पुरुषो के जीवन-चरित्र से व्यक्ति को जीवन-निर्माण मे वडी भारी सहायता मिलती है। इनके जीवन मे कैसी-कैसी कठिनाइयाँ उपस्थित हुई तथा अनेक सकटो के आने पर भी ये धार्मिक मार्ग से विचलित नही

हुए, जीवन के अन्तिम क्षण तक भी अपने कर्त्तव्य-कार्य मे रत रहे, उन्हें सासारिक प्रलोभन अपनी ओर आकृष्ट नही कर सके, आदि बातें महान पुरुषो के जीवन से सीखी जा सकती हैं। इनका जीवन अनुकरणीय होता है।

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि पुण्यात्माओ के चरित्र-वर्णन के प्रसग मे यदि शृगार का वर्णन भी आ जाता है तो भी वह शृगार व्यक्ति को त्याग की ओर ही ले जाने वाला होता है, क्योंकि महापुरुषों का अपने जीवन मे शृगार की ओर आकर्षण ही नही रहता है, उनका शृगार भी विराग का प्रतिरूप रहता है। वह हृदय मे विराग उत्पन्न करता है। शृगार केवल वस्तु के स्वरूप का निरूपण करने के लिए निमित्तमात्र से आता है तथा इस शृगार द्वारा भी भोगो का वीभत्स रूप ही सामने लाया जाता है। महापुरुषो ने अपने अनुभव द्वारा इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि मानव-जीवन की सार्थकता ससार के मनमोहक पदार्थों के आकर्षण को त्यागने में ही है। इन पदार्थों का आत्मा से कोई सम्बन्ध नही है, आत्मा इनसे बिल्कुल भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है। इसका उत्थान करना तथा इसकी आच्छादित शक्तियों का उद्‌घाटन करना ही इस मानव-जीवन का ध्येय है। अनादि-काल से ससार में यह प्राणी अज्ञान और मोह के कारण भ्रमण कर रहा है।

इद्रिय-भोग असयमी जीव को प्रिय मालूम होते हैं, पर सयमी व्यक्ति को उनमे रस नही मिलता, आनन्द नही आता, वे इनको देखकर उदासीन वृत्ति धारण कर लेते हैं। उनकी अन्तरात्मा संयम के महत्त्व को अच्छी तरह जान लेती है, अत इद्रियों पर वह नियन्त्रण करते हैं। महा-पुरुषो के जीवन की सबसे बडी महत्ता जो उनको आगे बढाती है, वह है—विवेक और इद्रिय नियन्त्रण की। आत्मिक दृढ विश्वास-सम्यग्दर्शन तो पूर्ण रूप से इनमे वर्तमान रहता है, जिसमे इन्हें माया और मिथ्यात्व भुलावा नहीं दे सकते हैं। इन दोनो के कारण ही इद्रियो के विषय रगीन

और प्रिय लगते है, जिससे मनुष्य राग-रग, शृंगार, गीत-नृत्य, आमोद-प्रमोद आदि मे बराबर भाग लेता रहता है। पर मिथ्यात्व और माया के निकल जाने पर कषायों का उपशम हो जाता है, असद्वृत्तियाँ सद्-वृत्तियो के रूप मे परिणत हो जाती हैं, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपना पथ सूझने लगता है। पुण्य पुरुषो की कथा मे पुण्य कार्यों का वर्णन ऐसा रहता है, जिसमे पापमय कार्यो से मनुष्य को विरक्ति अवश्य हो जाती है। तीर्थंकर या मोक्षगामी पुरुषो के चरित्र से कर्मशत्रुओ के साथ लडने की प्रेरणा प्राप्त होती है तथा पुण्य और पाप दोनो ही को पुद्गल का विपाक समझ कर स्वात्मानुभव करने की शक्ति जाग्रत होती है। अत. पुण्यात्माओ के चरित्र को कहना और सुनना श्रेयस्कर है।

पुण्यात्माओ का चरित्र पढने से पुण्य का बन्ध होता है और अशुभ कर्म टल जाता है। महावीर भगवान् जैसे वीर पुरुषो को जन्म देने वाली उन स्त्रियो की कथा बन्ध करने वाली नही है। जैसे कहा भी है कि—

साध्वी शीलवती दया वसुमती दाक्षिण्य लज्जावती।
तन्वी पापपराङ्मुखी स्मितमति मुग्धा प्रियालापिनी॥
देवे सद्गुरुबंधुसज्जनरता यस्यास्ति भार्या गृहे।
तस्यार्थागमकाममोक्षफलदाः कुर्वन्ति पुण्याप्रिया॥

हे प्राणियो! भगवान महावीर जैसे सुयोग्य पुत्र को जन्म देने वाली माता के समान स्त्री रत्न का निर्माण करना भी परमावश्यक है, क्योकि वेदो तथा शास्त्रो मे भी ऐसे स्त्री-रत्न की ही प्रशसा की गई है, अन्य की नही।

स्त्रियो के अन्दर स्वाभाविक शील, दया, लक्ष्मी के समान घर को सुशोभित करने वाली, लज्जावती, कोमलागी यानी दुबली-पतली, पाप से डरने वाली, प्रसन्न मुखी, मधुर भाषिणी देवी, गुरु शास्त्र माता-पिता

एवं धर्मात्मा सत्पुरुषो की सेवा मे रत रहने वाली परोपकारी, सभी के साथ प्रेम प्रकट करने वाली, अनेक गुणो से सुशोभित स्त्रियो को ही रत्न की उपमा दी गई है। ऐसी स्त्री-रत्न ही श्रेष्ठ मानव बनने योग्य पुत्र-रत्न को जन्म देने वाली सुयोग्य माता कहलाती है। पर अयोग्य हजारो पुत्रो को जन्म देकर आजकल की मातायें यथार्थ माता नही हो सकती। जैसे कि द्रोपदी, सीता, अनन्तमती, प्रभावती, रेवती रानी, अहिल्या, राजमती आदि और तीर्थंकरो को जन्म देने वाली तीर्थंकरो की माता, महान बलशाली भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव जैसे महान पुरुषो को जन्म देने वाली मातायें ऐसी पुण्यशाली माताओ के इतिहास का कथन करने से क्या पाप का बन्ध हो सकता है अर्थात् नही हो सकता है। इसी प्रकार और भी महापुरुषो मे त्रेसठ शलाका पुरुष हो गये हैं, उनकी कथा सुनने मे अशुभ कर्मों का नाश हो करके पुण्य बन्ध होता है। और ससार के पाप मल को दूर करने वाले वैराग्य की प्राप्ति होती है, ससार से अरुचि होती है, आत्मा जाग्रत होती है। इसलिए हमेशा ऐसी महान स्त्रियों की कथा सुननी चाहिए। पहले जमाने मे एक पुत्र को जन्म देकर सन्तोष रहता था क्योंकि वह एक पुत्र भी सिंह के समान होता था। कहा भी है कि—

एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम्।
सहैव दशभिः पुत्रैर्भार वहति गर्दभी ॥

जितना ही हर्ष मानती हैं, उतना ही ग्रागे चल कर पुत्र या पुत्रियो के कारण उनको विशेष चिन्ता का भार उठाना पडता है। इसका मूल कारण केवल कुसस्कार ही है।

प्राचीन काल की हमारी मातायें सुसस्कार, शील, लज्जा ग्रादि गुणो मे युक्त होती थी। उनके हृदय मे गुणी गुरुग्रो के सस्कार रहते थे। ऐसी माताग्रो की हृदय-भूमि शुद्ध, सुसस्कृत होती थी। ग्रत वे सिहनी के समान ही एक या दो पुत्र-पुत्रियो को जन्म देकर हमेशा ससार मे सुख से ग्रपने धर्म-ध्यान मे लीन रहकर स्व पर के कल्याण मे लगी रहती थी और दोनो लोक की सुख-सामग्री को प्राप्त कर लेती थी।

यदि बच्चे की माता ग्रज्ञानी, कुशील, ग्रधर्मी, मूर्ख होगी तो उसकी क्रियाग्रो का बहुत बुरा प्रभाव बालक पर ग्रवश्य पडेगा। यद्यपि मनुष्य के पूर्वोपार्जित कर्म का उदय जीव को इस जन्म मे फल देता है। ग्रर्थात् पूर्व जन्म मे जैसा शुभाशुभ कर्म सचय किया है वैसा ही फल भोगना पडता है, तथा बाह्य निमित्त कारण भी सहायक है। बाह्य सस्कार का भी प्रभाव पडता है। माता-पिता का जैसा ग्राचरण होगा वैसे ही ग्रच्छे या बुरे सस्कार बच्चो पर पडेंगे।

कुछ विद्वानो का तो यहाँ तक कथन है कि गर्भ मे ही माता के संस्कार बालक पर पड जाते है। ग्रभिमन्यु की कथा इस सम्बन्ध मे लोक मे प्रसिद्ध ही है। जब ग्रभिमन्यु गर्भ में था, तब सुभद्रा को ग्रर्जुन वीरता की बातें सुनाया करते थे। एक दिन ग्रर्जुन चक्रव्यूह मे घुसने की विधि बता रहे थे। सुभद्रा गौर से सुनती रही। किन्तु जब चक्रव्यूह से निकलने की विधि सुनाने लगे तो सुभद्रा को नीद ग्रा गई और सुन नही पाई। इसका परिणाम यह हुग्रा कि गर्भस्थ ग्रभिमन्यु बालक पर उसके सस्कार पड गये और जब कौरवो ने चक्रव्यूह की रचना की, ग्रर्जुन वहाँ थे नही, पाण्डवो मे से चक्रव्यूह में घुसने की विधि और कोई जानता नही था, तब ग्रभिमन्यु ने इसका बीडा उठाया और बोला—मैं व्यूह में

घुसना तो जानता हूँ किन्तु उसमें से निकलना नही आता। और वास्तव में वह अकेला ही घुस गया किन्तु निकल नहीं सका। यह था गर्भ के संस्कारो का प्रभाव।

इसी प्रकार दक्षिण में मन्दालसा नामक एक रानी थी। वह बड़ी धार्मिक थी। उसकी आकाक्षा यह रहती थी कि मेरे पुत्र मुनि बनकर आत्म-कल्याण करें। अत जब पुत्र पैदा होता था तो वह सुलाने के लिए लोरियाँ सुनाया करती थी—'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरजनोऽसि संसार माया परिवर्जितोऽसि' इन लोरियो का प्रभाव बालक पर यह पडता था कि बडा होने पर वह मुनि बनकर जगल को चला जाता था। इस प्रकार उसके छ पुत्र मुनि बन गये।

वास्तव में माता स्वय शिक्षित और सस्कारशील हो तो वह बच्चो मे सुन्दर सस्कार भर सकती है। आज आवश्यकता इस बात की है कि बालको में सुसस्कार हो, सुरुचि हो और सुस्वभाव हो। किन्तु यह माताओ द्वारा ही हो सकता है। मातायें अनुभव करें कि पुत्र पैदा करके वे अपने मातृत्व का ऋण चुकाती हैं किन्तु उन पुत्रो में सुसस्कार देकर अपने परिवार, जाति और देश का ऋण चुकाती हैं।

आज की प्रमुख समस्या सस्कारो की है। अनाचार, दुराचार-भ्रष्टाचार सभी सस्कारहीनता के परिणाम हैं, विश्व की अशान्ति के मूल में यही सस्कारहीनता है। सुसस्कार न होने के कारण ही बर्बरता, शोषण, अत्याचार और एकाधिपत्य की भावना पनपती हैं, उससे विश्व युद्ध भड़कता है। यदि व्यक्तियो में अच्छे सस्कार जन्म से ही भरे जावें तो वे समाज में आसानी से सुलभ सकती हैं और सस्कार भरने का काम केवल माताएँ ही कर सकती हैं।

सुकविता कल्पवृक्ष के समान है

कविता शक्तितये कल्पवल्लियदना सद्धर्ममेदेव मे—
र्थयिननोऽवृत्ति मनोविशुद्धि बलवीर्यं बुद्धिसाफल्यमा- ॥

**कवियुं सवरु मुण्बरा फल मनित्तल्माण्दु मिथ्यात्वमा-
रवदोळ्वत्ति बळल्वरेयकटा ! रत्नाकराधीश्वरा ॥६६॥**

हे रत्नाकराधीश्वर !

कविता करने की शक्ति कल्पलता के समान है। जो कवि कविता रूपी कल्पलता को सद्धर्म रूपी मेरु पर्वत की ओर प्रेरित करके मन की निर्मलता, शारीरिक शक्ति, बौद्धिक शक्ति तथा बुद्धि सम्बन्धी अन्य सफलताओ को प्राप्त कर लेता है, उसकी लोक प्रसिद्धि हो जाती है। ऐसा न कर जो कवि अपनी शक्ति को मिथ्या जगत तथा तत् सम्बन्धी वस्तुओ के वर्णन में लगाते हैं वे दुःख को ही प्राप्त होते है।

कवि ने ऊपर के श्लोक में विवेचन किया है कि सुकविता कल्पवृक्ष के समान है क्योकि ससार में प्राय पुण्य उत्पन्न करने वाले महान पुण्य पुरुषो की जितनी ही कविता हैं ये सभी पाप को नाश करने वाली हैं। जितने महान पुरुष तीर्थ कर आदि हो गये हैं उनकी स्तुति करने से अच्छे अच्छे छन्दो में रचना करके गाने में मन की निर्मलता होती है। और सुनने वाले के मन मे निर्मलता आती है। और इससे कर्म की निर्जरा होती है। देखो रावण जिस समय अपनी बहन सूर्पणखा की शादी करके लौट रहा था, उस समय आते हुए कैलाश पर्वत पर विमान आ कर रुक गया तो रावण ने विचार किया कि यहाँ विमान क्यो रुका। तब नीचे उतरकर देखता है कि वाली मुनि ध्यान कर रहे हैं। तब उस समय उसके मन मे विचार आया कि इसने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया था। इसको दण्ड देना चाहिये। इसलिए इसको कैलाश पर्वत सहित उठा कर समुद्र मे फेंक देना चाहिये। इस तरह से विचार कर जब रावण ने अपनी विद्या के बल से पहाड के नीचे घुस कर जोर लगाया और उठाने लगा तब कैलाश पर्वत हिलने लगा। तब वाली मुनि ने धर्म की रक्षा करने के निमित्त, जैन धर्म का महत्त्व बताने के निमित्त सोचा कि मेरा नुकसान हो जाये तो कोई हर्ज नही परन्तु भरत चक्रवर्ती ने

मन्दिरो का निर्माण कराया है वे नाश हो जायेंगे। ऐसा सोच करके उन्होने अपनी एक अगुली को दवाया, पर्वत दवने लगा। इससे रावण पर असर हुआ और रावण रोने लगा। तब मन्दोदरी मुनिराज के पास आयी और क्षमा-याचना करने लगी और पति-दान मागने लगी, ऐसा सुनकर मुनिराज ने अपनी अगुली को उठा लिया। रावण ऊपर आया और भक्ति के साथ मुनि को नमस्कार किया और स्तुति की। यह स्तुति अन्त करण भावपूर्वक करने से उसी समय रावण को तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध हो गया। ऐसी भगवान की स्तुति करने से कर्म की निर्जरा हो करके पुण्य का वन्ध हो जाता है। किन्तु अश्लील कविता पाप का वन्ध करने वाली है।

ज्ञान की वडी भारी महत्ता है। ज्ञान के समान ससार मे कोई भी सुखदायक नही है। ज्ञान के वल से ही मनुष्य निर्वाण पद को प्राप्त करता है। ज्ञान के कारण ही जीव करोडो जन्मो से अर्जित कर्मों को क्षण भर मे त्रिगुप्तियो के द्वारा नष्ट कर देता है। तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है, यही ज्ञान साधारण पुरुषो को श्रुत रूप मे मिलता है। यो तो आत्मा मे ही सम्पूर्ण ज्ञान-केवलज्ञान की शक्ति वर्तमान है। कोई भी आत्मा अपनी असत्प्रवृत्तियो का त्याग कर, मन, वचन और काय को वश में कर एव अपने स्वरूप मे विचरण करने पर घातिया कर्मों के नाश द्वारा केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है। परन्तु जब तक ज्ञानावरणीय कर्म का उदय है, तब तक यह ज्ञान उत्पन्न नही होता है। वैसे तो जीव मे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यय-ज्ञान, केवलज्ञान तथा कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान इन आठ ज्ञानो मे से कोई दो, तीन, चार या एक ज्ञान अवश्य रहता है। इन आठ ज्ञानो मे पहले के पाँच ज्ञान सम्यक् और उत्तरवर्ती तीन ज्ञान अज्ञान माने जाते हैं। किसी भी जीव में यदि एक ज्ञान होता है तो केवलज्ञान, दो ज्ञान होते है तो मति और श्रुतज्ञान, तीन ज्ञान होते हैं तो मति श्रुत और अवधि ज्ञान या मति, श्रुत और मन पर्ययज्ञान एव

चार होते हैं तो मति, श्रुत, अवधि और मन-पर्ययज्ञान । पाँच ज्ञान एक जीव मे एक साथ नही हो सकते हैं, क्योकि केवलज्ञान कर्मो के क्षय से उत्पन्न होता है तथा शेष चार सम्यग्ज्ञान क्षयोपशम से उत्पन्न होते है ।

कर्मो के क्षयोपशम से जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं, उनमे तारतम्यता देखी जाती है । सबका ज्ञान एक समान नही हो सकता है । जिस व्यक्ति का जितना क्षयोपशम होगा, उसका ज्ञान भी उतना ही होगा, इसी कारण विश्व के मानवो के ज्ञान मे हीनाधिकता देखी जाती है । एक व्यक्ति का जितना ज्ञान है, दूसरे का उससे ज्यादा या कम रहता है । अत कर्मो के क्षयोपशम से उत्पन्न ज्ञान में स्थिरता और एकरूपता नही रहती है । इस समय पचमकाल में केवली कोई हो नही सकता है । मन.पर्यय और अवधिज्ञान के धारियो का मिलना भी दुष्कर है । पूर्ण श्रुतज्ञान भी अब इस पचमकाल में किसी को नही है, अत ऐसी अवस्था में ज्ञानार्जन का प्रधान साधन उपलब्ध श्रुत—शास्त्र ही है । शास्त्रों के अध्ययन द्वारा ही कोई भी व्यक्ति अपने ज्ञान में कुछ तारतम्यता ला सकता है । लिपिबद्ध शास्त्र गद्य और पद्य दोनो में मिलते हैं ।

गद्य से विषय का ज्ञान तो हो जाता है, पर गद्य का ढग शुष्क-ज्ञान निरूपण की प्रणाली है । सरस निरूपण गद्य में नही होता । यद्यपि कुछ काव्यात्मक गद्य लिखे जाते हैं, पर इनकी सख्या नगण्य हैं । पद्य का प्रचार भारत मे प्राचीन काल से है । यह कहना अत्युक्ति न होगा कि भारत में ही नही, ससार के समस्त देशो में गद्य की अपेक्षा पद्य का प्रचार प्राचीन काल से है । पर सभी प्रकार के पद्य काव्य नही हो सकते हैं, आत्मज्ञान के निरूपण करने की प्रणाली अथवा ज्योतिष, गणित आदि के विषय को प्रतिपादन करने वाली प्रणाली काव्य नही है । काव्य के अन्तर्गत वे ही पद्य आवेंगे जो सरस ढग से विषय का निरूपण करते हो । जिनमे विषय को इतने सरल और सक्षिप्त ढग से बतलाया गया हो, जिससे पाठक या श्रोता आनन्दमग्न होकर विषय

को हृदयंगम कर सकें। कविता में ऐसी अद्भुत शक्ति होती है, जिससे वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर अपना अमिट प्रभाव बिना डाले नहीं छोडती। यह किसी भी व्यक्ति का चारित्रिक, आत्मिक और बौद्धिक विकास करने में पूर्णतया समर्थ रहती है। अत कवियो का आवश्यक कर्त्तव्य है कि वे ऐसे काव्यो का निर्माण करें, जिनसे पाठक और श्रोता मिथ्यात्व, मोह, राग, द्वेष का त्याग कर सकें। वास्तव में जिन काव्यो के अध्ययन से मुमुक्षु अपने निजानन्द रस में लीन हो सकें, वे आत्मानन्द को समझ सकें, वे ही सच्चे और अच्छे काव्य हैं।

स्वार्थपूर्ति के लिए जीव अन्य जनो की स्तुति करता है—

वडलं रक्षिसलन्यरं नुतिसिदा कुंडाटमं सर्वरोळ्।
किडेबीळदाडिद लंपट भ्रमणदा वंडाटमं सर्वरोळ् ॥
नुडिदेकुवु वरय्य पुण्यकथेयो ? अध्यात्ममो ? कोळ्गे स-
मंडुवं पाल्गडलेंदु कंडरकटा ! रत्नाकराधीश्वरा ॥७०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

स्वार्थपूर्ति के लिए दूसरो से की गई स्तुति तथा मोहवश ज्ञान के नष्ट हो जाने से स्त्रियो में आसक्ति की भ्रान्तिकारक और लज्जापूर्ण बातें साथियों में कहने और सुनने से लोग क्यो आनन्दित होते हैं ? क्या यह कोई पुण्यकारक वस्तु है ? क्या इसमें कोई आत्म-तत्त्व का विचार है ? वर्षा ऋतु में गन्दी जमीन में मन्द रूप से पडे हुए कीचड के जल को देखकर क्षीरसागर की कल्पना करना क्या भ्रान्ति नही है ?

कवि ने इस श्लोक में बताया है कि अज्ञानी मानव प्राणी अपने स्वार्थ अर्थात् उदर पोषण के लिए अनेक लोगों की सेवा करता है, स्तुति करता है और उनके द्वारा होने वाले अनेक अपमान सहन कर लेता है। कभी-कभी उनके द्वारा अत्यन्त निन्दित वचन सहन कर लेता है। इतना होते हुए भी श्रीमन्त की स्तुति, राजा की स्तुति करके अपना पेट पालता है। किसी नीतिकार ने कहा भी है कि—

उदरनिमित्तं भवकृतवेषम्
कदरनिमित्तं दुर्जनसंगम् ।
मरणनिमित्तं गुणविपरीतम् ।
ज्ञाननिमित्तं गुरुउपदेशम् ॥

उदर के लिए ससारी प्राणी अनेक लोगो की सेवा सुश्रूषा करता है। जैसे कुत्ते को रोटी डालने पर पूंछ हिला कर उनके चरण चाटता है उसी प्रकार मनुष्य अपने उदर पोषण के लिए अनेक उच्च नीच पुरुषो की सेवा करता है तथा उनके द्वारा होने वाले अपमान को सहन करता है। अनेक प्रकार के वेष धारण करता है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरो के प्रति ईर्षा, उनकी बुराई और लडाई के काम करता है, करके पाप का बन्ध कर लेता है। जब वह गुणी पुरुषो के विपरीत हो जाता है, तब वह मरण के निमित्त जुटाता है। जब उसको सद् गुरु का समागम मिलता है तब उसको सच्चा उपदेश और ज्ञान मिलता है। तब इस जीव को कल्याण का मार्ग मिलता है। अनादिकाल से इस जीव ने अनेक उपदेश सुने और वे ससार के कारण बन गये। यदि इस जीव को संसार से पार होना है तो यह भगवान की भक्ति, भगवान का गुण गान, अच्छी-अच्छी कविताओ की रचना करे इसमे पुण्य का लाभ होता है।

अज्ञानी मानव का मन स्वभावत विषय-भोगो के वार्तालाप मे रस लेता है। वह शृंगार और विषयासक्ति की बातो से अघाता नही है। आत्म तत्व का विचार उसके मन मे आता ही नही, उसका मन उस विषयी कुत्ते के समान हो जाता है जो डण्डे खाने पर भी रोटी लेने के लालच मे घर-घर मारा-मारा फिरता है। यद्यपि वह जानता है कि मुझे रोटी के स्थान पर डण्डे ही मिलेगे तथा मेरा यह कार्य भी निन्द-नीय और घृणित है फिर भी वह लाचार हो लोभ के [illegible] भटकता रहता है। ठीक यही बात विषयी जीवों की भी [illegible] है

भी विषय-चर्चाओ मे अपने समय को खो देते हैं। आत्म-चिन्तन तथा अपने स्वरूप के चिन्तन की ओर उनका ध्यान नही रहता।

मोह के कारण जो व्यक्ति दिन-रात स्त्रियो की चर्चाएँ या उनके अगोपागो के सौन्दर्य की चर्चाएँ किया करते है, तथा इन चर्चाओ को ही अपना कर्त्तव्य समझ लेते हैं वे बडे गलत रास्ते के राहगीर बनते हैं। इन विषयो से आज तक किसी की भी तृप्ति नही हो पायी है, ये तो तृष्णा और दाह को ही उत्पन्न करते हैं। इनमें आनन्द के स्थान मे आकुलता, सरसता के स्थान मे नीरसता, सतोष के स्थान मे तृष्णा उत्तरोत्तर बढती चली जाती है। वृद्ध हो जाने तक भोगो की दुर्दमनीय लालसा कम नही होती है, बल्कि असमर्थता पाकर यह लालसा और बढ जाती है। कारण स्पष्ट है कि मोह के उदय होने पर ही भोग विलास प्रिय लगते है। मोह ने इस जीव को पागल बना दिया है, जिससे इसे अनिष्टकारक, आत्मा की बुराई करने वाली चीजें अच्छी प्रतीत होती हैं। भ्रान्तिवश इसे बुराई ही अच्छाई मालूम पडती है। लज्जापूर्ण, कुत्सित, निन्द्य, अश्लील वचन भी कहते इसे लज्जा नहीं आती। परन्तु मोह के दूर होते ही, इस जीव को शरीर और भोगो से घृणा हो जाती है। उसके मन मे वैराग्य की भावनाएँ उत्पन्न हो जाती है। ससार और शरीर इन दोनो की वास्तविकता दिखलायी पडने लगती है। शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न देखने लगता है। मोहोदय के कारण जो जीव ससार के झूठे रीति-रिवाजो को सच्चा समझता रहता है तथा वास्तविक ज्ञान कराने वाले से लडता है, मोहोदय के दूर होते ही उसकी यह निन्दित क्रिया बन्द हो जाती है।

मोह के दूर होने ही ससार के खेल सामने प्रत्यक्षगोचर हो जाते हैं। मोह के रहने से ही स्त्री प्रिय लगती है, पुत्र प्यारा अनुभव होता है। माता अच्छी दिखलायी पडती है, बन्धु स्नेहशील प्रतीत होता है, परन्तु मोह के क्षय या क्षयोपशम होते ही ये सारे रागभाव दूर हो जाते हैं। हृदय मे वैराग्य भाव जाग्रत हो जाता है। इन्द्रियो के प्रिय लगने

वाले पदार्थ अव अत्यन्त अप्रिय मालूम होते हैं। कर्त्तव्य मार्ग का उसे अपने आप भान हो जाता है। कविवर भूधरदास जी ने वताया है कि मोहोदय के रहने पर ही जीव को अकर्त्तव्य मार्ग सूझता है, मोह के क्षय होते ही उसे कर्त्तव्य मार्ग दिखलायी पडने लगता है।

देव गुरु सांचे मान सांचो धर्म हिये आन,
सांचो हि पुरान सुनि सांचे पन्थ आव रे।
जीवन की दया पाल, झूँठ तज चोरी टाल,
देखना विरानी बाल तिसना घटावरे।
अपनी बड़ाई पर निन्दा मत करे भाई,
यही चतुराई मद्य मांस को बचाव रे।
साध षट्कर्म धीर संगति में बैठ वीर,
जो है धर्म साधन को चित चाव रे॥

अरे जीव मोहान्धकार को नष्ट कर, सच्चे देव, शास्त्र और गुरु को ही मन मे धारण कर, सत्य वोल और सन्मार्ग पर चल, प्राणियो के प्रति क्षमाभाव धारण कर, चोरी का त्याग कर, दूसरो की स्त्रियो पर नजर मत डाल, ममता और अहकार की कमी कर, अपनी प्रशसा और अन्य की निन्दा का त्याग कर, मद्य, मास, और अभक्ष्य के भक्षण का त्याग कर, गृहस्थ के दैनिक षट् कर्मो का पालन कर एव साधुओ की सगति मे रह कर धर्म साधन की ओर अपना मन लगा। इसी मे तेरा कल्याण है।

वीणा किन्नरि वेणुताळ मुरजाळापदि संसिद्धिगी—
र्वाणप्राकृत वाक्यसिद्धि सुकवित्वं सुस्वरं रत्कुलं।
त्राणं श्रीचेलुवक्केयादोडमदेना लीलेगं निम्म क—
ल्याणाराधनेयक्के चित्तविसदं रत्नाकराधीश्वरा!॥७१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

वीणा, किन्नरी के वाद्य, तुरतुरा, ताल, गायन, संस्कृत और प्राकृत का ज्ञान सरस कविता करने की शक्ति, श्रेष्ठ राग, उत्तम कुल, बल, ऐश्वर्य, सौन्दर्य और रूप की प्राप्ति का फल कुछ भी नहीं है अत. इनका सदुपयोग मगलमय अथवा पचकल्याण की भावना भाने में करना चाहिए। अर्थात् इन रागमय पदार्थों का उपयोग आत्मानन्द के विकास मे करना ही कल्याण है।

कल्याग के मूल दो ही मार्ग हैं—आचार और विचार की शुद्धि। इन दोनों का प्राय तादात्म्य सम्बन्ध है, आचार की शुद्धता से विचारो में शुद्धता आती है और विचारो की शुद्धता से आचार में। जो व्यक्ति इन दोनो का सम्बन्ध नहीं समझते हैं, वे गलत मार्ग पर हैं। वीणा वादन, मधुर गायन तथा नाना प्रकार के अन्य मनोरंजन के साधनो से हमारे विचार अशुद्ध होते हैं, रागभाव आत्मा में उत्पन्न होते हैं। इस कारण जीव स्वय अपनी हिंसा करता है, क्योंकि राग उत्पन्न करने से आत्म परिणामो का घात होता है। असत्य भाषण, चोरी, व्यभिचार, अत्याचार, अनाचार, परिग्रह संचय सभी आत्मा के घातक होने से हिंसा के साधन हैं। जिन व्यक्तियो ने अपने जीवन का ध्येय केवल आमोद प्रमोद करना ही मान लिया है, उनके विचार अत्यन्त निम्न कोटि के हैं। क्योंकि यह जीव अनादि काल से विषय कषायो में सलग्न चला आ रहा है, इसने चौरासी लाख योनियों में भ्रमण किया, नाना प्रकार के ऐश्वर्य भी इसे मिले, पर संसार के भोगो से तृप्ति नहीं हुई। अब इस श्रेष्ठ मानव जन्म को भी अपने ही स्वार्थ में लिप्त रख कर यो ही बिता देना बडी भारी मूर्खता है।

नरभव की सार्थकता राग रगो को पाकर भी इनसे अनासक्त रहने मे है। यदि कोई भी व्यक्ति ससार के कर्मो को फलाकांक्षा से अलग रह कर अनासक्त भाव से कर्तव्य समझ कर करता है, तो वह कल्याण का मार्ग पा ही लेता है। श्रद्धापूर्वक अपनी शक्ति और योग्यता के

अनुसार निवृत्ति मार्ग की ओर जाना, ससार के चमकीले भड़कीले पर-पदार्थों से पृथक् रहने की चेष्टा करना ही कल्याणकारक है । अत. जिन व्यक्तियो के विचार शुद्ध है, जिनके विचारो में किसी भी प्रकार की कलुपता नही, जिनकी प्रवृत्ति राग द्वेष से परे रहती है, वे अपने आचरण को उन्नत वना ही लेते हैं । वास्तविक वात यह है कि उनकी दृष्टि विशाल हो जाती है, स्वार्थ की सकुचित सीमा टूट जाती है, जिससे पर पदार्थो के प्रति व्यग्रता उनको नही होती है, क्योकि पर पदार्थ आकुलता या दु ख-सुख के कारण नही, यह तो केवल व्यक्ति की दृष्टि का दोप है ।

विपयो की आधीनता आत्मा के लिए कभी भी कल्याणकारी नही हो सकती । पचेन्द्रियो के मोहक विपय आत्मा को पराधीन करने वाले हैं । जिस व्यक्ति ने अपनी कमजोरी के कारण अपने को इन विषयो के सुपुर्द कर दिया है, वह आज नही तो कल, कभी न कभी इनकी हेयता को समझे बिना नही रह सकता । अनियन्त्रित विषय सेवन से शान्ति, कान्ति, स्मृति, मेधा, ज्ञान आदि गुण नष्ट हो जाते है । विपयो का वेग सर्व प्रथम व्यक्ति के स्वास्थ्य को नष्ट करता है, क्योकि विपयी जीव आचार और विचार दोनो की पवित्रता से च्युत हो जाता है । इसलिए वह मनमाने अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करता है, दुर्दमनीय इन्द्रियो की प्रवृत्ति को विषयो से हटाता नही, वल्कि विपयो मे लगाता रहता है । इस कारण उसका शरीर खोखला हो जाता है, दिन रात रोग उसे घेरे रहते है । एक क्षण को भी उसे शान्ति नही मिलती । सुख के वदले उसे दु ख ही उठाना पडता है ।

स्मृति और मेधा शक्तियाँ भी विपयी जीव की नष्ट हो जाती है । उसकी वुद्धि कुठित हो जाती है, विवेक या सद्विचार उत्पन्न नही होते । दिन रात मन विपयो की ओर दौडता रहता है, शरीर अशक्त रहता है जिससे वह विपयो को भोग नही सकता, पर मानसिक व्यभि-चार निरन्तर करता रहता है । वह मानसिक दृष्टि से इतना कमजोर

हो जाता है कि बार-बार विषयों के त्यागने का संकल्प करने पर भी नहीं छोड़ पाता है। उनके भोगने में भी कमजोर होते हैं। स्मरण शक्ति भी उनकी लुप्त हो जाती है, वह करनी की हुई समस्त प्रतिज्ञाओं को भूल जाता है। कान्ति, ओज आदि भी शरीर में नहीं रहते, वह रस निकले हुए नीबू के समान मलीन होता है। आचार और विचार दोनों से वंचित होकर विषयी जीव अपनी समस्त शान्ति को खो बैठता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक है कि वह सांसारिक पदार्थों को अनासक्त भाव से छोड़कर आत्मानन्द में विचरण करे।

विषयों को न भोगकर छोड़ने वाले की भावना और उसका फल—

अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥ ११०॥

पर पदार्थ कभी अपना नहीं बन सकता है। पर पदार्थ इकट्ठे करने की भावना कितनी ही की जाय और कितने ही उपाय किये जायें, पर वे अपने निज स्वरूप में आकर मिल नहीं सकते हैं। आत्मा आत्मा ही रहेगा और पर पर ही रहेंगे। यह वस्तु स्वभाव की स्वाभाविक गति है। आत्मा अमूर्तिक और चेतन है। दूसरे सर्व पदार्थ मूर्तिमान हैं और जड़ हैं। इस प्रकार जीव और बाकी कुल पदार्थ अपने-अपने निराले स्वभावों को रखने वाले माने गये हैं तो उनका एक दूसरे में मिल जाना या एक दूसरे की एक दूसरे से भलाई-बुराई होना असम्भव बात है। जड़-चेतन का, मूर्तिमान-अमूर्तिक का मेल होना ही कठिन है तो एक दूसरे की वे भलाई-बुराई क्या करेंगे? दूसरी बात यह है कि आत्मा में वह आनन्द भरा हुआ है कि जो जड़ पदार्थों में असम्भव है। शरीर से चेतना निकल जाने पर वह शरीर तुच्छ और फीका भासने लगता है। इसका कारण यही है कि शरीर जड़ है, उसमें आनन्द या सुख की मात्रा क्या रह सकती है? शरीर में रहते हुए भी जो सुखानुभव होता है वह चेतन का ही चिह्न है, न कि जड़ शरीर का। क्योंकि आनन्द या सुख

ज्ञान के बिना नही होता। यह ज्ञान का ही कार्य है, ज्ञान का रूपान्तर है। तो फिर जड मे वह कैसे मिल सकता है ? इसीलिए सुख की लालसा से जड विषयो का सेवन करना, उनसे सुख चाहना पूरी पूरी भूल है। तब केवल आत्मा का स्वभाव जानने के लिए उसी का ध्यान करो, चिन्तन करो तो सम्भव है कि कभी आत्मा का पूरा ज्ञान हो जाने से पूरा निश्चल सुख प्राप्त हो जाय। जबकि अज्ञान अवस्था मे भी थोडा सा ज्ञान शेष रहने के कारण जीवो को कुछ सुख अनुभव गोचर होता दीखता है तो पूर्ण ज्ञानी बनने पर पूरा सुख क्यो न मिलेगा ? जबकि चेतना ही आनन्द-दायक है तो जड पदार्थों में फँसने से आनन्द कैसे मिल सकता है ? क्योकि जड पदार्थों मे फसने से ज्ञान नष्ट, या हीन अवस्था को प्राप्त होता है जिससे आनन्द की मात्रा घट जाना सम्भव है। जड पदार्थों मे फसने वाला जीव आत्म ज्ञान से तो वचित होता ही है, इधर जड पदार्थों से कुछ मिलने वाला नही है, इसलिए दोनो तरफ के काम से जाता है। उसे न इधर का सुख, न उधर का सुख मिलता है। यदि वही जीव सब तज कर अकेले आपको भेजने लगे तो तीनो जग का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। फिर उससे बचा ही क्या रहा ? इसीलिए मानना चाहिए कि वह तीनो लोक का स्वामी बन चुका।

जब यह जीव सब झगडे छोडकर आत्मज्ञान को प्राप्त करके सारे असार ससार मे से अपने चिदानन्द को सारभूत समझने लगा और उस श्रेष्ठ आनन्द का अनुभव करने लगा तो इससे बडा और तीन लोक का स्वामी कौन होगा ? कोई नही। उस समय यही तीन लोक का स्वामी बन जायगा। क्योकि, जो जिसका स्वामी होता है वह उसके सार सुख को भोगता है। जीव जब कि तीनो लोक के एक मात्र सार सुख आत्मा-नन्द को भोगने लगा तो वह तीनो ही लोक का स्वामी हो चुका। इसीलिए यह कहा है कि—

तू ऐसी भावना कर कि मैं अकिंचन हूँ—सभी जड पदार्थो से मेरा ज्ञानमय स्वरूप निराला है। ऐसी भावना करते-करते जब तू अह

अर्थात् आत्मस्वरूप को अभिन्न अपना स्वरूप समझ जायगा तब तू तीनो लोक का पूर्ण स्वामी बन जायगा। इसलिए तू सब झझटो से अपने को निराला समझ कर अपने स्वरूप मे ठहरने का प्रयत्न कर। ऐसे स्वरूप की प्राप्ति योगियो को ही हो सकती है। एकाकी आत्मा का ध्यान करने से त्रैलोक्यपति कैसे बन जाता है यह बात भी योगियो को ही पूरी समझ में आई है अथवा यों कहिये कि, एकाकीपने की भावना से प्राप्त होने वाला सुख योगियो को ही मिल सकता है, केवल कहने सुनने से वह प्राप्त नहीं होता। एकाकी आत्मा को मानकर उसका चिंतन ध्यान करने से तू भी योगी हो सकता है। योगी बनने से तुझे भी उस परमात्मा के पद की प्राप्ति होगी और तभी उस पद का पूरा आनन्द तुझे अनुभवगोचर होगा। यह योगिगम्य परमात्मपद की प्राप्ति का रहस्य तुझे कहा।

पर वस्तु सम्बन्धी अहंकार का त्याग

एतक्काडुवरय्य हम्मनकटा ! तम्मलिल विद्याकळा—
व्रातं तळतदना कवित्वमुसिगु सुज्ञानमं तत्परं—
ज्योतिर्व्यक्तिययुक्तिये नुडिगुमिन्नंतल्लदल्ललिल य—
द्वातद्वा बहुभाषि फलवदें ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥७२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मनुष्य अहकार की बात क्यो करता है ? उसमे विद्या शिल्पादि का भरा हुआ गुणसमूह उसकी रचना से प्रकट होता ही है। भगवान के तेज तथा चमत्कारमय स्वरूप का ही स्थान स्थान पर वर्णन होना चाहिए। ऐसा न कर, बेकार की गटपट बातें करने से कुछ लाभ नही होगा।

सम्यग्दृष्टि जीव के लिए ससार में आत्मविश्वास के समान कोई भी उपकारी नही है। जिसे अपने आत्मा की शक्ति का दृढ विश्वास

नहीं, वह कोई भी कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर सकता है। आत्मविश्वास उत्पन्न करने मे प्रधान कारण आत्म निर्मलता है। जब तक आत्मा में निर्मल भाव उत्पन्न नही होते हैं, यह नाना सकटो का पात्र वना रहता है। अत प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार का पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है जिससे आत्मा निर्मल बनायी जा सके। आत्मा निर्मल वनता है, वाधक कषाय परिणामों को दूर करने पर। जब तक आत्मा मे कषाय परिणति लगी रहती है, आत्मा स्वच्छ या निर्मल नही होती।

आत्मा को निर्मल करने के लिए अन्तरग और बहिरग दोनो ही प्रकार की शुद्धियो की आवश्यकता है। अन्तरग शुद्धि तभी हो सकती है, जब कालुष्य उत्पन्न करने वाले कषाय आत्मा से हट जायें। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप ये चारो ही कषायें आत्मा के लिए मलिनता के कारण हैं। साधारणत. इन कषायो की उत्पत्ति निमित्त कारणो के मिलने पर ही होती है। क्रोध का निमित्त मिलने पर ही क्रोध उत्पन्न होता है। यदि कोई व्यक्ति विपरीत कार्य करता दिखलायी देता है तो क्रोध उभर आता है। घमण्ड करने के पदार्थों को प्राप्त कर अहकार उत्पन्न होता है। इसी प्रकार वाह्य निमित्त को पाकर माया और लोभ कषाय की भी उत्पत्ति होती है।

यदि कषायो की भीतरी तह में प्रवेश किया जाय तो अवगत होगा कि बाह्य निमित्तो के विना भी कषायें अन्तरग मे उत्पन्न होती रहती हैं। मन मे चचलता प्रधान रूप से अन्तरग कषायो की तीव्रता के कारण ही होती है, यदि अन्तरग मे कषायो की कमी हो जाय तो मन में स्थिरता आ जाती है। क्योंकि कषायो का निरोध होने से मन, वचन और काय योग का निरोध किया जा सकता है। कषायों के निकलते ही योग की चचलता रुक जाती है। कपायो के रहने पर कोई निर्जन वन मे रहे, चाहे गगनचुम्वी प्रासाद मे, सब समान हैं। इनके सद्भाव या अभाव से ही आत्म-कल्याण या जगकल्याण किया जा सकता है। क्रोधी जीव ने आज तक किसका कल्याण किया है ? जिसने अपनी आत्मा मे

समभाव को उत्पन्न कर लिया, सहनशीलता अपने भीतर उतार ली है, अपना या संसार का भला कर सकता है। क्रोध से काम बिगड़ ही सकता है, बनता नहीं। इसी प्रकार मान, माया और लोभ के बारे में भी है। जिस प्रकार कपड़े को पक्का नीला रंगवा देने पर उस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता, इसी प्रकार कषायों द्वारा आत्मा के अनुरंजित होने पर आत्मा में निर्मलता नहीं आती, शुद्धात्मानुभूति नहीं होती। कषायें आत्मा के ज्ञान, दर्शन, नम्रता आदि गुणों को विकृत कर देती हैं।

यों तो मानव अनादि काल से कषायों के आधीन है, पर अहंकार द्वारा वह अन्य की अवहेलना और अपना उत्कर्ष सोचने में सदा मस्त रहता है। प्रतिष्ठा-लिप्सा या कीर्ति-कामना मनुष्य में इतनी अधिक है जिसके कारण अपनी आत्म-प्रशंसा वह स्वयं करता है और दूसरों की निन्दा भी। यह निन्दा और स्तुति की लालसा जीवन को बड़ा बनाने के बदले तुच्छ या छोटा बनाती है। अहंकार मनुष्य की आत्मा में कठोरता उत्पन्न करता है, उसके विनय गुण को नष्ट कर देता है। अभिमान या अहंकार किसी भी व्यक्ति को नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिन विद्या, बुद्धि, बल, धन, जाति आदि का अभिमान करता है, वे स्थिर रहने वाली नहीं। संसार में जब स्वर्ग लोक का महर्द्धिधारी देव भी मर कर एक समय में एकेन्द्रिय हो सकता है, शूकर-कूकर में जन्म ले सकता है तब अभिमान किस बात पर किया जाय? जिनके आगे सहस्रों स्त्री पुरुष सेवा में हाथ जोड़े खड़े रहते थे, पुण्य क्षीण होने पर उनको कोई पानी पिलाने वाला भी नहीं रहता। अतः इस चंचल लक्ष्मी और अन्य संसारी वस्तुओं का, जो कि सदा क्षणिक हैं, अभिमान करना व्यर्थ है। अभिमान लौकिक दृष्टि से भी इस जीव के लिए हानिकर है, क्योंकि अभिमान करने से मित्र भी शत्रु हो जाते हैं तथा अनेक कार्य जो केवल नम्रता और मीठे वचनों से अच्छी तरह सम्पन्न किये जा सकते हैं, बिगड़ जाते हैं अतः अहंकार सर्वथा त्याज्य है।

शास्त्र-पुराणों में सुनते हैं। किन्तु आज जिन मनुष्यों में उनके समान भी गुण नहीं हैं तो भी वे उद्धत हो जाते हैं, यह बड़ा आश्चर्य है।

गर्व किससे करे ? एक से एक बड़ा है। देखो :—

वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यै-
रुदरमुपनिविष्टा सा च ते चापरस्य ।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं ।
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु ॥

जिस पृथ्वी पर समस्त जग का वास है वह भी दूसरों ने झेल रखी है। किन्तु सम्पूर्ण लोक की भूमि को झेलने वाले पवनों को तो किसी ने उठा नहीं रखा है, इसलिए वे तो सबसे बड़े मानने चाहिए? परन्तु नहीं, उनसे भी बड़ा जगद्व्यापी कोई पदार्थ है। वह कौन? आकाश। वह इतना बड़ा है कि उसके भीतर वह जग भर की पृथ्वी तथा उन पृथ्वी के आश्रयभूत पवनों के बेड़े, ये सभी समा रहे हैं। अच्छा, इस आकाश को ही सबसे बड़ा मान लेना चाहिए? नहीं, ये सब चीजें तथा सम्पूर्ण आकाश जिसके भीतर तो क्या, किन्तु जिसके एक कोने में समा रहा है ऐसा भी एक पदार्थ है। वह कौन? सर्वज्ञ। सर्वज्ञ के ज्ञान में ये चीजें तो क्या किन्तु और भी जो कुछ हो वह भी आ सकता है। अब कहिये, क्षुद्र प्राणी यदि अपने से श्रेष्ठों के साथ गर्व करे तो क्या देखकर? जग मे एक से एक बड़ी चीजें पड़ी हैं।

शास्त्र पठन का उपयोग

तर्कं बंदडे दृष्टदि श्रुतदिनिट्टूहानुमानंगळि ।
वेकॆंय्दात्मननेल्लरुं नेरॆये कडंतागे यास्थान पा- ॥
लकोंडाडे कुवादियुं तिळिये पेळल्वल्लने बोधमा ।
लार्कं शुष्कविवादि तानधिकने रत्नाकराधीश्वरा ॥७३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

तर्कशास्त्र का ज्ञान हो तो प्रत्यक्ष प्रमाण, तर्क प्रमाण और अनुमान प्रमाण से आत्मा को स्थापित करके तथा समूचे जगत पर उसका प्रभाव डाल कर, सबसे देखे जाने योग्य, राजाओ से प्रशसा करने योग्य तथा दृष्ट आदि के जानने योग्य जो ज्ञान परम्परा समझाकर दी जाती है उसी से प्रकाश की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत नि सार विषयो पर वाद विवाद करने वाला कदापि श्रेष्ठ नही है। आत्मा को अन्य वस्तुओ से पृथक् मान कर सज्जन लोग आनन्दित होते है, इस कथन को समझने वाले ही ज्ञान-सूर्य कहलाते हैं, मिथ्यावादी श्रेष्ठ नही है।

कवि ने इस श्लोक मे यह बतलाया है कि अनेक प्रकार के तर्क शास्त्र गणित व्याकरण आदि पढने के बाद इस जीव को प्रत्यक्ष प्रमाण, तर्क प्रमाण से आत्मा को स्थापित करके तथा सम्पूर्ण जगत मे उसका प्रभाव डाल कर सबमे देखने योग्य राजाओ से प्रशसा करने योग्य तथा दृप्टवादी से जानने योग्य ज्ञान परम्परा समझा कर दी जाती है इसी से आत्मा मे प्रकाशित होती है। इस प्रकार ज्ञान के समान और कोई चीज नही है।

ज्ञान की महिमा

रूप-यौवन-सम्पन्ना विशाल-कुल-सम्भवाः।
विद्या हीना न शोभन्ते, निर्गन्धा इव किंशुकाः॥

जिस व्यक्ति का रूप भी सुन्दर हो, यौवन को प्राप्त भी हो रहा हो और उसका कुल भी उच्च हो, धन-धान्यादि से कोठार-भण्डार भरे हुए हो किन्तु विद्या रहित होने से उसकी कोई शोभा नही जैसे कि खुशबू रहित ढाक के फूल की।

अनेक संशयोच्छेदी, परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥

एक नहीं, अनेकों सशयों को मिटाने वाली, परोक्ष अर्थ के दिखलाने वाली, सर्व नेत्रों की नेत्र एक विद्या ही है। जिस व्यक्ति के पास विद्या नेत्र नहीं वह अन्ध तुल्य ही है।

केयूरा न विभूषयंति, पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला।
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्द्ध जाः॥
वाण्येका समलं करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते।
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं, वाग्भूषणं भूषणं॥

जो मूर्ख व्यक्ति हैं वे हाथों में बाजूबन्ध बाध के, गले में चन्द्र समान उज्ज्वल मोतियों का हार पहन करके स्नान मजनादि करके चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों का लेप करके, फूलों से शरीर को सजा कर, तिलक लगा कर, वालों को कंघादिक से ठीक करके (सवार कर) मन में फूले नहीं समाते किन्तु उन विद्या विहीन मूर्खों को मालूम नहीं कि यह ऊपरी (बनावटी) शोभा (विभूषा) थोड़ी देर के लिए ही होती है। जो विद्या रूपी भूषण है वह श्रेष्ठ एव अचल भूषण है। बालकों को चाहिए कि ऐसे उत्तमोत्तम विद्या रूपी भूषण को धारण करें जिससे परोपकार भी हो और दिग्दिगान्तर में यश-कीर्ति भी फैले और साथ में धर्म का प्रचार भी हो।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनं।
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं,
विद्या राजसु पूजिता नहि धनं विद्या विहीनः पशुः॥

विद्या ही मनुष्य मात्र का सच्चा रूप एवं छिपा हुआ गुप्त धन है, विद्या से ही विनय आती है और विनयवान ही हर एक कार्य करने में

चतुर होता है । चतुर पुरुष को ही धन धान्यादिक की प्राप्ति होती रहती है। विद्या वह चीज है जिससे कि भोग यश और सुख मिले । गुरुजनो मे विद्यावान ही बढाई पाता है। परदेश में भी विद्या मनुष्यों का भाई बन्धु जैसा काम देती है। जो विद्वान होते हैं वे इस संसार मे देवता तथा राजा की तरह पूजनीय होते हैं।

विद्वत्वं च नृपत्वं च, नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥

विद्वान और राजा इन दोनो को एकसा कैसे कह सकते हैं, अर्थात् एकसा नही कह सकते क्योकि राजा तो केवल एक अपने देश में ही पूजनीय होता है किन्तु विद्यावान तो चाहे किसी भी देश (मुल्क) मे चला जाय वहाँ उसका पूजा-सत्कार होता है।

न चौरहार्यं न च राज्यहार्यं,
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते बर्द्धत एव नित्यं,
विद्या धनं सर्वधनप्रधानम् ॥

इस विद्या रूपी धन को जितना खर्चोगे उतना ही बढेगा। यह विद्या रूपी वह गुप्त धन है कि जिसको चोर नही चुरा सकता, राजा नही छीन सकता, भाई बन्धु बटवा नही सकते। और इस द्रव्यादिक (रुपया पैसादिक) को चोर डाकू हरण कर लेते हैं, इसको छिपा कर रखें तो यह छिपा भी नही रह सकता। इसके होने से मनुष्य को हर समय भय बना रहता है इससे जैसा सुख चाहिए वह आत्मिक सुख भी नही मिलता, इसको किसी भी कार्य मे खर्च करके देखो, यह घटता ही दीखेगा। किन्तु विद्या रूपी वह धन है जो कामधेनु के तथा कल्पवृक्ष के तुल्य है। इसका जो कोई सचय करेगा, उसको दिनो-दिन अधिक सुख

मिलता। जिसके पास विद्या रूपी धन होगा उसका चित्त हर समय प्रसन्न बना रहेगा, चिन्ता तो उसके पास फटकने भी नहीं पायेगी, जितना भी इसको खर्चोगे उससे भी कहीं हजारों लाखों गुनी अधिक बढ़ेगी।

यह आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, अनुमान और तर्क के द्वारा सिद्ध है। जो व्यक्ति शरीर से भिन्न आत्मा नहीं मानते, तथा जिनका यह मत है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के समवाय से चैतन्य शक्ति आ जाती है, इन चार प्रत्यक्षगोचर भूतों के समवाय से भिन्न आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं, जिसकी शुद्धि की जाय और आचार विचार को शुद्ध किया जाय। शरीर को कष्ट देना, मन और इन्द्रियों का निग्रह करना व्यर्थ है। इस युक्ति का खण्डन अनेक प्रमाणों से किया जा सकता है। क्योंकि आत्मा का अस्तित्व स्वत सिद्ध है। मनुष्य जब किसी पदार्थ को देखता है, उस पदार्थ का एक सामान्य खाका उसके मस्तिष्क में बन जाता है, जिससे पदार्थ की ओर ध्यान जाते ही दिखलाई देने लगता है। यदि व्यक्ति सामने रखे हुए पदार्थ को बिना उपयोग के देखता भी रहे तो भी उसका दर्शन नहीं होगा और उसका अस्तित्व उसे दिखलायी नहीं पड़ेगा। उसी प्रकार सुनने, छूने और सूंघने के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। मनुष्य प्रतिदिन नाना शब्दों को सुनता है, पर जिन शब्दों की ओर उसका ध्यान नहीं रहता, उन शब्दों को सुनते हुए भी नहीं सुनता है। प्रतिदिन नाना वस्तुओं को स्पर्श करता है, पर जिन वस्तुओं के स्पर्श की ओर उसका ध्यान नहीं, स्पर्श करते हुए उसके स्पर्श ज्ञान से अनभिज्ञ रहता है।

मनुष्य की इन प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण करने से स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि भौतिक पदार्थों से भिन्न कोई ऐसी शक्ति है जिसके उपयोग से ही मानव को पदार्थों का ज्ञान होता है। यह जानने और देखने की शक्ति भौतिक पदार्थों से निर्मित मस्तिष्क में नहीं, किन्तु अनुभव करने वाला एक स्वतन्त्र पदार्थ है। जब मनुष्य के सामने कोई बात आती है तो वह उस पर विचार करता है, उस बात को लाभ-

हानि एव गुण दोपो पर ध्यान देता है । यह ध्यान देने की शक्ति भौतिक शरीर के अश मस्तिष्क से भिन्न है । यह अनुभव की शक्ति कहलाती है, अत यह अखण्ड आत्म-तत्व के सिवा और कुछ नही है, अगर आत्मा को भौतिक तत्वो से उत्पन्न माना जाय तो अनेक दोष आते हैं । पहली बात तो यह है कि सजातीय से विजातीय की उत्पत्ति नही हो सकती, अत भूत समवाय से उत्पन्न आत्मा को माना जाय तो फिर स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि आत्मा मे कहाँ से आ सकेंगे ?ये भौतिक शरीर के अश तो हो नही सकते हैं । क्योकि भौतिक शरीर मे ऐसी योग्यता नही है ।

सकल्प, इच्छा शक्ति, काम-क्रोध आदि भावनाए भी चैतन्य आत्म-शक्ति के विना उत्पन्न नही हो सकती है । ये सभी शरीर के कार्य नही हो सकते है, क्योकि यह शरीर इन सव कार्यो को करने मे असमर्थ है इसी प्रकार राग द्वेप आदि की भावनाएँ, शान्ति, धृति आदि भी चेतन आत्मा के ही स्वभाव या विभावजन्य धर्म कहे जा सकते हैं । स्वानुभव प्रत्यक्ष के द्वारा भी आत्मा की प्रतीति निरन्तर होती ही रहती है । मैं या अह की अनुभूति प्रत्येक कार्य मे सर्वदा होती है । अत समस्त पदार्थो का ज्ञाता दृष्टा आत्मा स्वतन्त्र और सव पदार्थो से भिन्न है। यह स्वभाव से ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य स्वरूप है । यह नित्य और अविनाशी है । ससार अवस्था मे यह अशुद्ध हो रहा है, अनादिकालीन राग द्वेष के कारण इसकी परिणति विगडी हुई है । पर प्रयत्न करने पर इसकी शुद्ध प्रवृत्ति की जा सकती है तथा यही हमारा पुरुषार्थ होना चाहिए जिसमे आत्मा शुद्ध की जा सके ।

शास्त्र-ज्ञान प्राप्त होने के वाद शान्ति और सहनशीलता चाहिए—

शास्त्रं बंदोडे शांति सैरने निगर्वं नीतिमेल्वातु मुक्ति-
स्त्रीचिंते निजात्मचिंते निलवेळ्कतंल्लदा शास्त्रदिं ॥

दुस्त्रीचिंतने दुर्मुखं कलहमुं गर्वं मनंगोंडडा।
शास्त्रं शस्त्रमे शास्त्रि शस्त्रिकनला रत्नाकरा-
धीश्वरा ! ॥७४॥

हे रत्नाकराधीश्वर।

शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर शान्ति और सहिष्णुता को धारण करना, अहकार से रहित होना, धार्मिक वनना, मृदु वातें करना, मोक्ष-चिन्ता तथा स्वात्म-चिन्ता में निरत रहना श्रेष्ठ कर्त्तव्य है। इसके विपरीत शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर स्त्रियो की चिन्ता, क्रोध, मान, माया आदि से विकसित स्पर्धा और अहकार के उपयोग से शास्त्र शस्त्र बन जाता है। और शास्त्रज्ञ भी शस्त्रधारी हो जाता है। अभिप्राय यह है कि शास्त्रज्ञान का उपयोग आत्म-हित के लिए करना चाहिए।

पढने-लिखने तथा शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने का एक मात्र ध्येय कषायो को जीतना, इन्द्रियो को वश में करना, सहिष्णुता धारण करना, विपत्तियो मे धैर्य रखना, शक्त्यनुसार परोपकार करना, मीठे और कोमल वचन बोलना, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करना है। जो व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर अपना कल्याण नही करता है, विषयो के आधीन रहता है, उसे धिक्कार है। उस व्यक्ति का ज्ञान शास्त्रीय ज्ञान नही कहलाता, वल्कि शस्त्र-ज्ञान कहलाता है। जैसे शस्त्र का उपयोग किसी वस्तु के काटने के लिए किया जाता है, उसी प्रकार वह व्यक्ति भी अपने ज्ञान का उपयोग अकल्याण के लिए ही करता है। ज्ञानी व्यक्ति का कार्य कषायो और वासनाओं को जीतने का है। जिसने नाना शास्त्रो का अध्ययन कर आत्म चिन्तन मे समय नही लगाया, अपने आचार-विचार को ठीक नही किया, उसका शास्त्र-अध्ययन करना निष्फल है। ऐसे व्यक्ति का ज्ञान भार स्वरूप होता है।

लोक प्रसिद्धि है कि "ज्ञान भार क्रिया विना" अर्थात् सदाचार के बिना ज्ञान बोझ के समान है। जैसे आंख का कार्य पदार्थों को देखना

है, अन्यथा उसका होना न होना समान है, उसी प्रकार ज्ञान का एक मात्र ध्येय आत्मोन्नति करना है, अपने आचरण का विकास करना है, किन्तु जहाँ स्वपर का विवेक नही होता है, भेद विज्ञान की प्राप्ति नही होती है, वह ज्ञान कोरा ज्ञान ही है, उसके रहते हुए भी जीव अज्ञानी के समान है। कारण स्पष्ट है कि ज्ञान मोक्ष का हेतु है, ज्ञान के बिना व्रताचरण, नियम, शील, जप तप आदि का पालन भी निष्फल है। सच्चा विवेक उत्पन्न होने पर ही आत्मा की अनुभूति होती है। इसी कारण सम्यग्ज्ञान का महत्व सम्यक् चारित्र से भी अधिक है, क्योकि ज्ञान के सम्यक् होने पर ही चारित्र मे सम्यक्पना आता है। सम्यग्ज्ञान के अभाव मे चारित्र सम्यक् होता ही नही है।

ज्ञान की महिमा इसलिए ही है कि इष्ट वियोग और अनिष्ट सयोग में जीव मोहोदय के आने पर भी अविचलित रहे, वाह्य निमित्तो के मिलने पर मोहोदय तो होता ही है, पर सम्यग्ज्ञानी इसमे चलायमान नही होता। उसे संसार का स्वरूप ज्ञात रहता है अत धीरता और शान्ति के साथ आने वाले उपसर्गों को सहता है। मान, अपमान, हर्ष-विपाद आदि का उसके ऊपर प्रभाव नही पडता। आचार्यो ने ज्ञान का फल वतलाते हुए कहा है—

'अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्'

अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति होना तथा हेयोपादेय और उपेक्षा रूप प्रवृत्ति होना ही ज्ञान का फल है। जो आत्मा के लिए हितकारी है, उसमे प्रवृत्ति होना, जो अहितकारी कपाय, वासना आदि हैं, उनसे निवृत्ति होना तथा साधारणत किसी भी पदार्थ मे राग-द्वेप न करना, उपेक्षा रखना यही ज्ञान की विशेषता है। सम्यग्ज्ञानी ही ससार के पदार्थों को जानते हुए उदासीन रहता है। यद्यपि ज्ञान का कार्य पदार्थों को जानना है, पर सम्यग्ज्ञानी जानकर भी उनमे अनुरक्त या विरक्त नही होता है। साधा-रणत उसके ज्ञानार्जन का ध्येय वस्तु स्वरूप को अवगत कर तटस्थ भाव

रखना तथा सम्यक् चारित्र प्राप्त करने की ओर वढना और अज्ञान-जन्य आकुलता का आविर्भाव न होने देना है।

जैसे रस्सी मे सर्प की भ्रान्ति होने पर यह अज्ञान दु.खदायक होता है, पर तद्विषयक सम्यग्ज्ञान होते ही महान् आनन्द होता है, इसी तरह तत्व विपयक भ्रान्ति के दूर होने पर अनिर्वचनीय सुख की प्राप्ति होती है। केवल उदर पोषण के लिए विद्यार्जन करना मूर्खता है। उदर तो पशु-पक्षी, कीट-पतग भी भर लेते है, यदि ज्ञानार्जन कर उदर-पोषण तक ही मनुष्य रह जाय तो उसका मनुष्य जीवन पाना निरर्थक हो जाता है। ज्ञान का वास्तविक ध्येय तत्वज्ञान द्वारा इच्छाओ, वासनाओ और इन्द्रियो का निग्रह कर सम्यक् चारित्र को प्राप्त करना है। अत. शास्त्र-ज्ञान को शस्त्रज्ञान नही बनाना चाहिए।

राजाओ के चरित्र मन को भय उत्पन्न करने वाले है

भूनाथर्कळवाळ्कोचित्तके सदा तळ्ळंकचेष्टष्टु घा-
त्री नारी घनसेन सार्दोडमदुं साल्दप्पुदे ? मत्ते दु-
र्ध्यानापेक्षेये पेर्चुगुं वगेयलंला चितेये व्याधि सु-
ज्ञानंदवर्यके साटि सौख्यमोळवे? रत्नाकराधीश्वरा! ॥७५॥

नरस्स लुद्धस्स नतिही किंची,
इच्छाहु अगास समा अणंतीया ॥

लोभी मनुष्य को कोई कैलाश पर्वत के बरावर असख्यात सोना, चादी के पर्वत भी दे देवे तो भी उसकी तृष्णाग्नि शान्त नही हो सकती, जिस तरह आकाश का अन्त आना कठिन है, ठीक उसी प्रकार लोभी का भी धनादि से तृप्त होना कठिन है। (लोभाच्च नान्योऽस्ति रिपु. पृथिव्या, अर्थात् लोभ से बढ कर इस आत्मा का और कोई शत्रु नही है।)

पाप अठारा सामठा, तिन में अधिका लोभ ।
लोभ थकी यह प्राणियां कभी न पावे शोभ ॥
ले खांडा युद्ध को चल्यो, जाय मर्‌यो रख खेत ।
सतरा पाप किया तदा, एक लोभ के हेत ॥
अधिक लोभ किया थका पावे अघकी हाण ।
मरी ने पहुँचे नार की, वहां घटे सब काण ॥

संसार के वैभव चाहे कितने ही मिल जायें, पर तृष्णा की पूर्ति नही होती। जब तक छोटी-छोटी वस्तुएँ नही मिलती हैं, तब तक उनकी प्राप्ति की कामना बनी रहती है। इन अभीष्ट वस्तुओ के मिलने पर और नवीन-नवीन वस्तुओ के पाने की उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है। इन इच्छाओं की पूर्ति होते ही और नवीन इच्छाएँ जाग्रत हो जाती हैं। इस प्रकार ससार मे वैभव और भोग-विलासो की प्राप्ति की लालसाएँ उत्तरोत्तर वढती ही जाती है। राज्य के मिलने पर भी इच्छाएँ पूर्ण नही होती, वहाँ महासम्राट् या चक्रवर्ती वनने की कामनाएँ जाग्रत होती है। अत जिसने सुज्ञान रूपी सतोप को प्राप्त कर लिया है, वही सुख प्राप्त कर सकता है। नीतिकारों ने सादा का वर्णन करते हुए कहा है कि—

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला ।
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी ।।
मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुंग चिन्तातटी ।
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ।।

आशा एक नदी है, इसमे इच्छा रूपी जल है, तृष्णा इस नदी की तरगें हैं, प्रीति इसके मगर हैं । तर्क-वितर्क या दलीलें इसके पक्षी है, मोह इसकी भवर है, चिन्ता ही इसके किनारे हैं, यह आशा नदी धैर्य रूपी वृक्ष को गिराने वाली है, इस कारण इससे पार होना बडा कठिन है । जो शुद्धचित्त योगी, मुनि इसके पार चले जाते हैं, वे बडा आनन्द प्राप्त करते हैं । तात्पर्य यह है कि आशा के चक्कर मे आकर मनुष्य आकुलता और दु ख के सिवाय और कुछ नहीं पा सकता है । आशा और आकाक्षाएँ निरन्तर वृद्धिगत होती जाती हैं जिससे मनुष्य को दु ख का ही साक्षात्कार करना पडता है ।

परिग्रह को संचित करने की लालसाए पाप का प्रधान कारण हैं । विश्व के समस्त वैभव के मिलने पर भी ये लालसाए शान्त होने की नहीं । हिसा, झूठ, चोरी, कुशील ये चारो पाप परिग्रह मे निवास करते हैं । जहाँ परिग्रह है वहाँ हिंसा के प्रधान कारण राग-द्वेष अवश्य होते है, आत्मा में निरन्तर आकुलता व्याप्त रहती है जिससे एक घड़ी को भी शान्ति नहीं मिलती । परिग्रह सचय करने के लिए द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार की हिंसाएँ करनी पडती हैं । धन के ममत्व में आकर अगणित जीवो को कष्ट देना पडता है, अधिक ममत्व रहने से बेईमानी करनी और झूठ वचन भी बोलने पडते है । धन की रक्षा के लिए नाना साधनों का प्रयोग करना पडता है जिससे हिंसा अवश्यम्भावी है । परिग्रह में अधिक लालसा रहने पर अनुचित उपायो से धनार्जन करना पडता है तथा दूसरों से प्रतिस्पर्धा भी करनी पड़ती है जिससे अनेक शत्रु बनते हैं,

अनेक मित्र वनते है । रागद्वेप की प्रवृत्ति अहर्निश बढ़ती जाती है ।

अधिक परिग्रह का सचय करना और उसके द्वारा सुख प्राप्ति करने की अभिलापा रखना उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे पानी के विलोने से घी प्राप्ति की आशा करना । पानी को मथने से पानी भी बेकार हो जाता है और घी तो क्या छाछ भी नही मिलती है, उसी प्रकार परिग्रह सचय से सुख नही मिल सकता है । वाह्य परिग्रह की अपेक्षा अन्तरग मूर्च्छा-परिग्रह का ममत्व विशेप हानिकर है, इससे जीव को सदा आकुलता वनी रहती है । भौतिक पदार्थों से ममत्व रखना विपत्तियो की खान है, मुसीवत कठिनाइयो और आपदाओ का आगार है । धन के ममत्व के कारण ही भाई-भाई के प्राणो का ग्राहक वन जाता है, नीच से नीच कृत्य को भी कर डालता है । परिग्रह लिप्सा के कारण आज जो ससार की दशा हो रही है, वह किसी से छिपी नही । बड़े प्रभावशाली समझदार व्यक्ति भी परिग्रह की मूर्च्छा मे फस जाते है और नाना प्रकार के अत्याचार एव अनाचार करने लगते है । जहाँ परिग्रह सचय की मूर्च्छा है, वहाँ ससार का कारणीभूत कर्मवन्ध अवश्य होता है । क्योकि परिग्रह के सद्भाव मे नियम से वन्ध होता है । आत्मा का हित परिग्रह की व्यग्रता दूर करने पर ही हो सकता है, परिग्रह के रहते हुए कल्याण सम्भव नही । अतः विनाशीक धन, वैभव की लालसा कर अपने मनुष्य जीवन को विगाडना ठीक नहीं ।

क्या राजा की सेना पाप रूपी शत्रु को जीत सकती है ?

पडेयोळ्बल्लिदनादोडा पडेयिनं पापारियं गेल्वने ? ।
कडुपदं जवनं तेरळ्चुवने ? वलिपं मोक्षमं कोंवने ? ॥
कडेगा भूपन शक्ति नाल्गळिगे सल्गुं मर्त्यं कीटंगळोळ् ।
बिडु योगींद्रन शक्तिगावुदु समं रत्नाकराधीश्वरा! ॥७६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

यदि किसी राजा के पास अधिक सेना हो तो क्या वह अपने सैन्य बल से पाप रूपी शत्रु को जीत सकेगा ? अपने पराक्रम से यमराज को भगा देने वाली शक्ति प्राप्त कर क्या राजा मुक्ति को वश कर सकेगा ? अन्त मे राजा की शक्ति मनुष्य योनि में चार घडी रह कर फलदायक होती है ? यह इसलिए त्याज्य है । योगीश्वर की शक्ति की समानता कौन दूसरी शक्ति कर सकती है ?

मनुष्य गति मे सबसे अधिक सम्पत्ति और ऐश्वर्य राजा के पास होता है । लौकिक सभी अभीष्ट पदार्थ उसके पास रहते हैं । सेना, बल, पराक्रम आदि के कारण उसकी आज्ञा भी सब कोई मानते है, वह अपने सैन्यबल से दुष्टों को दण्ड देता है, शासन-व्यवस्था स्थापित करता है । धन-जन की भी उसको कमी नही रहती, फिर भी वह कर्म-शत्रु को जीतने में असमर्थ है । वह इन्द्रियों का दास बना रहता है, जीवन भर इन्द्रिय-जन्य भोगो को भोगता रहता है । वह अपनी प्रभुता के दर्प के कारण कभी आत्मा पर विचार भी नहीं करता और न लोक परलोक के सम्बन्ध मे विचार करता है । निरन्तर उसकी प्रवृत्ति विषय भोगो की ओर रहती है तथा अपना वैभव और ऐश्वर्य बढाकर अपना नाम अमर करना चाहता है, किन्तु अपने कल्याण के सम्बन्ध मे तथा अपने कर्तव्यो के सम्बन्ध मे कभी विचार नही करता है । राजा के समान ही आजकल ऐश्वर्य मे मदोन्मत्त हो अधिकाश ससारी जीव भी अपने कर्तव्य को नहीं सोचते, इसी कारण उनका निरन्तर जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है ।

राजा यदि अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहे तो थोडे समय तक ही अपनी करामात दिखला सकेगा तथा उसकी यह ऐश्वर्य और विभूतियो से उत्पन्न हुई शक्ति भी केवल भौतिक ही होगी, आध्यात्मिक नहीं । वह अपने पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के उदय को भोगता है, पर वर्तमान जीवन में पाप कर्म ही करता रहता है, जिससे उसका पापा-

नुबन्धी पुण्य कर्म-सन्तति को ही वढाने वाला होता है। अतएव राजा के समान प्रत्येक विषय-वासना के वशीभूत घनी मानी व्यक्ति को ससार की अनित्यता का विचार कर ज्ञानार्जन करना चाहिए। जो धन, सम्पत्ति पूर्व पुण्योदय से प्राप्त हुई है,वह एक क्षण मे ही पाप का उदय आने पर विलीन हो सकती है। नाना प्रयत्न करने पर भी इस चचल धन को कोई भी स्थिर नही रख सकता है। इसे पाकर झूठा गर्व करना और इसे अपना समझना वडी भारी मूर्खता है। चचल लक्ष्मी किसके यहाँ स्थिर रही है। चक्रवर्ती, वलभद्र, नारायण आदि वडे-वडे लक्ष्मीवान् थे, जिनके पास वसुन्धरा की अधिकाश विभूति सचित थी, नव निधियाँ और अष्ट सिद्धियाँ जिनके चरणो मे लोटती थी, जिनके पास देवलोग सेवा मे हाथ जोडे खड़े रहते थे, वे भी मृत्यु के मुख मे गये। आयु कर्म के पूर्ण होने पर वे भी एक क्षण यहाँ नही रह सके। उनकी सम्पत्ति भी स्थिर नही रह सकी, तव सामान्य व्यक्तियो की वात ही क्या ? अत भौतिक साधनो से उत्पन्न शक्ति विशेप कार्यकारी नही होती है तथा इससे न कोई लौकिक कार्य ही किया जा सकता है। आत्मा की अचिन्त्य और अद्भुत शक्तियो का विकास इन भौतिक साधनो मे नही हो सकता है।

योग के कारण आत्मा की शक्तियो का विकास होता है। इन्द्रिय और मन का निग्रह होने के कारण आत्मा की छिपी हुई शक्तियो का आविर्भाव हो जाता है। आत्मा का चिन्तन भी योगी सरलता से कर सकता है, वह अपने प्रयत्न द्वारा मन, वचन और कार्य की असत् प्रवृत्तियो को तो रोक ही देता है, पर सत्प्रवृत्तियो पर भी उसका नियत्रण हो जाता है। योग को दूपित करने वाली कपाय, प्रमाद और अविरति की प्रवृत्ति भी रुक जाती है। इन्द्रियो की दासता समाप्त हो जाती है, स्पर्शन और रसना इन्द्रिय पर उसका पूर्ण आधिपत्य हो जाता है। रसना इन्द्रिय का निग्रह होने से योगी का शरीर भी पूर्ण स्वस्थ रहता है तथा सयम मे किसी भी प्रकार की वाधा नही आती है।

जिव्हा-लम्पटता के दूर हो जाने से आत्मा की छिपी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। आचार विषयक पूर्ण शुद्धि हो जाने से योगी पूर्ण अहिंसक हो जाता है, जिससे उसकी आत्मा मे ऐसी अद्भुत शक्तियाँ आ जाती हैं जिनके कारण हिंसक जीव सिंह आदि भी अपनी क्रूरता को छोड़कर सरल बन जाते हैं। विरोधी नकुल और सर्प अपनी विरोधवृत्ति को छोड देते हैं। अत. जितेन्द्रिय व्यक्ति की शक्ति की तुलना किसी भी भौतिक सम्पत्ति के स्वामी से नहीं की जा सकती है।

स्तुति करने से, विनय करने से राजवंश, राजा इत्यादि सब वश हो जाते हैं

तम्मं कीर्तिसे नल्मेयोल्मे कडुचागं कूडे संभाषणं ।
निम्मं कीर्तिस लड्डमोरे वडचागं मौनमी भूमिपर् ॥
तम्मं कोल्व नरेन्द्रंनं पोगळलळिकंमन्निपर् निम्मळे-
हम्मं तोर्परो कावनोळ् कलहवे रत्नाकराधीश्वरा ॥७७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

स्तुति करने से राजाओं में प्रेम, दया, अधिक दान देने, सत्य बोलने आदि के भाव उत्पन्न होते हैं। दूसरों की स्तुति करने से मुंह बनाना, मन्द दान देना, तथा मौन रहने के भाव उत्पन्न होते हैं। राजा लोग शत्रु राजाओं की स्तुति सुनकर भय से क्षमा करते हैं। इन बातों से इनके अहंकार का पता लगता है। राजा लोग दूसरों के रक्षक हैं। पर न मालूम वे आपस में किसलिए झगड़ते हैं ?

करता है उसे अल्पधन देते है या बिल्कुल नही देते। ऐसे पर प्रशसक व्यक्ति से भी नाराज हो जाते है जिससे उसकी अभिलाषा को धन द्वारा पूर्ण नही करते। क्योकि मनुष्य मात्र का यह स्वभाव होता है कि उसे जितनी अपनी प्रशसा और स्तुति प्रिय होती है, उतनी अन्य व्यक्ति की नही। इस कारण वह अन्य व्यक्ति की प्रशसा से प्रसन्न नही होता। लौकिक कार्य जिस व्यक्ति से कराता है, उसकी प्रशसा या स्तुति करनी ही पडती है। यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से उस व्यक्ति की यह क्रिया नितान्त गर्हित है, क्योकि निन्दा और स्तुति दोनो ही उसके लिए समान होनी चाहिए। यह तो व्यक्ति की कमजोरी है, जो अपनी स्तुति और प्रशसा को सुनकर प्रसन्न होता है और अन्य की प्रशसा को सुन कर असतुष्ट। जिसकी आत्मा मे शक्ति उद्बुद्ध हो जाती है, उसका यह सकुचित दायरा नही रहता है। उसे गुणी मनुष्य के गुण प्रिय होते है, गुणो की प्रशसा सुनकर उसे मन मे हर्ष होता है। परन्तु राजा महाराजाओ की प्रकृति यही होती है कि वे अपनी स्तुति और गुणगान से ही प्रसन्न होते है।

शत्रु राजाओ की प्रशसा और कीर्ति को सुनकर उनके मन मे ईर्ष्या बुद्धि उत्पन्न होती है। वे उनके गुणो को सहन करने मे असमर्थ होते है। इसी कारण उनमे अहर्निश परस्पर सघर्ष होता रहता है, वे लड-झगड कर अपनी शक्ति को नष्ट करते है। अत राज्य के प्राप्त होने पर भी आत्मिक शान्ति नही मिल सकती है। इसके लिए उदार और विशाल हृदय बनाना पडेगा। जो व्यक्ति चाहे वह राजा हो या रक, सकीर्ण विचार का है, उसे रात-दिन सघर्ष करना ही पडता है। वह मिथ्या अहंकार के वशीभूत होकर अपनी महत्वाकाक्षाओ की पूर्ति के लिए नानाप्रकार के कष्ट सहता है। सकीर्ण और सकुचित सीमा के भीतर बध कर उसे मानसिक अशान्ति सहन करनी पडती है। अत प्रत्येक को उदार और सहनशील बनना चाहिए। इस मनुष्य जीवन को पाकर जो व्यक्ति निन्दा और स्तुति मे समता नहीं रख सकता है तथा जिसने

अपनी प्रवृत्तियो को अहिंसक नहीं बनाया है, उसका इस जीवन का पाना ही निरर्थक है। जिस व्यक्ति को अपनी आत्मा की शुद्धि करनी है, उसे अपनी आलोचना अवश्य करनी चाहिए। अन्य व्यक्ति की गलती देखना आसान बात है, क्योकि मनुष्य की प्रवृत्ति छिद्रान्वेषण की होती है, वह दूसरो की त्रुटियां देखता है, अपनी नही। यदि अपनी त्रुटियो पर ध्यान पहुँच जाय तो फिर कल्याण होने मे विलम्ब न लगे।

आत्म-आलोचना के समान उपकारी कोई व्रत नही है। आलोचक अपनी कमियो को दूर करने का प्रयत्न करता रहता है। इसी कारण अन्य द्वारा सच्ची भावना से की गयी आलोचना कल्याण मार्ग मे बढ़ाने वाली ही होती है। अत आलोचक को सदा अपना मित्र समझना चाहिए। जिन व्यक्तियो मे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की भावनाए पूर्णतया या आंशिकतया आ जाती है, वे अपनी आलोचना स्वय भी करते है तथा अन्य द्वारा की गई अपनी आलोचना को भी धैर्यपूर्वक सुनते है। अत मोक्ष-मार्ग का अनुसरण करने के लिए अपने दुर्गुणो तथा अन्य के गुणो को प्रकट करना चाहिए। संसार के समस्त प्राणियो के प्रति मित्रता की भावना रखनी चाहिए। जो व्यक्ति गुणवान है, उनके गुणो को देखकर मन मे आह्लादित होना चाहिए। जो विपरीत वृत्ति वाले है तथा समझाने पर भी जो कुमार्ग को नहीं छोड़ते है, उनके माध्यस्थ भाव रखना चाहिए। सुख दुख मे [illegible] को समान वृत्ति होना चाहिए, संसार के मोह-माया मे जो [illegible] है, वह व्यक्ति [illegible] मे रहता हुआ भी साधु के तुल्य है विचार [illegible] के [illegible] विना भी व्यवहार मे भी अहिंसा को स्थान देना चाहिए। [illegible] का ध्यान रखना कि अपने किसी भी व्यवहार से किसी के मन को दुःख न हो, यह मोक्ष मार्ग की प्राप्ति मे बड़ा सहायक है।

आरदाददो राजलक्ष्मियदु निम्मिदाददुर्देर्तेदोडा-
चारं मुन्नणुमात्रमिर्दं फलदिंदा जीवको जन्मदोळ् ।
सेरित्ता चरणक्के नोने पति निन्नं मण्दवं कष्ट स-
सारांभोधिय दांटलेनरिवने रत्नाकराधीश्वरा ॥७८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पूर्व जन्म मे किए हुए पुण्याचरण से इस जन्म मे राज सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। पूर्व मे किए हुए व्रताचरण की मात्रा स्वल्प भी हो, फिर भी उसी की वजह से जीवात्मा को इस जन्म मे राज सम्पत्ति मिलती है। उसी व्रताचरण का जीव आप ही प्रभु हो गया। क्या जीव दुस्तमय ससार रूपी समुद्र को पार करने का उपाय समझेगा ?

जन्म जन्मान्तर के कर्मों का फल प्रत्येक व्यक्ति को भोगना पड़ता है। प्रधानत कर्म दो प्रकार के है —पुण्य कर्म और पाप कर्म। पुण्य कर्म के उदय से व्यक्ति को नाना प्रकार की सुख सामग्री मिलती है और पाप कर्मों के उदय से दुख सामग्री। राज्य विभूति भी पूर्व जन्म के पुण्य से ही मिलती है। जो बडा भारी पुण्य करते है, कर्मों की निर्जरा करते हैं तथा सदाचरण द्वारा निरन्तर पुण्योपार्जन करते रहते हैं, अगले जन्म मे या उसी जन्म मे पुण्य के उदय होने पर उन्हे राजपदवी मिलती है। थोडे से व्रत पालने तथा इन्द्रिय और मन के निग्रह करने से ही जीव को पुण्योदय आने पर राज-पद मिलने मे सन्देह नही रहता है। जब थोडे व्रताचरण का फल राज्य-पद पाना है तो पूर्ण व्रताचरण के पालने पर क्या निर्वाण-लक्ष्मी की प्राप्ति नही हो सकेगी ? व्रताचरण करने से अपूर्व शक्ति मिलती है। जो जीव उत्तम क्षमादि दस धर्मों का पालन करता है, रत्नत्रय धर्म का आचरण कर रहा है तथा गुप्ति, समिति और अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन भी करता रहता है, वह निर्वाण मार्ग का पथिक है और कभी न कभी मोक्ष को प्राप्त कर ही लेता है। निर्वाण लक्ष्मी को पा लेने पर मनुष्य

सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है, उसकी आत्मा निर्मल निकल आती है। अत प्रत्येक व्यक्ति को दृढ आत्मविश्वास, सद्विवेक और सदाचरण द्वारा निर्वाण-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

यह आत्मा अनादिकालीन अपनी भूल-मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के कारण संसारी बना हुआ है। इस भूल के सम्यक्रूप से पृथक् करते ही यह आत्मा कल्याण-पथ का पथिक बन जाता है। क्योंकि आत्मीय भावों के सम्यक् होते ही मिथ्यात्व को स्थान नही मिलता। कषायों और राग द्वेष की परिणति जो रत्नत्रय के स्वरूप को विकृत किये हुए थी, निकल जाती है जिससे जीव को आत्मानुभूति हो जाती है, उसकी पर पदार्थों की आसक्ति दूर हो जाती है। उसकी भावनाएँ निर्मल हो जाती हैं। यद्यपि ससार में आयु के अन्तिम क्षण तक उसे अपनी क्रियाएँ करनी पडती हैं, परन्तु वह उनमे लिप्त नहीं होता। सभी क्रियाओ को करता हुआ भी अनासक्त रहता है। फल की आकांक्षा उसे नही रहती तथा आत्मा के क्रिया व्यापारो का सम्बन्ध भी नही मानता है। वह निर्लिप्त और निष्काम होकर समस्त कार्यों को करता रहता है।

मोक्ष-मार्ग के पथिक को अपने भावो को निरन्तर उज्ज्वल बनाने की ओर ध्यान देना चाहिए। उसे अपना निरीक्षण सदा करते रहना चाहिए तथा सतर्कता पूर्वक अपने विपरीत भावों का निरोध करना चाहिए। जो रागादि भाव उत्पन्न हो रहे हैं, आत्मा को विकृत कर रहे हैं, उन्हे पौद्गलिक कर्मकृत मानना चाहिए। इन परकृत भावो मे हर्ष-विषाद न करना तथा इन्हे आत्मा के व्यभिचारी समझना आत्मानुभवी का कार्य है। सबसे पहले प्रत्येक जीव को अपनी दृढ आत्मिक श्रद्धा को उत्पन्न करना चाहिए। जब श्रद्धा दृढ हो जाती है, विषयो से निवृत्ति होने लगती है तो तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो ही जाती है। अभिप्राय यह है कि निर्वाण-पद का अनुसरण वही कर सकता है, जो सर्व प्रथम ससार के पदार्थों को आत्मा से पर अनुभव कर ले। आत्मानुभूति के बिना अन्य

क्रिया व्यापार निरर्थक हैं। लाटी सहिता मे बताया है कि—

एकादशागपाठोऽपि तस्य स्याद् द्रव्यरूपत ।
आत्मानुभूति शून्यत्वाद् भावत सविदुज्झित ॥
न वाच्य पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थत ।
यतस्तस्योपदेशाद्वै ज्ञान विन्दन्ति केचन ॥
तत्रोल्लेखोऽस्ति विख्यात परिज्ञादिक्षमोपिय ।
न स्याच्छुद्धानुभूति. सा तत्र मिथ्यादृशि स्फुटम् ॥

द्रव्य रूप से ग्यारह अगो का अध्ययन करने पर तथा बाह्य रूप से महाव्रतो की क्रियाओ का पालन करने पर भी जो शुद्धात्मा का अनुभव नही करता है, वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है। शुद्धात्मानुभूति के न होने से ग्यारह अगो का ज्ञान भी मिथ्याज्ञान ही रह जाता है। कारण स्पष्ट है कि स्वात्मानुभूति, सम्यग्दर्शन मे ऐसी विलक्षणता वर्तमान है जिससे ज्ञान मे सम्यक्पना आता है, इसके बिना चाहे जितना बडा ज्ञान हो, मिथ्याज्ञान ही होता है। अत परम पुण्य के अर्जन के लिए सबसे प्रथम स्वात्मानुभूति-सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिए।

इसका भावार्थ यह है कि कवि ने इस श्लोक मे इस प्रकार का विवेचन किया है कि अनादि काल से यह जीव पाप और पुण्य के अनुसार ससार मे विषय भोग को भोगता आया है। आज मनुष्य पर्याय धारण करके पूर्व जन्म के पुण्य के सचय से भोग सामग्री भोग रहा है, जन्म जन्मान्तर से इसी प्रकार का इन्द्रिय सुख भोगता होगा परन्तु स्व पर का ज्ञान करके अपने आत्मस्वरूप की पहचान नही की। इसलिए यहा कवि बतलाते है कि हे जीवात्मन्! स्व व पर पदार्थ मे जो अहकार है उस अहकार को छोड करके आत्मा का ध्यान कर। इसी बात मे [illegible] आचार्य ने कहा है कि—

नरोऽहं गुणधीरोऽहं [illegible] ।
[illegible] गुणनाशह [illegible] ।

इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनाम् ।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैश्रेयसी श्रीर्यत. ॥

यहाँ पर आचार्य ने बताया है कि आत्म-ध्यान के लिए आत्मा के यथार्थ ज्ञान होने की आवश्यकता है। संसारी लोग शरीर, धन, कुटुम्ब, प्रतिष्ठा, बल, बुद्धि आदि पाकर ऐसा अहंकार कर लेते हैं कि मैं सुन्दर हूँ, मैं धनवान हूँ, मैं बहुकुटुम्बी हूँ, मैं प्रतिष्ठावान् हूँ, मैं बलवान हूँ, मैं बुद्धिमान हूँ। यह उनका मानना बिल्कुल मिथ्या है क्योंकि एक दिन वह आयेगा जिस दिन ये सब पर पदार्थ व परभाव जो कर्मों के निमित्त से हुए हैं छूट जायेंगे और यह जीव अपने बांधे पुण्य पाप को लेकर चला जायेगा। ज्ञानी जीव अपना आत्मपना अपने आत्मा मे ही रखते हैं। वे निश्चय नय के द्वारा अपने आत्मा के असली स्वभाव पर निश्चय रखते हैं कि यह आत्मा सर्व रागादि विभावो से रहित है। सर्व कर्म के बंधनो से रहित है। सर्व प्रकार के शरीरो से रहित है। आत्मा का सम्बन्ध किसी चेतन व अचेतन पदार्थ से नहीं है। ये सब शरीर से सम्बन्ध रखते हैं जो मात्र इस आत्मा का क्षणिक घर है। इसलिए उन ज्ञानी जीवो की अहंबुद्धि अपने ही शुद्ध स्वरूप पर रहती है। व्यवहार मे काम करते हुए गृहस्थ ज्ञानी चाहे यह कहे कि मैं राजा हूँ, शूर हूँ, चतुर हूँ, गुणवान हूँ, समर्थ हूँ परन्तु वह अपने भीतर जानते हैं कि मुझे व्यवहार के चलाने के लिए व्यवहार नय से ऐसा कहना पड़ता है परन्तु मैं इन स्वरूप असल मे नहीं हूँ। मैं तो वास्तव मे सिद्ध भगवान् के समान ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई पदार्थ हूँ। ऐसा श्रद्धान रखता हुआ ज्ञानी जीव सर्व ही व्यावहारिक कल्पना जाल को जो पाप बन्ध का कारण है छोड़ कर एक अपने आत्मा को ही निश्चल मन करके ध्याता है। आत्मा के ध्यान से ही वीतरागता की अग्नि जलती है जो कर्मों के ईंधन को जला देती है और आत्मा को सुवर्ण के समान शुद्ध करती चली जाती है। इसलिए ज्ञानी को आत्मध्यान ही करना योग्य है जिससे मुक्ति लक्ष्मी स्वयं

आकर मिल जावे और ससार के चक्र की फिरन मिट जावे ।

एकत्वाशीति मे श्री पद्मनदि मुनि कहते है—

शुद्ध यदेव चैतन्य तदेवाह न सशय ।
यथा कल्पनया येतद्धीनमानन्दमदिरम् ॥

जो कोई शुद्ध चैतन्यमयी पदार्थ है वही मै हूँ इसमे कोई सशय नही है। यह वचन रूप व विचार रूप कल्पना भी जिसमे नही है ऐसा मै एक आनन्द का घर हूँ।

अह चैतन्यमेवैक नान्यत्किमपि जातुचित् ।
संवधोऽपि न केनापि दृढपक्षो ममेदृश ॥

मै एक चैतन्यमई हूँ, और कुछ अन्य रूप कभी नही होता हूँ। मेरा किसी भी पदार्थ से कोई सम्बन्ध नही है, यह मेरा पक्ष परम मजबूत ऐसा ही है।

पूर्व जन्म मे किये हुये पुण्य का फल अल्पतर रहता है। इसलिए वह भी क्षणिक है ।

अनुमात्रं व्रतमल्पकालमिरे मुन्नं तत्फलप्राप्तियि ।
प्रणुतक्ष्मापतियादे निन्न नुदिनं सम्यग्व्रताचार ल-॥
क्षणमं शाश्वतवांतु देवपदमं कैवल्यमं कोवेनें ।
देणिसुत्तुज्जुगिपातने सुखियला रत्नाकराधीश्वरा ॥७६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पूर्व जन्म मे किए हुए व्रताचरण का फल स्वल्प ही काल तक रहता है। उस फल से मनुष्य स्तुति करने योग्य राजा बन जाता है। जो मनुष्य श्रेष्ठ व्रताचरण के द्वारा स्वर्ग और शाश्वत मोक्ष को प्राप्त करने के विचार से प्रयत्न करता है वही सुखी होता है।

प्रत्येक जीव को कृतकर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। चाहे वह राजा हो, चाहे दीन, चाहे समर्थ, चाहे असमर्थ, चाहे मूर्ख, चाहे विद्वान पर कर्म के फल से बच नही सकता। जीव को कर्म और कर्मफल की श्रद्धा कर अपने आचार विचार को शुद्ध करना चाहिए। यों तो पाप कर्मों की सख्या गिनायी नही जा सकती है, पर आगम मे प्रमुख-प्रमुख पाप कर्मों के नाम गिनाये गये हैं।

जीवों का वध करना, झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवन करना, परिग्रह सचय करना, भगवान् की मूर्ति का अपमान करना, शास्त्रो का विपरीत अर्थ लगाना, मिथ्या लेख लिखना, स्वच्छन्द होकर अनर्गल चलना, मद्य-मास का भक्षण करना, अन्याय करना, अभक्ष्य पदार्थो का सेवन करना, कलहकारी उपदेश देना, श्रेष्ठ सदाचारी व्यक्तियो की निन्दा करना, धर्मात्माओ की निन्दा करना, विकथाएँ-राग उत्पन्न करने वाली चर्चाएँ करना, किसी को कष्ट देने का विचार करना, कुशील सेवन का मन में सकल्प या विचार करना, आर्त्त-रौद्र ध्यान करना, भोग विलास का विचार करना, व्यसन सेवन का विचार करना या तद्रूप प्रवृत्ति करना आदि पाप हैं। इन कार्यो को करने से पाप का बन्ध होता है। यदि जीव अपनी भलाई चाहता है, सुखी बनना चाहता है तो उसे ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे किसी भी जीव को कष्ट न हो।

श्रावक को श्रद्धालु, ज्ञानवान् और क्रियावान् होना चाहिए। मद्य, मास, मधु और पच उदम्बर फल—वड़, पीपल, पाकर, ऊमर एव गूलर इन फलो का त्याग करना चाहिए। इन फलो के खाने से त्रस हिंसा होती है। छोटे-छोटे कीटाणु जो इनमे निवास करते हैं, उदरस्थ हो जाते है। अष्ट मूलगुणो को धारण करने के उपरान्त अभक्ष्य भक्षण और जुआ खेलना, मास खाना, मदिरा पान करना, शिकार खेलना, चोरी, परस्त्री-रमण, वेश्या गमन करना इन सप्त व्यसनो का त्याग करना भी आवश्यक है। ये व्यसन आत्मा के स्वरूप को भुला देते है, आत्मा का कल्याण नही होने देते है। अभक्ष्यभक्षण करने से विचार और भावनाएँ कुठित हो जाती है, जिससे व्यक्ति की धर्माचरण की ओर प्रवृत्ति नही होती है। गृहस्थ को अपने आचरण को बढाने के लिए सम्यग्दर्शन के साथ द्वादश व्रतो का भी पालन करना चाहिए। पाँच अणुव्रत—अहिंसाणुव्रत, सत्याणु-व्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, और परिग्रह परिमाणाणुव्रत, तीन गुणव्रत—दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत तथा चार शिक्षाव्रत-सामायिक, प्रोपधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण एव अतिथि सविभाग इन वारह व्रतो का पालन करना चाहिए। श्री आशाधर जी ने गृहस्थ धर्म का वर्णन करते हुए वताया है—

सम्यक्त्वममलमणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते।
सल्लेखना च विधिना पूर्णसागारधर्मोऽयम्॥

अर्थात् निर्मल सम्यग्दर्शन के साथ अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षा-व्रतो का धारण करना तथा अन्त मे विधिपूर्वक समाधिमरण धारण करना गृहस्थ का पूर्ण धर्म है। जो गृहस्थ अपने इस कर्त्तव्य का पालन करता है, ससार के पदार्थो से मोहवुद्धि को हटाता है, विपय कपायो का त्याग करता है, वह अपने इस पुण्योदय के आने पर स्वर्ग और परम्परा से मोक्ष के सुख को प्राप्त कर लेता है। व्रताचरण करने से ही शाश्वत सुख मिलता है, अत गृहस्थ धर्म का पालन प्रत्येक व्यक्ति को अवश्यकरना चाहिए।

कवि ने इस श्लोक में बताया है कि पूर्व जन्म मे किये हुए व्रता-चरण का फल अल्प काल के लिए रहता है। इस फल से स्तुति करने योग्य राजा बन जाता है। जो मनुष्य व्रताचरण के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करता है वही सुखी हो जाता है। क्योंकि केवल व्रताचरण से पुण्य का बन्ध हो जाता है परन्तु सम्यक्त्वरहित होने से मोक्ष का कारण नही होता है और पुण्य भी बन्ध का कारण होता है। केवल सम्यक्त्व सहित पुण्य ही मोक्ष के लिए कारण हो सकता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पुण्य तथा पाप का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ॥

इस गाथा मे आचार्य ने भाव पाप और भाव पुण्य का स्वरूप बताया है जो क्रम से द्रव्य पाप और द्रव्य-पुण्य के बंध के निमित्त हैं। मिथ्यात्व भाव बड़ा प्रबल भाव पाप है जिसके कारण इस भाव के धारी जीव में पर्याय बुद्धि होती है जिससे वह शरीर मे और शरीर सम्बन्धी इन्द्रियों के विषयो में और उनके सहकारी पदार्थों मे अतिशय लीन होता है। और अपने सांसारिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए अनेक अन्याय रूप उपायो से भी काम लेता है। इसलिए सर्व पाप भावो का मूल कारण यह मिथ्यादर्शन रूप भाव पाप है। इस ही के निमित्त से अनन्तानुबन्धी कषायजनित राग और द्वेष की प्रवृत्ति होती है जिससे यह प्राणी अपने इष्ट पदार्थों मे तीव्र राग तथा अनिष्ट पदार्थों से तीव्र द्वेष करता है। कभी कभी मिथ्यादृष्टि के भी मन्द मिथ्यात्व और मन्द अनंतानुबन्धी कषाय के उदय से दान, पूजा, व्रत, शील आदि सम्बन्धी राग-भाव होता है जिससे वह भावपुण्य रूप भी हो जाता है। तब पुण्य भी बांधता है। परन्तु यह पुण्य भाव परम्परागत पाप का ही कारण होता है। इसीलिए आचार्यों ने धर्म-ध्यान चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से पहले नहीं माना है, तो भी मिथ्यादृष्टि सातावेदनीय

देवायु, उच्चगोत्र आदि पुण्य कर्मो का बध कर सकता है। इसलिए उस द्रव्य पुण्यबन्ध के हेतु रूप भावपुण्य का होना उसके सम्भव है। पचेन्द्रिय सैनी जीव के लेश्या भी छहो पाई जाती हैं जिनमे पीत, पद्म और शुक्ल शुभ लेश्याएँ है। इनके परिणामो मे अधिकतर पुण्य-कर्म का बन्ध होता है। वास्तव मे पापकर्म का उदय अधिक आकुलता का कारण है जबकि पुण्य-कर्म का उदय कुछ देर आकुलता के घटाने का कारण है। वर्तमान काल में उदय आकर पाप कर्म जब दु खदाई है तब शुभ कर्म सुखदाई है। यद्यपि बध की अपेक्षा दोनो ही त्यागने योग्य हैं तथापि जबतक मोक्ष न हो तब तक पुण्यकर्म का उदय साताकारी है तथा मोक्ष के योग्य सामग्री मिलने का भी कारण है। इसीलिए पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश मे बहुत ही सुन्दर कहा है—

वर व्रतै पद दैव नाव्रतैर्वत नारक।
छायातपस्थयोर्भेद प्रतिपालयतोर्महान् ॥

हिंसा आदि पच पापो की अपेक्षा जीव दया, सत्प्रवचन आदि पाच व्रतो का पालना बहुत अच्छा है क्योकि हिंसादि पापो से जब नरक मे जाता है तब जीव दया आदि पुण्य कर्म से देव हो सकता है। नरक मे जब असाताकारी सम्बन्ध है तब देवगति मे साताकारी सम्बन्ध है। जब तक मोक्ष न हो, देवगति मे व मनुष्य गति मे रहना नरक गति व पशु गति मे रहने की अपेक्षा उसी तरह ठीक है जैसे किसी के आने की राह देखने वाले दो पुरुषो मे से एक का छाया मे खडा रहना दूसरे के धूप मे खडे रहने से बहुत अच्छा है।

भीतर से जब स्वाभाविक प्रसन्नता होती है तब ही चित्ताह्लाद कहलाता है। यह प्रसन्नता सक्लेश भाव के घटने और विशुद्ध भाव या मन्द कषाय के बढने से होती है। जैसे किसी को दयापूर्वक दान देने से भीतर मे हर्ष होता है, इस ही का नाम चित्त प्रसाद है। जो दुष्ट भाव-धारियो के चित्त मे दूसरो को दुखी होते देखकर व विषय-भोगियो के

चित्त मे इच्छित काम भोग के विषय मिलने पर हर्ष होता है वह सक्लेश भावरूप है । तीव्र कषाय, क्रोध या लोभ से उत्पन्न है सो चित्त-प्रसाद नही है । जहां कषाय की मदता होकर बिना किसी बनावट के अन्तरग में आनन्द हो जाता है, उसे ही चित्तप्रसाद कहते है । परोपकार व सेवाधर्म मे यह चित्त-प्रसाद अवश्य होता है इसी से परोपकार को पुण्य कहा है ।

भगवान् की विनयपूर्वक स्तुति-भक्ति करने
वाला भव्य जीव ही सुखी होता है ।

भृत्यं तन्ननदेंतु काण्बनवनंतुर्वीश्वरं निम्मं क-
इत्यानंददे काण्के केय्मुगितमष्टांगातनंसन्मुख- ॥
स्तौत्यं सेवेगळेंबिवं नगळुतं नविदोडातंगे त-
त्प्रत्यर्थिक्षितिपालरेनेरगरे रत्नाकराधीश्वरा ॥८०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जिस प्रकार स्वामी को देखकर सेवक हाथ जोड़ कर नमस्कार करता है उसी प्रकार जो राजा भगवान को देखकर हाथ जोड़ कर आनन्द-पूर्वक दर्शन करता है, अष्टाग नमस्कार करता है, स्तोत्र पढ़ता है तथा सेवा करते हुए आप पर विश्वास रखता है वह राजा क्या अपने शत्रु राजाओ से वन्दनीय नही होगा ?

वैभव प्राप्त कर जो राजे महाराजे भगवान् की भक्ति करना नहीं छोड़ते हैं, निरन्तर प्रभु-चरणो का स्मरण कर अपनी आत्मा को पवित्र करते रहते हैं तथा भावपूर्ण स्तोत्रों को पढ़कर जो अपनी आत्मा को समुज्ज्वल करते रहते है, वे राजा अन्य राजाओ द्वारा पूज्य तो होते ही है, पर सद्गति को भी प्राप्त करते हैं । ससार मे जीवन उन्ही का सफल माना जाता है, जो जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति द्वारा अपने पापो को नष्ट करते हैं । भगवान् की भक्ति आत्मा के निजी गुणों को उद्बुद्ध

जिनेन्द्र प्रभु के समक्ष भक्ति मे विव्हल एक गृहस्थ

करने में परम सहायक होती है। वीतरागी प्रभु यद्यपि भक्त को स्वय कुछ देते नही हैं, फिर भी उनकी भक्ति करने से अन्तरात्मा इतनी पवित्र हो जाती है जिससे सभी शक्तियाँ अपने आप प्राप्त हो जाती हैं। लक्ष्मी को प्राप्त कर अपने कर्तव्य को भूल जाना बडी भारी मूर्खता है। गृहस्थ के देव-पूजा, गुरु-भक्ति स्वाध्याय, सयम, तप और दान इन षट् कर्मो मे देव पूजा को प्रथम स्थान दिया है, क्योकि भगवान् की पूजा, अर्चा करने से अपने कर्तव्य कर्म का ज्ञान प्राप्त होता है तथा आत्मा मे अनेक गुणों का आविर्भाव होता है, मानवोचित गुणो की प्राप्ति होती है, इन्द्रियो की दासता समाप्त हो जाती है तथा आत्मा का बोध हो जाता है।

प्रभु भक्ति करने से ससार से वैराग्य हो जाता है। चचल लक्ष्मी, यौवन, पुत्र, स्त्री आदि पदार्थों की विनाशीकता को समझ जाता है। उसे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान हो जाता है। प्रतिदिन भगवान् के दर्शन करने से आत्मा मे अपूर्व शक्ति आ जाती है, भोगोपभोग के पदार्थ उसे फीके जँचने लगते है तथा ऐसा भक्त जीव इन पदार्थों को पर समझने लगता है। उसे प्रभु भक्ति मे अपूर्व रस और आनन्द आता है, वह समस्त ससार के भोगो में नीरसता का अनुभव करने लगता है। क्रोध, मान माया और लोभ ये चारों कषायें जिनके कारण इस जीव को रात-दिन व्याकुलता बनी रहती है, मन्द हो जाती है। प्रभु-भक्ति से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाने पर आत्मा मे अपरिमित शक्ति आ जाती है। वह किसी भी असभव कार्य को कर सकता है, नाना प्रकार की विपत्तियाँ आने पर भी वह कार्य से डिगता नही है। दया और क्षमा की अपूर्व प्रवृत्ति उसमे उत्पन्न हो जाती है। आत्मा के गुणो का आविर्भाव हो जाने से वह सोचता है कि—

लक्ष्मीं व्याधमृगीमतीवचपलामाश्रित्य भूपा मृगाः
पुत्रादीन्नपरान्मृगानतिरुषा निघ्नन्ति सेर्ष्यं किल।

सज्जीभूतघनापदुन्नतधनु'   संलग्नसंद्दन्छर ।
नो पश्यन्ति समीपमागतमपि क्रुद्ध यमं लुब्धकम् ॥

जिन समय कोई शिकारी हिरणों को मारने के लोभ से अपनी पालतू मृगी को वन मे छोड देता है तथा स्वय हाथ में धनुष लेकर पास में बैठ जाता है, उस समय जिस प्रकार कामी मृग उस मृगी को पाने के लिए लडते हैं तथा आयी हुई आपत्ति का कुछ भी ध्यान नही करते हैं, उसी प्रकार यह संसारी जीव शिकारी की मृगी के समान इन लक्ष्मी को पाकर परस्पर लडते हैं तथा उस लक्ष्मी के लिए अपने मित्र, बन्धु, पुत्र आदि को मार डालते हैं। वे यह नहीं समझते कि यह लक्ष्मी हमारे साथ जाने वाली नहीं है। इसका आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नही है, लक्ष्मी को अपना मानने से कितने सकट आवेंगे तथा क्या-क्या आपत्तियाँ भोगनी पड़ेंगी। जीवन भी क्षणिक है, यमराज का भय सिर पर छाया हुआ है अत इस हाय-हाय के फन्दे मे पडने से क्या लाभ ?

इस ससार में विपत्तियाँ तो आती ही हैं। जो विपत्तियों के प्राप्त होने पर खेद करता है, या पश्चात्ताप करता है वह विवेकशून्य ही माना जायगा। विवेकी पुरुष संसार मे रहता हुआ भी इनसे भिन्न ही रहता है। ससार की मोह माया या तृष्णा उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं करती है, वह तटस्थ भाव से ससार का दर्शक बना रहता है। पदार्थों के विकल्प उसके मन में उत्पन्न होते हैं, उसके ज्ञान पर उनका चित्र आता है पर वह उनमें अनुरक्त नही होता है। वह सर्वदा अपने को पर पदार्थों से भिन्न समझता और विनीत रहता है।

विनीत का लक्षण

विनीत के लक्षण का जब तक ज्ञान न हो जाय तब तक विनय का स्वरूप जाना नहीं जा सकता है। किसी कवि ने कहा है कि—

आज्ञानिर्देशकर: गुरूणामुपपातकारक. ।
इंगिताकारसम्पन्न. स विनीत इत्युच्यते ॥

आचार्य आदि की आज्ञा को मानने वाले, उनके निकट रहने वाले, सूक्ष्म बुद्धि वालों से जानने योग्य गुरु आदि की भ्रूचालन आदि चेष्टा आकार, स्थूल बुद्धि वालो से भी समझने योग्य गमनादि सूचक दिशा की अवलोकनादि चेष्टा। गुरु आदि की इन दोनो बातो को अच्छी तरह से जानने वाला जो शिष्य होता है वह तीर्थंकर गणधर आदि के द्वारा विनीत कहा गया है।

यह करो, यह न करो इस प्रकार विधिरूप और निषेध रूप जो गुरु के वचन हैं वे आज्ञा शब्द से ग्रहण किए गए हैं। आपके वचन के अनुसार ही प्रवृत्ति करने का भाव है, अन्यथा नही, इस प्रकार शिष्य का कथन निर्देश है। इस निर्देश का अच्छी तरह से पालन करने वाला अज्ञानी निर्देशकार है अथवा अज्ञात तीर्थंकर प्रभु की वाणी के द्वारा अपवाद मार्ग का उपदेश अर्थात् विधान के अनुसार करने वाला अज्ञानी निर्देशकार कहा जाता है। उपपात शब्द का अर्थ है समीप बैठना। शिष्य का कर्तव्य है कि वह सदा अपने गुरु के समीप बैठे। उसकी आज्ञा का पालन करे। गुरु का अभिप्राय परखना यह साधारण बात नही है। यह बात तभी सीखी जाती है जब शिष्य उनके पास ही बैठे, अन्यथा नही। विनीत गुरु की सेवा करने से आत्म कल्याण करता है।

इस पर एक दृष्टान्त यह है कि—

धर्मसिंह आचार्य के गुणनिधि नाम का एक शिष्य था। वह सुबुद्धि एव प्रकृति भद्र था, विनीत था। गुरु महाराज के पास बैठना, उनके वचन के अनुसार चलना, उनकी मनोवृत्ति के अनुकूल काम करना इत्यादि सब गुणों से सहित था। जब गुरु महाराज बुलाते तो विनय पूर्वक आसन देता। जब वह जाते तो आसन लेकर पीछे पीछे चलता। जहाँ गुरु महाराज बैठना चाहते वहाँ आसन बिछा देता। गुरु महाराज की आज्ञा कब और कैसे होगी उसकी प्रतीक्षा करता था। जिस प्रकार वह माँगते थे, उस उस ऋतु मे वही वस्तु गुरु महाराज को देता। गुरु ने जो कुछ कहा वही करना, यह समझकर कि गुरु महाराज कभी

भी अहित नहीं कर सकते। क्योंकि यह मेरे हितकारी हैं इस अभिप्राय से वह सदा गुरु की आज्ञा का पालन करता था। वह विश्वास रखता कि गुरु माता पिता से भी अधिक हितकारी होते हैं। माता-पिता तो इस जीव को प्रत्येक भव में प्राप्त होते हैं परन्तु मोक्ष का मार्ग वताने वाले गुरु बड़े भाग्य से मिलते हैं। गुरु का समागम बहुत दुर्लभ है। आत्म ज्ञान की प्राप्ति इनसे ही होती है। यहां तो कालत्रय में सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता है। जिस प्रकार सिद्धाजन आँखों में आंजने से जीवों को भूमिगत धन को देखने का कथन है उसी प्रकार गुरु की कृपा से आत्म ज्ञान का सभरण होने लगता है। जैसे दुग्ध के विलोने से मक्खन का मिलना कठिन है उसी प्रकार रत्नत्रय का भी मिलना कठिन है। धन्य है गुरु महाराज। धर्मसिंह ने गुरु की स्तुति की जो इस प्रकार है—हे गुरु महाराज! आप मेघ की तरह मेरे चित्त रूपी चातक को करुणा रस से प्रमुदित करने वाले हैं। शम दम आदि गुण स्वरूप उद्यान को हरा-भरा बनाने वाले हैं। हे करुणा सागर! जब तक आपकी करुणा रसार्द्र दृष्टि जीव पर नहीं पड़ती तब तक उन्हें सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता है। सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना जीव कभी भी तत्वातत्वविवेक रूप अमृत से भरी हुई भावना को अपने में नहीं भर सकता। अमृत भावना भरे बिना विशुद्ध ज्ञान कभी भी नही हो सकता। विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के बिना जीव को क्षपकश्रेणी की प्राप्ति नहीं हो सकती है। शुक्ल ध्यान के दूसरे पाये की प्राप्ति के बिना केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। केवल ज्ञान की प्राप्ति के बिना शैलेशी अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। शैलेशी अवस्था की प्राप्ति के बिना सकल कर्मों का क्षय नहीं हो सकता है। मुक्ति की प्राप्ति के बिना अमर पद नहीं मिल सकता है। इसलिए हे नाथ! आप ही सकल कल्याण के कारण हैं और प्रतिक्षण आपके चरणों में हमारी नियम आराधना है। इस प्रकार अपने गुरु की आज्ञा पालन करता रहा और थोड़े ही काल में उसने आत्म-कल्याण किया। इसी तरह प्रत्येक भव्य मानव को गुरु सेवा, भगवान जिनेन्द्रदेव की भक्ति

करने से इह लोक और परलोक मे सुख देने वाला और अन्त मे मोक्ष का मार्ग प्राप्त कराने वाला यह विनय गुण है, इसलिए कभी भी विनय को नही त्यागना चाहिए।

प्रभु की भक्ति के लिए इन्द्र भी तत्पर रहता है

सुरपं तन्निभवित्त्तु मावतिगनप्पं कांतेयिं पाडिप ।
सुरसैन्यं सहवागि निम्मभिषवक्कोल्दूळिगं माळपना- ।।
दरदिं छत्रमनेत्तुवं नटिसुवं पल्लक्किकयं ताळ्वनो ।
नरकीटादिगळेके गर्विसुवरो रत्नाकराधीश्वरा! ।।८१।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

देवेन्द्र आपकी सेवा में अपना ऐरावत नामक हाथी समर्पित कर महान् बन जाता है, अपनी पत्नी से गान करवाता है देवताओ की सेना के साथ आपके अभिषेक के लिए प्रेमपूर्वक सेवा करता है, विश्वास के साथ छत्र धारण करता है, नर्तन करता है और पालकी को उठाता है। जब इन्द्र की यह दशा है तो तुच्छ मनुष्य क्यो इतना अहकार करता है ?

प्रभु-भक्ति करने के लिए, इन्द्र, अहमिन्द्र, राजा, महाराजा आदि सभी तरसते रहते हैं। जो भगवान् की भक्ति करता है, उनके गुणो मे लीन होता है वह धन्य है। वह अपनी पर्याय को सफल करता है, महान् पुण्य के सचय के साथ परम्परा से मोक्ष को पाता है। अज्ञानी जीव जो मोह कर्म की प्रेरणा से तृष्णा रूपी रोग से पीडित हैं, इस रोग को शान्त करने के नाना उपाय करते हैं, इन्द्रिय विषयों की ओर दौड लगाते हैं, पर इससे उनका रोग और बढ जाता है, घटता नही। इस तृष्णा को दूर करने के लिए नाना प्रकार के पाप और अत्याचार करते हैं जिससे कर्मों का दृढ बन्धन बांधते हैं।

भगवान् की भक्ति करने से, उनके दिव्य गुणो का चिन्तन करने से इस भवरोग को शान्त करने का उपाय समझ मे आ जाता है।

आत्मानुभव रूपी दिव्य औषध के सेवन से मोह, रागद्वेष आदि का रोग दूर हो जाता है जिससे जीव स्वस्थता और निराकुलता का अनुभव करने लगता है। यद्यपि वीतरागी प्रभु किसी भी भक्त को किसी भी प्रकार का सुख या मुक्ति नहीं देते हैं और न संसार रोग को शमन करते हैं पर उनका निमित्त प्राप्त कर कोई भी जीव मुक्त हो सकता है। आत्मशुद्धि उसे अपने ध्यान रूपी पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त हो जाती है। आत्मा का निश्चय रूप से गुरु आत्मा ही है, क्योंकि अपने भीतर स्वयं हित की लालसा उत्पन्न होती है तथा स्वयं अपने को ही मोक्ष का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है तथा अपने को ही अपने हित के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। श्री अर्हन्त भगवान्, निर्ग्रन्थ गुरु और शास्त्र आदि वाह्य प्रेरक तथा उदासीन निमित्त हैं, इनके अवलम्बन से आत्मा कल्याण मार्ग को पा सकता है। जो स्वय पुरुषार्थ नहीं करते हैं, उन्हें मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है।

संसार के सभी पदार्थ क्षणभगुर हैं, इनकी अनित्यता को देख कर भगवान् की भक्ति करना तथा ध्यान और तपश्चरण द्वारा कर्म कालिमा को पृथक् करना आवश्यक है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति जानता है कि माता, पिता, पुत्र, स्त्री, भाई, वहिन, हितू, मित्र सबका वियोग अवश्यम्भावी है। लक्ष्मी आज जिनके पास है, कल नहीं रहेगी, जो आज राजा है कल रंक हो सकता है, जो आज निरोगी है, कल रोगी हो सकता है; जो आज अधिकारी है, जिसका आदेश सहस्रों व्यक्ति सिर मस्तक पर स्वीकार करते हैं कल दीन हो सकते हैं। जो आज युवा है, जिसके हृदय में युवावस्था की तरंगें वर्तमान हैं, जो प्रत्येक कार्य को जोश और खरोश के साथ करता है, जिसे दीन दुनिया का कोई ज्ञान नहीं, कल वहीं बुड्ढा हो दुरदुराया जाता है। घर वाले उसे पूछते नहीं, लड़के-बच्चे उसे तग करते हैं, गाल पिचक जाते हैं, आँखें घस जाती हैं तथा दृष्टि मन्द हो जाती है, कमर टेढी हो जाती है, लाठी के बिना उससे चला नहीं जाता, लार और थूक जैसे घिनौने

पदार्थ उसके मुह से निकलते रहते हैं। देखते-देखते अवस्था बदल जाती है, मनुष्य कुछ-का-कुछ हो जाता है। जवानी मे जिस चीज की कल्पना भी कभी नही की थी, वह आकर घटित हो जाती है। सारी दुनिया बुड्ढे के लिए बदल जाती है। जिन्हे वह अपना समझता था, जिससे स्नेह करता था, वे सब किनारा काटने लगते हैं।

जब मरण का समय आ जाता है तो मणि, मन्त्र, वैद्य, डाक्टर, जादूगर, वैज्ञानिक कोई नही बचा सकता है। सभी हितैषी देखते रह जाते हैं और जीव इस नाशवान् शरीर को छोड कर चल देता है। अत मैं मनुष्य हूँ, मैं अज्ञानी हूँ, मैं चरित्रवान् हूँ, मैं त्यागी हूँ, आदि मे लगे "मैं" रूप अहकार का त्याग करना चाहिए। जब तक यह अहकार मनुष्य मे लगा रहता है तब तक वह प्रभु-भक्ति और आत्मचिंतन से वचित रहता है। अत ससार और आत्मा इन दोनों के स्वरूप का विचार करते हुए प्रत्येक मनुष्य को भगवान् की पूजा, स्वाध्याय, सयम, गुरु-भक्ति, शक्ति के अनुसार तप आदि मे प्रवृत्त होना चाहिए। गृहस्थ का सबसे बडा हित प्रभु-भक्ति करने मे है। इससे उसे अपने आत्मोत्थान का मार्ग आगे अवश्य मिल जाता है।

गर्भकल्याणक का वर्णन

कवि ने इस श्लोक में भगवान् के जन्म कल्याणक के समय का वर्णन किया है। जिस समय तीर्थंकर भगवान् गर्भ मे आते हैं उससे छै महीने पहले प्रथम स्वर्ग का इन्द्र कुबेर को भेज कर भगवान् के पिता की नगरी की नवीन रचना करवाता है। जिसमे बहुत ही सुन्दर रत्नमय मन्दिर, वन, उपवन, खाई और कोट होते हैं। जिसको देखकर समस्त जनो को आनन्द होता है।

उसी समय से कुबेर द्वारा भगवान् के पिता के आगन मे प्रति दिन रत्नो की वर्षा होती है। जो गर्भ के नव महीने सहित पन्द्रह महीने तक होती है। रुचिक पर्वत पर रहने वाली देवियाँ माता की सेवा करने

लगती हैं।

जिस दिन भगवान् गर्भ मे आते है, उस रात्रि को माता को सोलह स्वप्न दिखाई देते है। वह प्रात. ही अपने स्वामी से उनका फल पूछती है। भगवान् के पिता अपने अवधिज्ञान से विचार कर उत्तर देते हैं कि हे देवी! आज तुम्हारे घर में तीन लोक के स्वामी तीर्थंकर आये हैं। माता-पिता दोनों ही इस बात से आनन्दित होते हैं। भगवान् के जन्म तक बहुत खुशी मनाते हैं।

जब भगवान का जन्म होता है, तब सौधर्म इन्द्र अपने ऐरावत हाथी पर चढ़ कर आता है। तथा चारो निकाय के देवता भी आते हैं। और वे भगवान् को सुमेरु पर्वत की पाण्डुक शिला पर लेजाते हैं। वहाँ क्षीरसागर के पवित्र जल से भरे हुए १००८ कलशो से सौधर्म और ऐशान इन्द्र भगवान का अभिषेक करते हैं। जन्म कल्याणक का सुन्दर वर्णन करते हुए कवि रूपचन्द भावपूर्ण छन्दों मे कहते है।—

तिहिं करि चढि हरि आयउ, सुर परिवारियो।
पुरिहि प्रदच्छन दे त्रय, जिन जयकारियो॥
गुप्त जाय जिन जननिहिं, सुखनिद्रा रची।
मायामय सिसु राखि तो, जिन आन्यो सची॥
आन्यो सची जिन रूप निरखत, नयन तृपति न हूजिये।
तब परम हरषित हृदय हरि ने, सहस लोचन पूजिये॥
पुनि करि प्रणाम जु प्रथम इन्द्र, उमंग धरि प्रभु लीनऊ।
ईशान इन्द्र सुचन्द छवि, सिर छत्र प्रभु के दीनऊ॥
सनतकुमार महेन्द्र, चमर दुइ ढारही।
सेस सक्र जयकार, सबद उच्चारहीं॥
उच्छव सहित चतुरविध, सुर हरषित भये।
जोजन सहस निन्यानव, गगन उलंघि गये॥

लघि गये सुरगिर जहा पाण्डुक, वन विचित्र विराजही।
पाडुकसिला तह् अर्ध चन्द्रसमान, मणि छवि जाजही॥
जोजन पचास विसाल, दुगृणायाम, वसु ऊची गनी।
वर अष्टमगल कनक कलसनि, सिंहपीठ सुहावनी॥

रचि मणिमडप सोभित, मध्य सिंहासनो।
थाप्यो पूरब मुख तहँ, प्रभु कमलासनो॥
बाजहिं ताल मृदग, वेणु बीना घने।
दुन्दुभि प्रमुख मधुरधुनि, अबर जु बाजने॥

बाजने बाजहिं सची सब मिलि, धवल मगल गावही।
पुनि करहिं नृत्य सुरागना सब, देव कौतुक धावही॥
भरि छीरसागर जल जु हाथहि, हाथ सुरगिरि ल्यावही।
सौधर्म अरु ईशान इन्द्र, सु कलश ले प्रभु न्हावही॥

वदन उदर अवगाह, कलसगत जानिये।
एक चार वसु जोजन, मान प्रमानिये॥
सहस अठोत्तर कलसा, प्रभु के सिर ढरे।
पुनि सिंगार प्रमुख, आचार सबै करे॥

करि प्रगट प्रभु महिमा महोच्छव, आनि पुनि मातहिं दये।
धनपतिहिं सेवा राखि सुरपति, आप सुरलोकहिं गये॥
जन्माभिषेक महत महिमा, सुनत सब सुख पावही।
भणि 'रूपचन्द' सुदेव जिनवर, जगत मगल गावही॥

कलशों का मुख १ योजन, पेट ४ योजन, और गहराई ८ योजन होती है। ऐसे १००८ कलशो से जिनराज का अभिषेक किया जाता है।

जिस समय मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, और अवधिज्ञान सहित तीर्थंकर भगवान् का जन्म होता है, उस समय तीनों लोको मे आनन्द हो जाता है। अतिशय दुखी नारकी भी क्षण भर को शान्ति पा लेते हैं। उस समय पहले स्वर्ग के इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है। समस्त कल्पवासी देवो के विमानो मे विना बजाये ही घण्टा, ज्योतिष्क देवो के विमानो में सिहनाद, भवनवासियों के भवनों मे शख और व्यन्तरो के भवनो में नगाड़े वजने लगते हैं।

इन्द्र इन घटनाओं से अवधिज्ञान द्वारा भगवान् का जन्म हुआ जानकर कुवेर द्वारा एक बडा मायामय ऐरावत हाथी बनवाता है। प्रथम स्वर्ग का इन्द्र उस पर चढ़कर परिवार तथा समस्त जाति के इन्द्र और देवो सहित आता है और जय-जय शब्द करता हुआ नगरी की प्रदक्षिणा (परिक्रमा) देता है।

इन्द्राणी प्रसूति गृह मे जाकर भगवान् की माता को माया से सुला वहाँ वैसा ही मायामय (कृत्रिम) अन्य वालक रखकर भगवान् को वाहर लाती है। भगवान् का रूप देखता हुआ इन्द्र जब तृप्त नही होता तब हजार नेत्र वनाता है और भगवान् के त्रिलोक सुन्दर रूप के दर्शन करता है।

तत्पश्चात् सौधर्म इन्द्र प्रणाम कर भगवान् को ऐरावत हाथी पर अपनी गोद में विठाता है। दूसरा ईशान इन्द्र छत्र लगाता है, तीसरे और चौथे स्वर्ग के इन्द्र चमर ढोरते हैं। शेष इन्द्र जय-जय शब्द करते हैं। इस प्रकार परम हर्षित होते हुए चारो निकाय के देव भगवान् को सुमेरु पर्वत पर ले जाते हैं।

सुमेरु की पाण्डुक शिला पर रखे हुए रत्नमय सिहासन पर भगवान् को उनका मुख पूर्व की ओर कर विराजमान करते हैं। उस समय अनेक प्रकार के वाजे वजते हैं। इन्द्राणियाँ मगल गाती हैं। देवांगनाएँ नृत्य करती हैं। देवगण क्षीर समुद्र से १००८ (एक हजार आठ) कलश भर कर हाथों हाथ लाते हैं।

सौधर्म और ईशान इन्द्र भगवान् का अभिषेक करते हैं। फिर उनका शरीर पोछकर स्वर्गीय वस्त्राभूषण पहना कर ऐरावत हाथी पर बिठा कर बडा आनन्द और उत्साह मनाते हुए जन्म नगरी को लौटते हैं। भगवान् को माता की गोद में देकर उनकी सेवा के लिए कुबेर तथा कुछ देवो को छोडकर सभी इन्द्र और देव अपने-अपने स्थान पर चले जाते है।

तपकल्याणक

श्रमजलरहित सरीर, सदा सब मल रहिउ।
छीर वरन वर रुधिर, प्रथम आकृति लहिउ॥
प्रथम सार सहनन, सरूप विराजही।
सहज सुगध सुलच्छन, मडित छाजही॥

छाजहिं अतुलबल परम प्रिय हित, मधुर वचन सुहावने।
दस सहज अतिशय सुभग, मूरति, बाल लील कहावने॥
आवाल काल त्रिलोकपति मन, रुचिर रचित जु नित नये।
अमरोपनीत पुनीत अनुपम सकल भोग विभोगये॥

भव तन भोग विरत्त, कदाचित चितए।
धन यौवन पिय पुत्त, कलित अनित्तए॥
कोउ न सरन मरनदिन, दुख चहुँगति भर्यो।
सुख दुख एकहि भोगत, जिय विधिवसि पर्यो॥

पर्यो विधिवस आन चेतन, आन जड जु कलेवरो।
तन असुचि परते होय आस्रव, परिहरे तै संवरो॥
निरजरा तपवल होय समकित, विन सदा त्रिभुवन भम्यो।
दुर्लभ विवेक बिना न कवहूं, परम धरम विषै रम्यो॥

ये प्रभु बारह पावन, भावन भाइया ।
लौकांतिक वर देव, नियोगी आइया ॥
कुसुमांजलि दे चरन, कमल सिर नाइया ।
स्वयवुद्ध प्रभु थुतिकर, तिन समुझाइया ॥

समुझाइ प्रभु को गये निजपुर, पुनि महोच्छव हरि कियो ।
रुचि रुचिर चित्र विचित्र सिविका, कर सु नन्दन वन लियो ॥
तह पचमुट्ठी लोच कीनो, प्रथम सिद्धनि नुति करी ।
मडिय महाव्रत पंच दुद्धर सकल परिगह परिहरी ॥

मणिमयभाजन केश परिट्ठिय सुरपती ।
छीरसमुद जल खिपकरि, गयो अमरावती ॥
तपसयमवल प्रभु को मनपरजय भयो ।
मौन सहित तप करत, काल कछु तह गयो ॥

गयो कछु तह काल तपबल, रिद्धि वसुविधि सिद्धिया ।
जसु धर्मध्यानवलेन खयगय, सप्त प्रकृति प्रसिद्धिया ॥
खिपि सातवें गुण जतनविन तहं, तीन प्रकृति जु वुधि वढिउ ।
करि करण तीन प्रथम सुकलवल, खिपकसेनी प्रभु चढिउ ॥

प्रकृति छत्तीस नवें, गुण थान विनासिया ।
दसवें सूक्ष्मलोभ, प्रकृति तहं नासिया ॥
सुकल ध्यानपद दूजो, पुनि प्रभु पूरियौ ।
वारहवें गुण सोरह, प्रकृति जु चूरियौ ॥

चूरियो त्रेसठ प्रकृति इहविध, घातियाकरमनि तणी ।
तप कियो ध्यानपर्यन्त वारह-विधि त्रिलोकसिरोमणी ॥

निःक्रमणकल्याणक सु महिमा, सुनत सब सुख पावही ।
भणि रूपचन्द सुदेव जिनवर, जगत मगल गावही ॥

ज्ञानकल्याणक

तेरहवें गुणथान सयोगि जिनेसुरो ।
अनंतचतुष्टयमडित, भयो परमेसुरो ॥
समवसरन तव धनपति, वहुविधि निरमयो ।
आगमजुगति प्रमान, गगनतल परिठयो ॥

परिठयो चित्र विचित्र मणिमय, सभामण्डप सोहये ।
तिहिमध्य वारह वने कोठे, कनक सुरनर मोहये ॥
मुनि कलपवासिनि अरजिका पुनि ज्योति भौमि-व्यन्तरतिया ।
पुनि भवनव्यतर नभग सुरनर पसुनि कोठे बैठिया ॥

मध्यप्रदेश तीन, मणिपीठ तहा वने ।
गधकुटी सिहासन, कमल सुहावने ॥
तीन छत्र सिर सोहत त्रिभुवन मोहए ।
अन्तरीच्छ कमलासन, प्रभुतन सोहए ॥

सोहये चौसठ चमर ढरत, अशोकतरुतल छाजए ।
पुनि दिव्यधुनि प्रतिसबदजुत तह, देव दुदभि वाजए ॥
सुरपुहुपवृष्टि सुप्रभामण्डल, कोटि रवि छवि छाजए ।
इमि अष्ट अनुपम प्रातिहारज, वर विभूति विराजये ॥

दुइसं जोजनमान सुभिच्छ चहूँ दिसी ।
गगनगमन अरु प्राणी, वध नहिं अहनिसी ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
दरपनसम मनि अवनि, पवन गति अनुसरै ॥

अनुसरै, परमानन्द सबको, नारि नर जे सेवता ।
जोजन प्रमान धरा सुमार्जहि, जहा मारुत देवता ॥
पुनि करहि मेघकुमार गंधोदक सुवृष्टि सुहावनी ।
पदकमलतर सुर खिपहि कमलसु धरणि ससिसोभा बनी ॥

अमलगगनतल अरु दिसि, तह अनुहारही ।
चतुरनिकाय देवगण, जय जयकारही ॥
धर्मचक्र चलै आगे, रवि जहा लाजही ।
पुनि भृंगार प्रमुख, वसु मगल राजही ॥

राजही चौदह चारु अतिशय, देव रचित सुहावने ।
जिनराज केवलज्ञान महिमा, अवर कहत कहा बने ॥
तब इन्द्र आय कियो महोच्छव, सभा सोभा अति बनी ।
धर्मोपदेश दियो तहा, उच्चरिय वानी जिनतनी ॥

छुधातृषा अरु राग, रोष असुहावने ।
जनम जरा अरु मरण, त्रिदोष भयावने ॥
रोग सोग भय विस्मय, अरु निद्रा घनी ।
खेद स्वेद मद मोह, अरति चिन्ता गनी ॥

गनिये अठारह दोष तिनकरि रहित देव निरंजनो ।
नव परम केवललब्धिमडिय सिवरमनि-मनरजनो ॥
श्रीज्ञानकल्याणक सुमहिमा, सुनत सब सुख पावही ।
भणि "रूपचन्द" सुदेव जिनवर, जगत मगल गावही ॥

निर्वाण कल्याणक

केवलदृष्टि चराचर, देख्यो जारिसो ।
भव्यनि प्रति उपदेश्यो, जिनवर तारिसो ॥
भव भय भीत भविकजन, सरणै आइया ।
रत्नत्रयलच्छन सिवपथ लगाइया ॥

लगाइया पंथ जु भव्य पुनि प्रभु तृतीय सुकल जु पूरियो ।
तजि तेरवा गुणथान जोग अजोगपथ पथ धारियो ॥
पुनि चौदहे चौथे सुकलबल बहत्तर तेरह हती ।
इमि घाति बसुविध कर्म पहुँच्यो, समय मे पंचमगती ॥

लोकसिखर तनुवात, बलयमहं सठियो ।
धर्मद्रव्यविन गमन न, जिहि आगै कियो ॥
नखनरहित मूषोदर, अंबर जारिसो ।
किमपि हीन निजतनुतैं, भयो प्रभु तारिसो ॥

तारिसो पर्जय नित्य अविचल, अर्थपर्जय छनछनी ।
निश्चयनयेन अनतगुण, विवहार नय वसुगुणमयो ॥
वस्तुस्वभाव विभावविरहित, शुद्ध परिणति परिणयो ।
चिद्रूपपरमानंद मंदिर, सिद्ध परमातम भयो ॥

तनुपरमाणु दामिनिवत, सब खिरगये ।
रहे शेष नखकेश-रूप जे परिणए ॥
तब हरिप्रमुख चतुरविधि, सुरगण शुभ सच्यो ।
मायामयि नखकेश-रहित, जिनतनु रच्यो ॥

रचि अगरचंदन प्रमुख परिमल, द्रव्य जिन जयकारियो ।
पदपतित अगनिकुमार मुकुटानल, सुविध संस्कारियो ॥
निर्वाणकल्याणक सु महिमा, सुनत सब सुख पावहीं ।
भणि "रूपचंद" सुदेव जिनवर, जगत मंगल गावही ॥

मैं मतिहीन भगतिवस, भावन भाइया ।
मंगल गीनप्रबंध, सु जिनगुण गाइया ॥
जो नर सुनहि बखानहि सुर धरि गावही ।
मनवांछित फल सो नर, निहचै पावहीं ॥

पावही आठों सिद्धि नवनिध, मन प्रतीत जो लावहीं ।
भ्रम भाव छूटैं सकल मनके निज स्वरूप लखावही ॥
पुनि हरहि पातक टरहि विघन सु होहि मंगल नितनये ।
भणि "रूपचन्द" त्रिलोकपति, जिनदेव चउसंघहि जये ॥

इस प्रकार पांच प्रकार के कल्याणक हैं। इसी प्रकार भव्य जीवों को भगवान की भक्ति करने से अनेक प्रकार का पुण्य-बन्ध होता है और जिनेन्द्र की सेवा करके अपने पर्याय को सफल बना लेता है।

दोरेयेनं पिडिदिर्पनंतदने ळोक मेच्चुंगु नद्धरा।
वरनादुर्मतदत्त तानेळसिदंदा सार्दरं तन्नुवं ॥
नरकक्किक्किदोल्दु निम्ममतदत्तिच्छैसिदंदा तनु-
द्धरिसल्दाने समर्थनादनररे रत्नाकराधीश्वरा ॥८२॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

राजा जिस विषय को स्वीकार करता है, प्रजा भी उसी विषय को स्वीकार करती है। राजा अपना तथा अपनी प्रजा का उद्धार करने वाला होता है। किन्तु जब वह बुरे विचारो का अनुसरण करने लगता है तब वह और उसकी प्रजा नरक मे जा गिरती है। अर्थात् प्रजा हितैषी होने के कारण राजा को सर्वदा धार्मिक प्रवृत्ति रखना आवश्यक है।

इस श्लोक में कवि ने बतलाया है कि जैसा राजा होता है वैसी प्रजा होती है। इसलिए राजा को हमेशा धर्म नीति का वर्ताव करना चाहिए। सोमदेव आचार्य ने नीतिवाक्यामृत में कहा है कि—

परिपालको हि राजा सर्वेषा धर्मषष्ठाशमवाप्नोति ॥

जो राजा समस्त वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करता है वह उस धर्म के छठे भाग के फल को प्राप्त होता है।

मनु विद्वान् ने लिखा है कि जो राजा समस्त वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करता है, उसे नष्ट होने से बचा लेता है, वह उस धर्म के छठवें अश के फल को निस्सदेह प्राप्त होता है।

अन्य मतो के ऋपियो द्वारा राजा के सम्बन्ध मे बडे सम्मानपूर्ण उल्लेख मिलते हैं।

यदाह वैवस्वतो मनु —

उन्छषड्भागप्रदानेन वनस्था अपि तपस्विनो राजान-सम्भावयन्ति। तस्यैव तद्भूयात् यस्तान् गोपायति इति ॥

वैवस्वतमनु हिन्दू धर्म के शास्त्रकार हैं। उन्होने कहा है कि वन-वासी तपस्वी लोग भी जो कि स्वामीरहित एव निर्जन पर्वत आदि प्रदेशो मे वर्तमान धान्यादि के कणो से अपना जीवन निर्वाह करते हैं, राजा को अपने द्वारा सञ्चित धान्यकणो का छठवा भाग देकर अपने द्वारा किये हुए तप के छठवें भाग से उसकी उन्नति की कामना करते हैं, एव अपनी क्रिया के अनुष्ठान के समय यह सकल्प करते हैं कि "जो राजा तपस्वियों की रक्षा करता है उसको ही हमारे द्वारा आचरण किया हुआ तप या उसका फल प्राप्त होवे।

वैष्णव सम्प्रदाय के तपस्वी गण भी न्यायवान् राजा की उन्नति के इच्छुक होते है। जिसके फलस्वरूप वे स्वसचित धान्य कणो का छठवा हिस्सा राजा को देकर सकल्प करते हैं।

कौन वस्तु इष्ट है और कौन अनिष्ट है इसका निर्णय—

तदमगलमपि नामगलं यत्रास्यात्मनो भक्ति ॥

जिस पदार्थ में जिसे प्रेम होता है, वह अनिष्ट, अमगलीक (अशुभ) होने पर भी उसके लिए इष्ट-मगलीक है।

उदाहरण मे लूला-काणा व्यक्ति कार्य के आरम्भ मे अमगलीक समझा जाता है, परन्तु जो उससे प्रेम रखता है वह उसके लिए इष्ट ही है।

भागुरि विद्वान् ने भी कहा है कि जो पदार्थ जिसके लिए प्रिय है वह अप्रिय होने पर भी यदि उसके कार्य के आरम्भ में प्राप्त हो जावे, तो इष्ट समझा जाता है, क्योंकि उससे उसके कार्य की सिद्धि हो जाती है।

जो पदार्थ जिसके मन को प्रमुदित, हर्षित या सन्तुष्ट करते हैं वे उसके लिए मगलीक हैं।

मनुष्यों के कर्तव्य का निर्देश —

सन्यस्ताग्निपरिग्रहानुपासीत ।

मनुष्य को साधु-महात्माश्रो एव विद्वान् गृहस्थाचार्यों की उपासना-सेवा करनी चाहिए ।

साधु महात्मा श्रोर विद्वान् गृहस्थाचार्य वडे सदाचारी, स्वार्थ-त्यागी श्रोर वहुत विद्वान् होते है, श्रतएव इनकी सेवा-भक्ति से मनुष्य गुणवान् एव कल्याण का पात्र हो जाता है ।

वल्लभदेव विद्वान् ने लिखा है कि "मनुष्य जिस प्रकार के पुरुषो के वचनो को सुनता है श्रोर जैसो की सेवा श्रोर सगति करता है, वैसी ही प्रवृत्ति करने लग जाता है। श्रतएव नैतिक मनुष्य को साधु पुरुषो की सेवा करनी चाहिए ।

इस प्रकार राजा को प्रजा के प्रति हमेशा धार्मिक भावना रख करके श्रच्छा शासक वनना चाहिए । श्रगर राजनीति विगड जाय तो धर्म विगड जाता है । राजा को हमेशा श्रपनी प्रजा का शासन न्यायपूर्वक करना चाहिए।

विवेचन—साराश यह है कि ससार में प्रत्येक जीव श्रपने कर्म के श्रनुसार पुण्य श्रोर पाप का फल भोगते रहते हैं। जिस समय कर्म का उदय तीव्र होता है उसी समय व्यक्ति श्रनीति भी कर डालता है। उस समय उसे राजा के दण्ड का भागी होना पडता है। उस समय राजा दण्ड नीति के द्वारा उसको सन्मार्ग पर लगाने के लिए प्रयत्न करता है। यह राजनीति परम्परा से चली श्रा रही है।

ससार का प्रत्येक जीव इष्ट वियोग, श्रनिष्ट सयोग, रोग, दरिद्रता, श्रालस्य श्रादि के साथ साथ जन्म, जरा, मरण श्रादि के कष्टो को उठा रहा है। कर्म रूपी रोग से प्रत्येक जीव पीडित है, किसी को भी एक

क्षण के लिए शाति नही । कोई धन के लिए रोता है तो कोई सन्तान के लिए, कोई पुत्र के दुश्चरित्र होने से दुखी है तो कोई कन्या सतान के होने से । कोई स्त्री के लिए दु ख से व्याकुल है तो कोई स्त्री के कुलटा होने से । कोई मूर्ख होने से दुखी है तो कोई पढ लिख कर भी आजीविका न मिलने से । तात्पर्य यह है कि ससार में ऐसा प्राणी शायद ही होगा जो सर्व प्रकार से सुखी हो । वस्तुओ के अभाव से या उनके सद्भाव से सब कोई त्रस्त हैं, विह्वल हैं । इस भय या दु ख का प्रतीकार रत्नत्रय धर्म के द्वारा ही हो सकता है । यही धर्म जीव को कल्याण मार्ग पर लगा सकता है और ससार के समस्त झझटो, विपत्तियो और चिताओं से दूर कर सुख दे सकता है । श्री कुलभद्राचार्य ने ससार के दु खों का निरूपण करते हुए बताया है—

> कषायकलुषो जीवो रागरंजितमानसः ।
> चतुर्गतिभवाम्बोधौ भिन्ननौरिव सीदति ।।
> कषायवशगो जीवो कर्म बध्नाति दारुणम् ।
> तेनासौ क्लेशमाप्नोति भवकोटिषु दारुणम् ।।

क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायो से मलिन होकर जीव रागी मन वाला होता है, जिससे चतुर्गति रूपी संसार समुद्र मे टूटी नाव के समान डूबता हुआ कष्ट प्राप्त करता है । कषायो के आधीन जीव भयानक कर्म बाधता है । इनके फल से जीव अनन्तानन्त भवों मे नाना प्रकार के कष्ट प्राप्त करता है । अत ससार भ्रमण के कारण मिथ्यात्व का सर्व प्रथम त्याग करना आवश्यक है । यह मिथ्यात्व आत्मा का निश्चय विश्वास न होना तथा संसार के विषयो मे अबाध प्रवृत्ति अथवा देव, शास्त्र और गुरु के प्रति अविश्वास ऐसा भयानक विष है जिससे दूषित हुआ प्राणी रात दिन संसार के इन्द्रिय जनित सुखों की आकांक्षा के दाह से जलता रहता है । इस दाह को शान्त करने के लिए जीव

निरन्तर प्रयत्न करता रहता है । इच्छित पदार्थो का भोग करता है, पर तृष्णा या लालसा शान्त होने के स्थान मे और प्रज्वलित होती जाती है, जिससे अनवरत यह जीव चाह की दाह में जलता रहता है।

आर्त्त और रौद्र परिणाम निरतर इस जीव को होते रहते हैं, जिससे यह स्त्री, पुत्र, धनादि की वाछा करता रहता है । इन पदार्थो की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्नशील बना रहता है। यदि कदाचित् सत्समागम हो जाने पर इस जीव ने सद्धर्म भी ग्रहण कर लिया तो भी निदान फला-काक्षा करने से पुन कष्ट का पात्र हो जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व के संस्कार के कारण विपय सुख की तृष्णा मे जलता हुआ यह जीव चतुर्गति मे भ्रमण करता हुआ महान् कष्ट पाता है। यदि किसी समय मिथ्यात्व को दूर करने की औषध इसे आत्मानुभव रूप निश्चय सम्य-ग्दर्शन-आत्मा का अटूट विश्वास और विषय भोगो से विरक्ति प्राप्त हो गयी तो फिर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त कर निश्चय ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है। कषाय और प्रमाद, जिनके कारण पापमयी प्रवृत्ति निरन्तर होती रहती है, अवश्य दूर करने चाहिए। प्रमाद-असाव-धानी से अनेक भयकर से भयकर पाप होते हैं। जब तक जागरूकता रहती है, व्यक्ति इन्द्रियो के विषयो में प्रवृत्ति नहीं करता । मोह का उदय आने पर भी वह अपने ज्ञान बल से मोहोदय को परास्त करता है। परन्तु असावधानी के होने से पाप प्रवृत्ति अवश्य होती है। हिंसा, असत्य आदि पाँच पापो का प्रमुख कारण यह प्रमाद ही है। कषायो का अभाव भी प्रमाद से हो जाता है । अत सबसे पहले जीव को इन्द्रियो का निग्रह करना चाहिए। क्रोध, मान, माया और लोभ कषायो को भी आत्मा में उत्पन्न न होने देना चाहिए। निमित्त मिलने पर भी जो इन कषायो को नही उत्पन्न होने देते हैं, वे बडे भारी वीर हैं, आत्मा के सच्चे कल्याणकारी हैं। अत घर के बडे लोगो या राजा महाराजा आदि को निरन्तर धार्मिक प्रवृत्ति रखनी चाहिए। जो राजा या प्रमुख व्यक्ति स्वय धर्माचरण करता है, उसकी प्रजा भी उसी का अनुसरण

करती है। यदि राजा अधर्मात्मा होता है तो प्रजा भी उसकी देखा-देखी अधर्मात्मा बन जाती है। अत धर्माचरण करना परम आवश्यक है।

मनुष्य जन्म की सार्थकता

नररोळ्पुट्टि नरेंद्रनाददिनदोळ्सद्धर्ममं सन्मुनी—
श्वररं भव्यरनोलदु मन्निसियनाथर्गाश्रितर्गीवुतं।
परिवार प्रजेगळगे तायतेरदिंदो वुत्तमिर्प धरा—
वरनिंदा वर्दिलवके नाळिनवनै रत्नाकराधीश्वरा ॥८३॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

मनुष्य का जन्म लेकर जो राज पदवी को प्राप्त होता है वह श्रेष्ठ धर्म के पालन से, श्रेष्ठ मुनि तथा भव्य जनो का प्रेमपूर्वक उपचार करने से, अनाथ तथा अपने आश्रय में रहने वालों को दान देने से, सेवक और प्रजा की माता-पिता की तरह रक्षा करने से आज पृथ्वी का अधिपति बनता है और कल स्वर्ग का स्वामी।

कवि ने इस श्लोक मे यह बतलाया है कि मनुष्य जन्म प्राप्त करने के बाद मनुष्य राज पदवी को प्राप्त होता है तब वह अपने मनुष्य कर्तव्य के अनुसार देव पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, सयम, तप, दान इस प्रकार अपने कर्तव्य समझ करके मन पूर्वक आचरण करता है। तब उस आचरण के द्वारा होने वाले पुण्य बन्ध को प्राप्त होता है। उसी पुण्य के निमित्त से राजा चक्रवर्ती इत्यादि पद को प्राप्त होता है। आचार्य ने कहा भी है कि सत्पात्र दान से धनाढ्य होता है। उस धन को धर्म मे खर्च करने से श्रेष्ठ राजपद को प्राप्त होता है। अर्थात् इन्द्र पदवी प्राप्त होती है। पुन मानव जन्म ले करके धनाढ्य हो जाता है। पुन इन्द्रिय सुख का भोगी होता है। इस प्रकार सत्पात्र दान का महत्व बताया है। इसलिए भव्य जीव को हमेशा भगवान् की भक्ति करने एव सत्पात्र को दान देने से अपूर्व पुण्य की प्राप्ति होती है। ऐसा समझ कर जो श्रावक

अपनी शक्ति के अनुसार प्रति दिन भगवान की पूजा, प्रतिष्ठा, तथा धार्मिक उत्सव करने मे अपने धन का व्यय करता है, वह महान् पुण्य का बन्ध करता है। सम्पत्ति की सार्थकता दान मे ही है। इस चचल लक्ष्मी का कुछ भी विश्वास नही है कि आज है, कल रहेगी या नहीं। अत इसका सदुपयोग दान धर्म के कार्यों मे करना चाहिए। आगम मे दान का सामान्य, दोषद्, उत्तम, मध्यम, जघन्य, सकीर्ण, कारुण्य और औचित्य इन आठ प्रकारों के द्वारा वर्णन किया गया है। जिनोत्सव को सब प्रकार से सफल बनाने के लिए साधर्मी भाइयो के द्वारा दी गई सभी प्रकार की सहायता सामान्य दान है। इस दान मे पात्रो का विभाग नहीं किया जाता है, किन्तु भगवान् की प्रतिष्ठा या रथोत्सव आदि मे आर्थिक दृष्टि से किसी प्रकार की कमी रहने पर तन, मन और धन से दूर करना तथा उत्सव मे समागत साधर्मी भाइयो को भोजनादि से सतुष्ट करना सामान्य दान है। इस दान का ध्येय यह है कि किसी भी धार्मिक उत्सव को चाहे उसे एक व्यक्ति कर रहा हो या अनेक भाई सम्पन्न कर रहे हो, सभी साधर्मी बन्धुओ को उसे अपना समझना चाहिए और इस प्रभावना के कार्य को पूरा करने के लिए हर प्रकार से सहायता देना चाहिए। इस सामान्य दान का भी बडा महत्व है। इसके द्वारा कोई भी राज्य सुख और स्वर्ग सुखो को पा सकता है। पर दाता को दान अभि-मान-पोषण के लिए नही देना चाहिए। दान मे अहकार का भाव आ जाने से दान के फल मे अभाव या न्यूनता आ जाती है।

अन्याय से उपार्जित धन को दान मे लगाना दोषद दान है। क्योंकि अन्याय से उपार्जित द्रव्य जिसको दिया जायगा, उसकी भी बुद्धि निर्मल नही हो सकती है। जो पाप कर्म कर तथा पाप कार्यो से धनार्जन कर यह सोचते हैं कि इसमे से कुछ दान कर देने पर पाप धुल जायेंगे, अत दान कर दिया जाय अथवा जो व्यक्ति इस विचार के अनुसार दान कार्य करते हैं, उनका यह दान दोषद दान है। इस प्रकार के दान से पूरा पुण्य कभी नही मिल सकता है। हाँ, भावना दान करते समय निर्मल

रही तो इस प्रकार के दान मे भी पुण्य लाभ हो सकता है। दाता को न्याय से कमाये गये धन का दान करने मे अपरिमित फल मिलता है। अत. सदा न्याय से धनार्जन कर दान कार्य करना चाहिए।

दिगम्बर जैन मुनियो को, जिन्होंने अपनी आत्मा को रत्नत्रय से विभूषित कर लिया है आहार, शास्त्र आदि का दान देना उत्तम दान है। उत्तम पात्र दिगम्बर मुनि ही हैं, अत इनको भक्ति पूर्वक दान देना महान् पुण्य-बन्ध का कारण है।

ऐलक और क्षुल्लकों को एवं व्रती श्रावको को आहार आदि का दान करना मध्यम दान है। श्रावक के उत्कृष्ट व्रतों से इन्होंने अपनी आत्मा को विभूषित कर लिया है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारण करने से आत्मा पवित्र हो गई है एव वे मोक्ष मार्ग का अनुसरण करने वाले हैं, अत मध्यम पात्रों को भी दान देने से महान् पुण्य का सचय होता है। इस प्रकार के दान से दाता की आत्मा परम पवित्र हो जाती है, क्योंकि दाता द्वारा दिये गये दान से ही धर्म साधन का कारणीभूत शरीर स्थिर रहता है। अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक को आहार, औषध, ज्ञान और अभय इन चारों दानों को देना जघन्य दान है। ये तीनो दान पात्र की योग्यता पर आश्रित हैं। पात्र जैसा उत्तम, मध्यम और जघन्य होगा, दान भी वैसे कहे जायेंगे। ये तीनों दान स्वर्गादि सुखों के साथ परम्परा से निर्वाण प्राप्ति में सहायक होते हैं।

रथोत्सव, पचकल्याणक और जिन भक्तो के विवाह आदि कार्यो में आमन्त्रित पात्र, अपात्र आदि का यथायोग्य सम्मान कर आहार वस्त्र, ताबूल आदि द्वारा सत्कार करना सकीर्ण दान है। रोगी, दुखी, बन्धन-बद्ध, दण्डित, भूखे प्यासे को करुणा से दान देना तथा सकट से रक्षा करना करुणा दान है। भगवान् की सेवा मे तत्पर रहने वाले किसी भी जाति और कुल के व्यक्ति को आहार आदि से सन्तुष्ट करना औचित्य दान है। इस दान का अभिप्राय भोजकी, गायक आदि को द्रव्य देने से है। इस प्रकार जो दान करता है, उसे इस लोक में भी सुख मिलता है और

परलोक मे भी। दान करना प्रत्येक व्यक्ति का परम धर्म है, इससे राजपद का मिलना बहुत आसान है।

शरीर और सम्पत्ति का उपयोग जहाँ तक हो धर्म साधन में करना चाहिए।

एष्टेष्टैसिरि पच्चुंगुं तनगे तानष्टष्टु सद्धर्म कु—
त्कुष्टंमाडलेवेळ्कु नोपिगळना निर्ग्रंथरं निच्च सं—
तुष्टं माडलेवेळ्कु धार्मिकजनक्का धारवागल्के वे—
ळ्किष्टुं तां सुकृतानुबंधिसुकृतं रत्नाकराधीश्वरा ॥८४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सम्पत्ति जितनी बढे उतना ही अधिक उसका उपयोग श्रेष्ठ धर्म की अभिवृद्धि मे, पूजा और परिग्रह रहित मुनिजनो को प्रतिदिन सतोष-प्रद ढग से दान देने मे करना चाहिए। इन सभी कार्यो के करने से सुकृतानुबन्धी सुकृत होता है। सम्पत्ति का बढाना पाप नही, पाप है उसका दान धर्म मे व्यय न करना। अत दान करना अत्यावश्यक है।

अधिकाश व्यक्ति यह समझते हैं कि धैर्य धारण करने का अर्थ है सुख को छोडकर कष्ट सहन करना, क्योकि व्रत, उपवास करना, पूजा करना, दान देना, भोगोपभोग की वस्तुओ का त्याग करना धर्म है। इस धर्म का पालन करने के लिए अनेक कष्ट भी सहन करने पडते हैं। पर उनको सोचना चाहिए कि जैसे रोगी मनुष्य को पथ्य करने—स्वास्थ्य के विरुद्ध वस्तुओ का त्याग करने, अपने रहन-सहन को भी उसी के अनुसार रखने मे कष्ट मालूम होता है, पर इस पथ्य से उसका वास्त-विक कल्याण होता है। अपथ्य सेवन से रोग बढता जाता है, कभी-कभी मृत्यु के मुख मे भी रोगी को चला जाना पडता है। अतएव बुद्धिमानी पथ्य सेवन करने मे ही प्रतीत होती है, क्योकि वास्तविक भलाई इसी में है। नीरोग होने के लिए कडवी दवा भी पीनी पडती है, पर आगे

उसका फल मधुर होता है। रोगी चंगा हो जाता है, इसी प्रकार अपना कल्याण करने के लिए ससारी जीव को सयम, दान, प्रभु भक्ति आदि कार्य करने मे प्रारम्भ मे कठिनाई प्रतीत होती है, पर आगे उसका जीवन सुधर जाता है।

धन कमाना, अपनी सम्पत्ति को बढ़ाना और श्रेष्ठ उपायो द्वारा अपने ऐश्वर्य को बढाना अनिष्टकर नही। पर अनिष्टकर है, उस सम्पत्ति द्वारा दान धर्म न करना, पूजा प्रतिष्ठा मे धन न लगाना, असमर्थ विद्यार्थियो को विद्यार्जन के लिए छात्रवृत्ति न देना, भूखे-नगो को भोजन-वस्त्र से सहायता न करना, केवल अपने भोग-विलास में ही धन खर्च करना तथा दिन-रात इन्द्रियो की तृप्ति करने मे लगे रहना। बुद्धिमान व्यक्ति जिस प्रकार श्रेष्ठ वृक्ष के फलो को वृक्ष को जड से उखाड कर नही खाते हैं, बल्कि उन वृक्ष के फलो को तोडकर ही खाते हैं, इससे वृक्ष का अस्तित्व सदा के लिए बना रहता है और उससे निरन्तर फल मिलते रहते हैं। इसी प्रकार सम्पत्ति, जो पूर्व पुण्य से प्राप्त हुई है केवल इन्द्रियो को सन्तुष्ट करने में खर्च कर दी जाय और उनसे आगे के लिए कुछ भी पुण्यार्जन न किया जाय तो वह कब तक रहेगी। पूर्व पुण्य के क्षय होते ही नष्ट हो जायगी और आगे उस व्यक्ति को दुख ही उठाना पडेगा। अतएव सम्पत्ति को प्राप्त कर दान धर्म करना चाहिए। दान करने से कोई भी व्यक्ति कभी दरिद्री नही बनता और न उसे कभी कष्ट भोगना पडता है। ससार के इतिहास मे एक भी ऐसा उदाहरण नही मिलेगा जिसमे यह बताया गया हो कि दान करने से अमुक व्यक्ति दरिद्र बन गया और उसका धन क्षय हो गया। सम्पत्ति का क्षय सदा व्यसनों के सेवन से होता है।

व्यसनों का प्रवेश होते ही सम्पत्ति घर से कूच कर जाती है। देखते-देखते पता भी नहीं लगता कि यह मनुष्य दरिद्र बन गया है। कुछ समय के पश्चात् एकाएक वह दरिद्री, दुखी और दीन दिखलाई पड़ने लगता है। जुआ खेलना, शराब पीना और वेश्यागमन करना ये तीन व्यसन

इतने खराव है कि इनके सेवन करने वाले के पास सम्पत्ति रह नही सकती है। कुछ समय के लिए वह भले ही आनन्द का अनुभव कर ले पर पीछे उसे अवश्य पछताना पड़ता है। अत जो समृद्धिशाली हैं उन्हे इन्द्रिय सयम का पालन करते हुए दान धर्म के कार्यों मे सतत प्रवृत्ति करनी चाहिए। पूर्व पुण्योदय से प्राप्त लक्ष्मी का उपयोग करते हुए जो धर्माराधना करता है, दान पुण्य के कार्यो मे निरन्तर भाग लेता रहता है उसके उस पूर्व सचित पुण्य कर्म के रस मे वृद्धि होने से वर्तमान सुख मे भी वृद्धि हो जाती है तथा नवीन पुण्य कर्म का बन्ध होने से आगे भी सुख की प्राप्ति होती रहती है।

जो व्यवित वर्तमान मे दुखी है, उसके लिए भी धर्म परम सुखदायक है। धर्म सेवन के लिए धन की ही आवश्यकता नही है, विना धन के भी धर्माचरण किया जा सकता है। क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय को मन्द करना, दया धर्म का अनुसरण करना, अभिमानवश किसी भी व्यक्ति को बुरे वचन न कहना, हितमित-प्रिय वचनो का व्यवहार करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपकारी है। अत धनी-निर्धनी सभी को धर्माचरण करना आवश्यक है।

इस श्लोक का साराश यह है कि कवि ने इस मे दान की आवश्यकता वतायी है —

> चारित्रं चिनुते धिनोति विनयं ज्ञानं नयत्युन्नतिं।
> पुष्णाति प्रशमं तपः प्रबलयत्युल्लासयत्यागमं ॥
> पुण्यं कंदलयत्यघं दलयति स्वर्गं ददाति क्रमा—
> न्निर्वाणश्रियमातनोति निहितं पात्रे पवित्रं धनं ॥

सत्पात्र दान मे अपनी लक्ष्मी का उपयोग धर्मात्मा लोग करते हैं। इसलिए वह पवित्र द्रव्य सदाचार को उत्पन्न करता है। और नम्रता को बढाता है। ज्ञान की उन्नति करता है। पुरुषार्थ उत्पन्न करता है।

शास्त्र ज्ञान प्रवल करता है। पुण्य का सचय करता है। पाप का नाश करता है। स्वर्ग सुख को प्राप्त कर देता है और उसी प्रकार क्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त कर देता है। अर्थात् सत्पात्र दान से क्रम से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऐसे सत्पात्र को नियम से दान देना चाहिए।

दान का विशेष फल वतलाते है—

दारिद्रय न तमीक्षते न भजते दौर्भाग्यमालम्बते ।
नाकीर्तिर्न पराभवोऽभिलपते न व्याधिरास्कंदति ॥
दैन्य नाद्रियते दुनोति न दर क्लिश्यन्ति नैवापद ।
पात्रे यो वितरत्यनर्थदलन दान निदान श्रियाम् ॥

जो मनुष्य अनर्थ का निवारण करने वाला और चक्रवर्ती आदि ऐश्वर्य के कारणीभूत ऐसा सत्पात्र दान देता है उसको दरिद्रता कभी प्राप्त नही होती है। कभी दुर्भाग्य नही मिलता। जगत मे उसकी अपकीर्ति नही होती। तिरस्कार नही होता। रोग की उत्पत्ति नही होती है। दरिद्रता प्राप्त नही होती, भय उत्पन्न नही होता, कोई भी आपत्ति नहीं आती। पाप की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार सत्पात्र दान का यह महत्व है।

पुण्य-सम्पादन के लिए दान देने वाले को मनमाने सुख की प्राप्ति होती है।

लक्ष्मी कामयते मतिर्मृगयते कीर्तिस्तमालोकते ।
प्रीतिश्चुम्बति सेवते सुभगता नीरोगतालिंगति ॥
श्रेय सहतिरभ्युपैति वृणुते स्वर्गोपभोगस्थिति—
र्मुक्तिर्वाञ्छति य प्रयच्छति पुमान् पुण्यार्थमर्थं निजम् ॥

जो मनुष्य पुण्य सचय के लिए सक्रिय द्रव्य सत्पात्र को देता है उसको सम्पत्ति प्राप्त होती है। सद्वुद्धि उसे ढूंढती है, कीर्ति उसकी तरफ देखती है। प्रीति चुम्वन करती है। सौभाग्य उसकी सेवा करता है। उसको

आरोग्य आलिगन करता है। उसको बहुत से सुख की प्राप्ति होती है, स्वर्ग की सम्पत्ति उसका वरण करती है और इसी प्रकार अन्त मे मुक्ति उसकी वाछा करती है।

तस्यासन्ना रतिरनुचरी कीर्तिरुत्कण्ठिता श्री ।
स्निग्धा बुद्धि परिचयपरा चक्रवर्तित्वलक्ष्मी ॥
पाणौ प्राप्ता त्रिदिवकमला कामुकी मुक्तिसम्पत् ।
सप्तक्षेत्र्या वपति विपुल वित्तावीज निज य. ॥

जो मनुष्य चैत्य, चैत्यालय, शास्त्र, निर्ग्रन्थ मुनि, अर्जिका, श्रावक और श्राविका इन सात प्रकार के क्षेत्रो मे अपने न्याय पूर्वक कमाये हुए द्रव्य को बोता है अर्थात् खर्च करता है, रति उसके निकट रहती है अर्थात् उसे सुन्दर स्त्रियाँ प्राप्त होती हैं। कीर्ति दासी बनती है अर्थात् जगत मे उसकी खूब कीर्ति होती है। लक्ष्मी उसके लिये लालायित रहती है। बुद्धि निर्मल हो जाती है। चक्रवर्ती पद की लक्ष्मी उससे परिचय करने के लिए लालायित रहती है। स्वर्ग की लक्ष्मी उसके हाथ मे आती है। और मोक्ष लक्ष्मी उसे प्राप्त करने की इच्छा करती है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को सत्पात्रो को दान देना चाहिये । इसीलिये श्रावक की दैनिक क्रियाओ मे दान को आवश्यक बताया है।

अहिंसादि व्रतो मे हमेशा दृढता होनी चाहिए

व्रतमं माण्दोडे सेवे माण्दुदरिदे ? शीलोपवासक्क वे-
च्चुतिरल्विक्रमलक्ष्मि जावुं दरिदे ? सत्पात्रदानं विव-
र्जितमागल्सिरिकुं दिवपुं दरिदे ? निम्मर्चनासंभ्रमं ।
च्युतमागल्नृप वैभवं सडिलदे रत्नाकराधीश्वरा ॥८५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

अहिंसादि व्रत के छूट जाने से नौकरो द्वारा होने वाली सेवाएं न मिलें तो क्या आश्चर्य है ? आचरण के हेतु उपवास आदि से डरा जाय

तो पराक्रम और सम्पत्ति के अलग हो जाने मे क्या देरी हो सकती है ? यदि सत्पात्र को दान देना बन्द हो जाय तो सम्पत्ति के क्षीण होने मे क्या देर लगेगी ? आपकी पूजा और उत्सव के भाव लुप्त हो जायें तो क्या राज सम्पत्ति शिथिल न होगी ।

ससार मे समस्त सुख पुण्योदय से ही प्राप्त होते हैं । पुण्योदय के विना एक क्षण के लिए भी सुख नही मिल सकता है । जीव जब तक पचाणुव्रतो का पालन करता है, तव तक उसे नाना ऐश्वर्य और विभूतियाँ प्राप्त होती रहती हैं । पुण्योदय और पुण्यार्जन के दूर होते ही समस्त सुख सामग्रियाँ नष्ट हो जाती हैं। जो नौकर चाकर सकेत पाते ही सारे कार्यों को कर डालते थे, वे भी मुख मोड लेते हैं। अत प्रत्येक व्यक्ति को सर्वदा व्रत, उपवास, दान, पूजा और सयम आदि का पालन करना चाहिए। किसी भी व्यक्ति का आत्मोत्थान तथा किसी को भी सासारिक सुख की प्राप्ति धर्म के बिना नही हो सकती है। धर्म द्वारा ही सुख, सम्पत्ति, वैभव आदि मिलते हैं। अत समस्त सुखो की प्राप्ति के प्रधान कारण धर्म की रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। जैसे किसान खेत मे जितना अनाज उत्पन्न करता है, उसमें से खर्च करने के बाद बीज बोने के लायक अनाज अवश्य बचा लेता है तभी वह आगे सुख और शान्ति से अपनी आजीविका चला सकता है। इसी प्रकार प्राप्त पुण्य के उदय से सुखो को भोगना चाहिए, पर आगे की भी कुछ चिन्ता करनी चाहिए।

धर्म कल्पवृक्ष के समान ही अचिन्त्य फल नही देता है, पर उससे भी अधिक देता है। क्योंकि कल्पवृक्ष से फल पाने के लिए मन में सकल्प करना पड़ता है, पर धर्म के लिए यह बात नही है। यह तो स्वय जीव को सुख प्रदान करता है, इसके लिए मानसिक सकल्प भी नही करना पड़ता, किसी प्रकार की याचना नहीं करनी पड़ती और न किसी भी तरह का चिन्तन ही। धर्म सेवन द्वारा वचनातीत फल मिलता है, इसके द्वारा दुष्कर कार्य भी सुकर हो जाते हैं।

धर्म का मुख्य साधन परिणामो-भावो की विशुद्धता है। पुण्य और पाप का सचय परिणामो के ऊपर आश्रित है तथा परिणामो की विशुद्धता या मलिनता जीव के ऊपर स्वय आश्रित है । अत कोई भी जीव जैसा चाहे वैसा बन सकता है। अत सुख का साधन पुण्य सचय, पुण्य की वृद्धि, पाप बन्ध का निरोध तथा पूर्वसचित पाप का ह्रास है। पूर्व पुण्य के उदय होने पर भी पाप का निरोध न किया जाये तो जीव को सुख नही मिल सकता है, क्योकि बन्धने वाला कर्म जब उदय में आयगा तब कष्ट या दु ख ही देगा ।

जो अज्ञान या मिथ्यात्ववश धर्म की रक्षा नही करते है, नवीन धर्म का सचय न कर केवल पूर्वसचित धर्म के फल को भोगते है, वे पापी उत्तम फल देने वाले वृक्षो को काटकर फल खाने वालों के समान है। अभिप्राय यह है कि जो निरन्तर विषयो का सेवन करते हुए धर्माचरण से दूर भागते हैं, वे धर्म का उच्छेदन कर पाप का सचय करते हुए दु ख के पात्र बनते हैं। पुण्योदय से प्राप्त भोग भोगने के साथ विषय सेवन का कोई विरोध नहीं है, क्योकि सावधानी पूर्वक भोग भोगने से धर्म का सरक्षण होता है। धर्म भावना कषायो को मन्द करने, सन्तोप तथा अहिंसादि परिणामो के धारण करने से सहज मे ही प्राप्त की जा सकती है । प्राप्त विषयो मे असन्तोष और अप्राप्त विषयो के लिए अत्यन्त तृष्णा करना ही सबसे बडा पाप है । इसकी पूर्ति के लिए ही जीव को हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापो का आश्रय लेना पडता है।

गृहस्थाश्रम मे रह कर सासारिक सुखो को भोगते हुए भी जीव पुण्य बन्ध कर सकता है, अपनी आत्मा का उत्थान कर सकता है। आत्म-कल्याण करने के लिए सबको घर छोडना आवश्यक नही, बिना छोडे भी अभ्यासवश कषायें मन्द की जा सकती हैं। कषायो को मन्द करने का उपाय यह है कि प्राप्त भोगो मे सन्तोष करना, उद्विग्न न रहना, अप्राप्त इष्टानिष्ट विषयो की तरफ उत्कट राग-द्वेष न रखना, अन्याय तथा अभक्ष्य भक्षण न करना एव लोक या राज्य विरुद्ध आचरण

न करना। इन्द्रियजयी व्यक्ति भी कषायो को मन्द करता है। अतएव पुण्यार्जन करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

मनुष्य को रोगो के निवारण के लिए उपाय करना चाहिए—

भूकंपं ग्रहणं वरं ग्रहदनिष्टं व्यंतरोग्रं रुजा
शोकं दुःस्थितिगव्य मर्त्यगजवाहन्मारि दुस्वप्नना
नाकण्टक्के महाभिषेक कलिकुंडाद्यर्चनं संघपू-
जाकार्यं दोरे माळ्प शांति कवकवला रत्नाकराधीश्वरा!

हे रत्नाकराधीश्वर!

जिनेन्द्राभिषेक और कलिकुण्ड आदि यन्त्रो की आराधना तथा इन्द्र-ध्वज विधान आदि, भूकम्प, सूर्य और चन्द्र ग्रहण, महामारी, आकस्मिक विपत्ति, गृहस्थ-पीडा, व्यतर देवो का प्रकोप, रोगादि का दुःख, दुष्काल की स्थिति, गाय, मनुष्य, हाथी और घोडो का भयकर रोग, दुःस्वप्न इत्यादि नाना प्रकार के दुखो की शान्ति के प्रयत्न हैं।

विपत्ति के समय भगवान् का अभिषेक, स्तवन, पूजन एव बडे-बडे विधान करने से पुण्य का बन्ध होता है, जिससे पापजनित अशान्ति दूर हो जाती है। भूकम्प एव महामारी जैसी आकस्मिक विपत्तियो की शान्ति भी कलिकुण्ड आराधना, वज्रपजर-विधान, इन्द्रध्वज-विधान आदि के द्वारा हो जाती है, क्योकि इन आराधनाओ के करने से महान पुण्य का बन्ध होता है तथा यक्ष यक्षिणियाँ, जो कि भगवान् की सेविका बतायी गयी हैं, पुण्य के प्रभाव से आकर विपत्ति को दूर करती हैं, व्यन्तर देव सर्वत्र विहार करते हैं, वे जिनेन्द्र भगवान् के भक्तो पर आयी हुई विपत्तियो को दूर करने मे किसी भी प्रकार की आनाकानी नही करते। पुण्य के प्रभाव से व्यन्तर देव किंकर बन जाते हैं, पुण्यात्माओ के अनुसार वे हर तरह प्रकार से उनकी सहायता करते हैं। भक्तामर स्तोत्र में भगवान् की स्तुति और पूजा का माहात्म्य बताते हुए कहा है —

आस्ता तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं
त्वत्संकथापि जगता दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरण' कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकाशभाजि ॥

हे प्रभो ! आपकी स्तुति और पूजा की तो बात ही क्या है, जो समस्त रागादि दोषो को दूर करने वाली है । प्रभो ! आपके नाम मात्र से ही जीवों के पाप का नाश हो जाता है । सूर्य की किरणो के प्रकाश की तो बात ही क्या, प्रात कालीन प्रभा की लालिमा से ही कमल विकसित हो जाते हैं, उनका उदासीनपन दूर हो जाता है । भगवान् वीतरागी हैं, भक्त पर कुछ भी अनुग्रह नही करते, फिर भी उनके नाम तथा गुणो के स्मरण से वह शक्ति आ जाती है जिससे समस्त पाप कालिमा के दूर होने से पुण्य का सचय हो जाता है और आत्मानुभूति जाग्रत हो जाती है ।

पवित्र आत्माओ की पूजा करने ,या नाम स्मरण करने से पापो का नाश होता है, अन्तराय कर्म का वल कम हो जाता है । पवित्र आत्मा मे जितना शुभराग लगता है, जीव का उतना ही पाप दूर हो जाता है और पुण्य का वन्ध होता है । इसलिए पूज्य पुरुषो की भक्ति पाप को गलाकर पुण्य प्रकट करती है और सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाती है । जब व्यक्ति यह समझता है कि भगवान् की पूजा करने से, उनकी आराधना करने से हमारा अमुक कार्य अवश्य हो जायगा क्योकि भगवान् सुख-दुःख देने वाले हैं, तब निश्चय ही सम्यग्दर्शन का घात हो जाता है तथा मिथ्यात्व की भावना का उदय हो जाता है । सम्यग्दृष्टि जीव भगवान् को प्रसन्न करने के लिए पूजा नही करता है, क्योकि वह जानता है कि भगवान् निरपेक्ष हैं, वीतरागी हैं, वे किसी से स्नेह या द्वेष नहीं करते । भगवान् के पवित्र गुणो का स्मरण करने स ही आत्मा मे इतनी पवित्रता और विशुद्धि आ जाती है जिससे पाप कर्म हल्का हो

सकता है। प्रबल पाप के उदय को पलटना तो कठिन ही है, पर सामान्य पाप के उदय को पलटा जा सकता है। क्योंकि स्वय हम ही तो करने और भोगने वाले हैं।

विपत्ति के समय भगवान् की पूजा और आराधना करने का जो विधान किया गया है, उसका इतना ही अर्थ है कि विपत्ति के समय इन कार्यो से आत्मिक शान्ति मिलती है तथा भावनाओ के पवित्र होने से उस समय शुभ का बन्ध होता है।

धर्म प्रभावना भी मोक्ष का कारण है

दीक्षाग्राहिगळं दयाश्रुतमना यक्षर्कळं निम्म स ।
ल्लक्ष दिव्बंबामनानेयंदनगळोळ्पल्लक्कि योळ्तेरोळि ।
ट्टक्ष्पोत्सवदिं प्रभावनेगळं माळ्पं निरायासदिं ।
मोक्षश्रीगधिनाथनप्पुदरिदे रत्नाकराधीश्वरा ! ॥८७

हे रत्नाकराधीश्वर !

दीक्षा ग्रहण करना, दयामय शास्त्र को पढाना, यक्ष यक्षिणी सहित श्रेष्ठ और प्रकाशमान जिन प्रतिमा को हाथी पर, पालकी मे, रथ मे रखकर अत्यधिक उत्सव सहित सवारी निकालना ये सब कार्य बिना कष्ट के कुछ समय के पश्चात् मोक्ष लक्ष्मी को क्या प्राप्त नहीं करा सकेंगे।

प्रभावना करना धर्म के लिए नितान्त आवश्यक है। प्रभावना का सीधा-सादा अर्थ यह है कि अपने धर्म की उन्नति, विकास और प्रसार के लिए रथोत्सव करना, बडे-बडे विधान करना, प्रतिष्ठा करना, जिससे सहस्रों या लाखों की सख्या में जनता धर्म के बाह्य रूप को देख सके। धर्म के अन्तरंग रहस्य परिणाम शुद्धि या आत्मिक शान्ति को साधारण जन समाज नहीं समझ सकता है। वैयक्तिक होते हुए भी धर्म को सामूहिक या सामाजिक रूप देना ही प्रभावना है। उत्सव करने से सैकडों

ही नही, सहस्रो व्यक्ति धर्म की ओर आकृष्ट होते है। उत्सव आदि धर्म प्रचार मे बडे सहायक हैं, इनके द्वारा किसी भी धर्म का प्रचार सरलता पूर्वक किया जा सकता है क्योकि बाह्य रूप को देखकर अधिकाश भावुक व्यक्तियो का धर्म मे दीक्षित हो जाना या उस धर्म से परिचित हो जाना स्वाभाविक है।

पुरातन काल मे धर्म परिवर्तन के प्रधान साधनो मे रथोत्सव, शास्त्रार्थ और मान्त्रिक चमत्कार थे। जो सम्प्रदाय इन कार्यो मे प्रवीण होता था, वह अपने धर्म के अनुयायियो की सख्या बढा लेता था। उस काल मे राजा के अनुसार ही प्राय प्रजा का धर्म रहता था। यदि राजा जैन धर्मानुयायी है तो उसकी प्रजा भी प्रसन्नता से इसी धर्म की अनुयायी बन जाती थी और कालान्तर मे उसी राजा के शैव धर्मानुयायी हो जाने पर प्रजा को भी शैवधर्म ग्रहण करना पडता था। इस प्रकार उस काल मे धर्म प्रचारक धर्म के बाह्य रूपो को जनता के सामने रखते रहते थे।

वर्तमान में भी रथोत्सव, पूजा, प्रतिष्ठा आदि प्रभावना के कार्यों की बडी आवश्यकता है। इन कार्यों के द्वारा जनता मे धार्मिक अभिरुचि उत्पन्न की जाती है, जनता किसी भी धर्म को जान सकती है, तथा उसकी ओर आकृष्ट भी हो सकती है। आज पूजा, प्रतिष्ठा के अलावा भी जैन शास्त्रो को छपवाकर बाटना, जिससे सर्व साधारण जैन धर्म के तत्वो से अवगत हो, प्रभावना का कार्य है। इस कार्य के द्वारा प्रभावना तो होती है, पर पुण्य का भी महान् बन्ध होता है, क्योकि शास्त्रो के अध्ययन द्वारा अनेक व्यक्ति अपने आचरण को सुधार सकते हैं, अपनी आत्मा का कल्याण कर सकते हैं तथा असत् मार्ग से हट कर सत् मार्ग मे लग सकते हैं। अत प्रभावना के कार्यो से पुण्यार्जन होता है, जिससे जीव को परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

धन पाकर जो व्यक्ति धन का व्यय नही करता है, केवल अपने भोग-विलास को ही सब कुछ समझता है, उसी मे मस्त रहता है, वह

व्यक्ति निम्न कोटि का है। उनका जीवन पशुवत् है, क्योंकि खाना-पीना यही सकुचित क्षेत्र उसके जीवन का है। मनुष्य जन्म को प्राप्त कर जिसने अपने अभीष्ट धर्म का उद्योत नही किया तथा अपने अर्जित धन मे से मानव कल्याण में कुछ नहीं लगाया, उसका जीवन निरर्थक है। नीतिकारो ने ऐसे व्यक्ति की बड़ी भारी निन्दा की है।

प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह अपनी कमाई का आठवां या दसवा भाग दान मे अवश्य खर्च करे। आज के युग मे मन्दिर बनवाने या प्रतिष्ठा करवाने की उतनी अधिक आवश्यकता नही है, जितनी ज्ञानदान और जैन साहित्य के प्रचार की है। मन्दिर इस समय पर्याप्त सख्या मे प्रत्येक नगर मे वर्तमान हैं, अधिक मन्दिर रहने से उनकी व्यवस्था भी ठीक नहीं हो पाती है, अत अब प्रभावना के लिए मन्दिर की आवश्यकता नही। रथोत्सव आदि प्रभावना के लिए आज भी उपयोगी हैं, पर इनको भी सभाल कर करना चाहिए। क्योंकि प्रभावना का ठोस कार्य जितना साहित्य के प्रचार या शिक्षा द्वारा हो सकता है, उतना रथोत्सव आदि से नहीं। साहित्य के प्रचार से जैनधर्म का यथार्थ बोध जनता कर सकती है तथा जैन-धर्म के मौलिक आध्यात्मिक तत्त्वो का मनन कर सकती है। जैन-धर्म आचार और विचार दोनो की ही दृष्टि से सर्व साधारण को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला है तथा इनके मनन, चिन्तन द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपना कल्याण कर सकता है। अत प्रत्येक श्रावक को दान अवश्य करना चाहिए।

श्रमण शब्द का अर्थ है दीक्षा

कवि ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि दीक्षा ग्रहण करना, दयामय शास्त्र को पढना और श्रेष्ठ भगवान की प्रतिमा को रथ मे विराजमान करके प्रभावना करना ये सभी मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं।

दीक्षा का अर्थ है कि ससार, शरीर, भोग इनसे विरक्त होकर संपूर्ण जीवो पर दया की भावना करते हुए इन्द्रिय और प्राणी सयम को रक्षा करना है। अर्थात् मन-वचन काय से जो जीवो की रक्षा

करता है और हमेशा आत्म साधन मे लीन रहता है। ऐसे करने वाले जीव को श्रमण कहते हैं। कहा भी है कि—

य. सम सर्वभूतेपु, त्रसेपु स्थावरेषु च।
तपश्चरति शुद्धात्मा श्रमणोऽसौ प्रकीर्तित ।।

जो समस्त जीवो मे अर्थात् त्रस एव स्थावरों मे समान दृष्टि रखने वाले होते हैं एव घोर तपस्या करते हैं उनका नाम श्रमण है। गृहस्थ ससार मे रह कर पाच अणुव्रतो का पालन करता है और जिनेन्द्रदेव शास्त्र गुरु के ऊपर श्रद्धा रखता है, उनके द्वारा तत्वों पर रुचि रखता है, उसी के अनुसार क्रिया-आचरण करता है उसको श्रमग कहते हैं। श्रावक भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए मार्ग पर श्रद्धान रखता हुआ उनकी मूर्ति की प्रतिष्ठा या उनकी वाणी का प्रचार रथोत्सव निकाल कर करता है, जीव दया पालता है और हमेशा धर्म मे रुचि रख करके अपने एकदेशव्रत का पालन करता है वह उत्तम श्रावक इह और परलोक का साधन कर लेता है। अन्त मे इसके निमित्त से मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। इस प्रकार सभी भव्य जीवो को धर्म प्रभावना व्रत नियम दीक्षा इत्यादि का अपनी शक्ति के अनुसार पालन करके इस मनुष्य जन्म को सार्थक कर लेना चाहिए।

इन्द्रिय विषय वासना को छोडे विना इम जीव को सुख
और शान्ति नही मिल सकती है।

होर मिंचि होलेवेणगे सोल्व शृंगारवीरक्के वा
योरदो तस्करजार वीरविटवेश्या काव्यमं केळ्दु मे ।।
यमरे वपुंण्य पुराणदत्तेळसय्यो ! भूपरोल्दम्लमं ।
सुरिवपोल्गुडियेंदरं जडिवरै रत्नाकराधीश्वरा ! ।।८८।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

राजा लोग बाहरी चमक दमक रखने वाली चाण्डाल स्त्री के वश

मे हो जाने के कारण मुँह में पानी भर कर अर्थात् अत्यधिक चाव के साथ शृंगार और वीर रस के काव्य, कुटिल स्त्री, वीर पुरुष और वेश्याओ के गाने सुनकर अपने कर्त्तव्य को भूल जाते है। महापुरुषो की पुण्यमयी कथाओ की उपेक्षा करते है। यह कितने आश्चर्य की बात है। वे अपने आप विषय रस को तो चाटते हैं पर जो उन्हें दुग्धपान का उपदेश देता है उसे डरा देते है। आज यह दशा राजाओ या बड़े व्यक्तियो की ही नही, किन्तु सर्व साधारण की हो रही है। सभी विषयो मे सलग्न है। कितना आश्चर्य है ?

कवि ने इस श्लोक मे वताया है कि मानव जन्म प्राप्त करने के वाद राजा महाराजा लोग विषयाधीन होकर वाहर की चमक दमक वाली चाण्डाल स्त्री के वश मे हो जाते हैं। जीव ! तुझे मनुष्य पर्याय पा करके भी भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए मार्ग पर रुचि रख कर अपने अनादि काल से लगे हुए कर्म को दूर करने की भावना नही हुई। अव किस पर्याय मे इस कर्म को नष्ट करने का साधन मिलेगा। अपनी विगडी को वनाने के लिए साधन मिलने पर उसका उपयोग दुर्व्यसन मे करके मनुष्य जन्म को यो ही खो दिया।

वालपनै न सभार सक्यो, कछु, जानत नाहिं हिताहित ही को।
यौवन वैस वसी वनिता उर, कै नित राग रह्यो लछमी को ॥
यो पन दोइ विगोइ दिये नर, डारत क्यो नर कै निज जी को।
आये हैं सेत अजो शठ चेत गई सुगई अव राख रही को ॥

हे भोले जीव ! तू वाल समय तो इस वास्ते अपना कुछ सुधार नही कर सका कि तुझे हित अहित का ज्ञान नही था, तरुण अवस्था मे स्त्री ने हृदय में वास किया अथवा लक्ष्मी के उपार्जन के लोभ मे लगा रहा। इस तरह अपनी दोनो अवस्था जाया कर दी। हे नर ! अव तू अपने आप को क्यो नरक मे डाले है, अव तो तेरे सफेद वाल आ गए, अब तो चेत कर। गई सो तो गई, अव वाकी को तो राख अर्थात् अव

तो धर्म में तत्पर हो।

बालपने बाल रह्यो पीछै गृहभार बह्यो,
लोकलाजकाल बाध्यो पापन को ढेर है।
अपनो अकाज कीनो लोकन मे जस लीनो,
परभौ विसार दीनो विषै वश जेर है ॥
ऐसे ही गई विहाय अलपसी रही आय,
नरपरजाय यह अन्धे की वटेर है ।
आये सेत भैया ! अब काल है अवैया अहो,
जानी रे सयाने तेरे अजौ भी अन्धेर है ॥

हे जीव ! तू बचपन मे तो बालक रहा, कुछ नही समझा, पीछे जवानी मे घर के धन्धो मे लग गया, लोक-लज्जा के वास्ते वहुतेरा पापो का ढेर इकट्ठा किया। अपना तो काम बिगाडा, और लोगो मे यश लिया। अपने पराभव को भूल गया, और विषयो मे लगा रहा । इसी तरह बहुत सी आयु गुजर गई। जरा सी वाकी रही है। हे जीव ! यह नर देह ऐसी है जैसे अन्धे के हाथ मे वटेर पड जावे। तेरे श्वेत बाल आ गए, अब काल आने वाला है। हमने जानी है, भोले प्राणी ! तेरे अब तक भी अन्धेर है अर्थात् तू बूढा फूस हो गया, तुझे अपना हित अब भी नही सूझता।

सार नर देह सब कारज को जोग येह,
यह तो विख्यात बात सासन मे वचै है।
तामे तरुनाई धर्म सेवन को समय भाई,
सेये तब विषै जैसे माखी मधु रचै है ॥
मोहमद भोरा धन रामा हित जोरा,
योही दिन खोये खाय कोदो जिम मचै है।
अरे सुन बौरे ! अब आये सीस धौरे अजौ,
सावधान होरे नर नरकसो वचै है ॥

हे जीव ! चौरासी लाख योनियो मे यह नर भव ही सार है। अपनी आत्मा का उद्धार इसी भव मे कर सकता है, शास्त्रो मे यह बात प्रसिद्ध है। इसमे भी जो जवानी है, धर्म सेवन करने की यही अवस्था है परन्तु जैसे मक्खी शहद मे रचे तैसे तूने विषय सेवन किये। और मोह रूप मद का भौंरा हुआ स्त्रियो के वास्ते धन जोडता रहा। इसी प्रकार दिनो को व्यतीत किया जैसे कोदो खाकर मस्त हो जाय हैं। हे भोले ! अब तू सुन, तेरे सिर पर सफेदी आ गई, अब तो तू सावधान हो। इस तरह नरक में जाने से बच सकता है।

वाय लगी कि बलाय लगी, मदमत्त भयो नर भूत लग्यो ही।
वृद्ध भये न भजै भगवान्, विषै विष खात अघात न क्यो ही॥
सीस भयो बगुलासम सेत, रह्यो उर अन्तरश्याम अजो ही।
मानुषभौ मुक्ताफल की लर, कूर तगाहित तोरत यो ही॥

हे प्राणी ! तुझे कोई वाय लग गई या कोई बला चिमट गई या नशे मे उन्मत्त हो गया या कोई पिशाच लिपट गया जो वृद्ध होने पर भी ईश्वर को याद नही करता अर्थात् भगवान् का भजन नही करता। और विषय रूपी विष खाता हुआ तृप्त नहीं होता। तेरा सिर बगुले के समान सफेद हो गया। परन्तु तेरे हृदय की स्याही अब तक नही गई। यह तेरा मनुष्य जन्म मोतियो का हार है, इन्द्रियो का सुख इसमे तागा है। इसके वास्ते इन मोतियों के हार को क्यों तोड़ता है, अर्थात् इस विषय भोग के वास्ते इस नर-भव को वृथा क्यो खोता है ?

संसारी जीव का चितवन

चाहत है धन होय किसी विध, तो सब काज सरैं जियरा जी।
गेह चुनाय करूं गहना कछु, ब्याहि सुतासुत बांटिये भाजी॥
चिन्तत यों दिन जाहिं चले जम, आन अचानक देत दगाजी।
खेलत खेल खिलारि गये, उठ गोटी रही शतरञ्ज की बाजी॥

यहां कवि इस संसार की अवस्था दिखाता है कि देखो, यह मनुष्य सदा यही चाहता रहता है कि मेरे किसी तरह धन की प्राप्ति हो जाय तो मेरे सारे कार्य हो जायें मुझे सुख हो, हवेली चिनाऊँ, गहने बनाऊँ, पुत्र पुत्री के ब्याह करूं, परिवार मे खूब भाजी बाँटूं। इस तरह चिंतवन करते-करते समय बीत जाता है। अचानक काल आकर धोखा देकर भक्षण कर लेता है। जिस प्रकार शतरज के खिलाडी उठ जावें और बाजी ज्यो की त्यो लगी रहे, इसी तरह मनुष्य काल को प्राप्त हो जाता है और दुनिया के काम सब ज्यो के त्यो पडे रह जाते हैं।

तेज तुरग सुरग भले रथ, मत्त मतग उतग खरे ही।
दास खवास अवास अटा धन, जोर करोरन कोश भरे ही॥
ऐसे भये तो कहा भयो हे नर! छोर चले उठ अन्त छरे ही।
धाम खरे रहे काम परे रहे, दाम गढे रहे ठाम धरे ही॥

हे मनुष्य! अगरचे तेरे दरवाजे पर सुन्दर घोडे, सुन्दर रथ, मस्त हाथी खडे हैं और नौकर चाकर, मकान बहुत कुछ हैं और अटूट धन जोड-जोडकर खजाने भर लिए हैं। हे भोले! तू ऐसा भी हुआ तो क्या हुआ क्योकि अन्त मे सब यहाँ ही छोड जाना है, सब मकान यहाँ ही खडे रहेगे, सब काम यहाँ ही पड़े रहेंगे और जो धन जोडा है यहाँ ही धरा रहेगा।

कचनभडार भरे और घन पुंज परे,
घने लोग द्वार खडे मारग निहारते।
यान चढि डोलत है झीने सुर बोलत है,
काहुकी हू ओर नेक नीके न चितारते॥
कौलो धन खागे कोऊ कहे थे न जाने तेऊ,
फिरै पाय नागे कागे परपग झारते।
एते पै अयाने गरवाने रहै विभौ पाय,
धिक है समझ ऐसी धर्म ना सभारते॥

हे मनुष्य ! तेरे सोने के भंडार भरे हुए और धनों के ढेर लगे हुए हैं और बहुत से लोग तेरे द्वारे खड़े हुए तेरा रास्ता देख रहे हैं। तू सवारी पर चढ़ा घूम रहा है और बड़ी बारीक आवाज से बोलता है और किसी भी तरफ जरा ख्याल नहीं करता। यह धन जिसके अभिमान में तू ऐसा मगरूर हो रहा है, इन धन को कब तक खायेंगे, इस धन के निबट जाने पर वही कहेंगे कि हम तो तुझे जानते भी नहीं। और पराये पग झाड़ता हुआ नंगे पैरों फिरेगा। धिक्कार है तेरी समझ को। इतना वैभव पा कर भी मान के वश रहा और धर्म न संभाला।

जीव में जब अनात्मीक भाव आ जाते हैं, तब वह आत्मस्वरूप को भूल जाता है और परपदार्थों को अपना समझने लगता है। विषय-सुख, जो आत्मा के स्वरूप से सदा भिन्न हैं, जिनका सम्बन्ध इस आत्मा से बिल्कुल नहीं है, यह जीव अपना मानने लगता है। इसी का नाम मिथ्या-दर्शन है, इसी के प्रभाव से यह जीव संसार के पदार्थों में मोह बुद्धि करता है, तथा अपने स्वरूप को भूल जाता है। प्रत्येक अनात्मीय वस्तु इसे आत्मीय प्रतीत होती है। इसी कारण इस जीव को धन, पुत्र, पुत्री, स्त्री आदि प्रिय लगते हैं। अपनी विषयेच्छा को पुष्ट करने के लिए यह नाना प्रकार के शृंगारिक काव्यों का अध्ययन करता है, नीच पुरुषों की संगति करता है तथा सप्त व्यसनों के सेवन में लग जाता है।

मिथ्यादर्शन के कारण जीव को हिताहित का विवेक नहीं रहता है। विषय भोगों की आकांक्षाएं उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं। नाना विषयों को बार बार भोगता है, बार बार छोड़ता है, पर इसे तृप्ति नहीं होती। शान्ति का परम कारण इस जीव ने भौतिक इन्द्रिय-जन्य वासनाओं को तथा उनकी पूर्ति करने वाले पदार्थों को मान लिया है, इससे इसकी अशान्ति बढ़ती ही जाती है। अपने गुणों से इसे मोह नहीं रहता और न उनकी प्राप्ति की आकांक्षा होती है, किन्तु अन्य के गुणों को अपना मानता है, उन्हीं से प्रेम करता है तथा भ्रमवश पराये वस्तु को अपनी समझ लेता है।

मिथ्यादर्शन के कारण ही इस जीव का सारा ज्ञान भी मिथ्या हो जाता है, जिससे शरीर को आत्मा और शरीर की नाना अवस्थाओ को अपनी अवस्थाएँ मानता है। भ्रान्ति से उत्पन्न इन अवस्थाओ मे इसकी कषाय के अनुकूल जो अवस्था होती है उसमे प्रसन्न होता है, क्षणिक सुख का अनुभव करता है, पर कषाय की प्रतिकूल अवस्था मे विषाद करता है। पचेन्द्रियो के विषय के सेवन मे भी जीव का लक्ष्य कषाय पुष्टि ही होता है अर्थात् जीव अपने भीतर उत्पन्न कषाय की तृप्ति विषय सेवन द्वारा करना चाहता है। राग-भाव उत्पन्न होने पर ही यह रसीले गीत सुनता है, रसीली कविताओ के सुनने मे आनन्द का अनुभव करता है। सुन्दर पदार्थों के देखने की लालसा के उत्पन्न होने पर ही उन पदार्थों को देखकर अपनी विषय लालसा को तृप्त करता है। जितनी भी इच्छाएँ आत्मा मे बेचैनी उत्पन्न करती है, उन सबको पूरा करने का यह जीव प्रयत्न करता है। मिथ्यात्व के कारण यह जीव विषयो मे पूर्ण आसक्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जहाँ प्रत्येक कार्य मे अनासक्त होकर प्रवृत्त होता है, वहाँ मिथ्यादृष्टि का प्रत्येक कार्य आसक्ति के साथ होता है।

मिथ्याज्ञान के रहने से जीव की जो प्रवृत्ति होती है, वह मिथ्या चारित्र कहलाती है। मिथ्यादर्शन के कारण यह जीव पर को अपना मानता है तथा पर मे ही प्रवृत्ति करता है। आत्मा के निज गुणो मे इस जीव की प्रवृत्ति नही होती है। विषय लालसा, तृष्णा तथा मिथ्या आशाओ के वशीभूत होकर यह जीव निरन्तर विपरीत प्रवृत्तियो में आसक्त रहता है। अत प्रत्येक जीव को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का त्याग कर आत्मा की निज परिणति का श्रद्धान, ज्ञान और निज परिणति मे प्रवृत्ति करनी चाहिए।

मनुष्य की, श्रेष्ठ चारित्र की वृद्धि करने वाली कथाओं मे तथा श्रेष्ठ चारित्रवान् व्यक्तियो की सगति मे, प्रवृत्ति भी मिथ्यात्व के कारण ही नही होती है। वासनाओ को वृद्धिगत करने वाली शृगारिक रच-

नाओ के सुनने मे प्रवृत्ति होने का कारण भी मिथ्या प्रतीति ही है। अत. प्रत्येक व्यक्ति को विषय वासनाओ की ओर से अपनी प्रवृत्ति को हटाकर आत्मा को ओर लगाना चाहिए, तभी आत्मा का कल्याण हो सकेगा।

बुद्धिमानों को हास्य रस का त्याग करना चाहिए।

शृंगार कळिनीतिगेंदवनिपर्दुष्काव्यके कोल्वरा।
शृंगारं कलिनीतिगळ्कडमेये सत्काव्यदोळ् ? ळोकिकं॥
पोगिर्दग्गळनेमिरत्नकुमुदेंदु श्रीजिनाचार्य का—
व्यगळ्माडवे मोहमं मुकुतियं रत्नाकराधीश्वरा ! ८६॥

हे रत्नाकराधीश्वर।

राजा लोग बहुधा यह कह कर कि वीर नीति के लिए शृंगार रस चाहिए, दुष्काव्य से प्रेम करते हैं। अच्छे काव्यो मे वीर रस और शूर-वीर की नीति क्या कम रहती हैं। ऐहिक विषयो से पूर्ण श्रेष्ठ नेमिचन्द्र, रन्न, कुमुददेव और श्री जिनसेन आचार्य इत्यादि के काव्य क्या अनुराग और मोक्ष उत्पन्न नहीं करेंगे ?

उन्नत हो सकता है, ऐहिक आकाक्षाएँ कम हो सकती हैं तथा निर्वाण पद को पाने की लालसा जाग्रत हो सकती है।

शास्त्र और काव्य ऐसा होना चाहिए जिससे इनके अध्ययन द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपने आचरण को उन्नत कर सके तथा अपने मनोबल, वचनबल और कायबल को दृढ कर सके। जिस व्यक्ति के ये तीनो बल वर्तमान हैं, वह व्यक्ति अपने जीवन का वास्तविक कल्याण कर सकता है। सदाचार की नीव ये तीनो बल है। मन के सबल होने से बुरे सकल्प मन मे उत्पन्न नही होते हैं, विचार शुद्ध रहते हैं तथा हृदय मे निरन्तर शुद्ध भावनायें उत्पन्न होती है। हृदय के स्वच्छ हो जाने से वचन भी बुरे नही निकलते हैं। वचन-शक्ति इतनी सबल हो जाती है कि सत्य के सिवा मिथ्या वाणी कभी मुख से नही निकलती है। हिसक, निन्द्य, कटु और कठोर शब्दो का प्रयोग ऐसा व्यक्ति कभी नही करता है।

विकृत करती हैं। वासनाएं उत्पन्न होने की भूमि भी मन ही है। सबल मस्तिष्क में अशुद्ध विचार उत्पन्न नहीं हो सकते, कमजोर हृदय के व्यक्ति जल्दी पाप करने पर उतारू हो जाते हैं। मन निर्मल बनना और सत्य बोलना मनुष्य का परम कर्तव्य है।

मन और वचन के बलिष्ठ होने के साथ शरीर का भी सबल होना आवश्यक है। शरीर के पुष्ट रहने से धर्म साधन में पूरी सहायता मिलती है। कमजोर व्यक्ति धर्म साधना नहीं कर सकता है। अत स्वास्थ्य के नियमो का पालन करना तथा अपने आचरण को शुद्ध रखना आवश्यक है। मन, वचन और काय को शक्तिशाली बनाने के लिए शृगार रस का त्याग करना तथा वीर, शान्त और करुण रस को ग्रहण करना चाहिए। शृगार रस से वासना उद्बुद्ध होती है, जिससे मन, वचन और कार्य की प्रवृत्ति उन्मार्ग मे चली जाती है तथा व्यक्ति ससार और स्वार्थ मे ही दिन-रात मग्न रहता है।

भगवान के चरणो मे हमेशा स्तुति करने वाले मंगलमय पुण्य को प्राप्त होते हे।

चेतोरंगदोळिट्टु निम्मडिगळं वदोलगंगो ट्टोडं।
प्रातःकाळदरागदोळ्पददोळं पद्यंगळोळ्वीणेयोळ्॥
श्रीतीर्थंकर निम्म पाडिसुते पाडुत्तळितय माडुति-
पंति भूपते पापळोपकनला रत्नाकराधीश्वरा॥९०॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

आपके चरणो को अपने मनरूपी रगस्थल मे रख कर जो व्यक्ति आपके मन्दिर में आकर प्रभात के मगल-गान, श्लोकपाठ और वीणा से युक्त हो स्तवन करते हैं तथा हे तीर्थंकर! दूसरो से आपकी स्तुति कराते हैं तथा स्वय आप भी बार-बार स्तुति करते हुए आनन्दमग्न हो जाते हैं, क्या वे व्यक्ति पाप को नष्ट करने वाले नहीं हैं अर्थात् भगवान्

की स्तुति करने से बडे से बडे पाप नष्ट हो जाते हैं।

प्रात काल उठकर भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुणो का स्तवन करना चाहिए। स्तवन के पश्चात प्रत्येक व्यक्ति को विचारना चाहिए कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या कर्तव्य है ? क्या मेरा धर्म है ? मुझे क्या करना है ? मैं क्या कर रहा हूँ ? और अब तक मैंने क्या किया है आदि, इन बातो के सोंचने से मनुष्य के मन मे कल्य.ण करने की प्रेरणा जाग्रत होती है। ससार के असत् कार्यो को वह निन्द्य समझता है, उसे अपने धर्म और व्रतो का परिज्ञान होता है।

प्रात काल भगवान के गुणो के स्तवन से दिन भर प्रसन्नता से कार्य करने की शक्ति उत्पन्न होती है। भगवान् की स्तुति मे शुद्ध आत्मा के गुणों की चर्चा रहने से अपनी आत्मा की शुद्ध दशा भी मालूम हो जाती है। प्रभु के गुण ही तो आत्मा मे वर्तमान हैं, यह आत्मा भी तो योग्यता के कारण प्रभु है। यद्यपि इसकी प्रभु होने की शक्ति अभिव्यक्त अभी नही हुई है, फिर भी अव्यक्त शक्ति तो उसमे प्रभु होने की वर्तमान ही है। अत प्रतिदिन सवेरे ही भक्तिभाव पूर्वक भगवान् के गुणो का स्मरण सर्वदा करना चाहिए। भक्ति मे बडा भारी आकर्षण होता है, यद्यपि यह हृदय की रागात्मक वृत्ति है, फिर भी इससे जन्म जन्मान्तरो के सचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। स्तोत्र पढने से सयम ग्रहण करने की प्रवृत्ति जागृत होती है। क्योकि भगवान् के पवित्र गुणो का स्मरण करने से आत्मा मे निजानुभूति की शक्ति आती है, जिससे पर पदार्थों से ममत्व बुद्धि दूर हो जाती है। इन्द्रिय और मन को नियन्त्रित करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

भक्ति के आवेश मे आकर वीणा, हारमोनियम आदि वाद्यो के साथ भगवान् की स्तुति करने से पुण्य-बन्ध होता है। हृदय मे शुभराग की परिणति होने से अशुभ राग की भावनाए दूर हो जाती हैं। ससार की तृष्णा, माया और ममत्व दूर भाग जाते हैं। भक्ति से ओत-प्रोत हृदय मे अपूर्व शान्ति का स्रोत बहने लगता है। भक्त को परम शान्ति और

सुख होता है। भक्ति की चरम सीमा बढ जाने पर आत्म विभोर की अवस्था आती है, जिसमे भक्त सब कुछ भूल जाता है और भगवान् की भक्ति के सहारे आत्मानुभूति करता है। आत्म साक्षात्कार भी प्रभु-भक्ति से हो सकता है, तथा भगवान् की स्तुति से भेद विज्ञान की प्राप्ति भी हो सकती है। भगवान् के अनन्त गुणो का वर्णन तो कोई नही कर सकता है, पर उनके थोडे से गुणो के वर्णन से भी बहुत लाभ होता है। पात्र केशरी स्तोत्र में बताया गया है :—

जिनेन्द्र। गुणसस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता।
भवत्यखिलकर्मणा प्रहतये पर कारणम्॥
इति व्यवसिता मतिर्मम ततोऽहमत्यादरात्।
स्फुटार्थनयपेशला सुगत सविधास्ये स्तुतिम्॥

हे जिनेन्द्र भगवान्। आपके गुणो का स्तवन यदि थोडा भी किया जाय तो सम्पूर्ण कर्म नाश हो सकते हैं, क्योकि आपके गुणो के स्मरण से आत्मा के भीतरी समस्त गुण प्रकट हो जाते है। आत्मानुभव की इच्छा पूर्ण हो जाती है। सम्यग्दर्शन भगवान् के स्तवन से निर्मल होता है। आत्मिक आनन्द रस का पान होता है, जिससे परम शान्ति मिलती है।

प्रत्येक श्रावक का परम कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन शय्या से उठने के पश्चात् शौच आदि क्रियाओ से निवृत्त होने के पहले एकान्त मे बैठकर पाच दस मिनट या इससे अधिक आत्मचिन्तन करे, स्तुति पढे। तत्पश्चात् नित्य क्रियाओ से निवृत्त होकर भगवान् के दर्शन करे, स्तुति पढे, पूजन करे, स्वाध्याय करे और जाप करे। घर आकर भोजन कर आजीविका अर्जन में लग जाय। सायकाल भोजन के पश्चात् सामायिक करे, भगवान् के दर्शन करे और स्तुति पढे। इस प्रकार आचरण करने से गृहस्थ का जीवन सार्थक हो जाता है।

ससार की दशा का चिन्तन

एक नन्हा पौधा हरा भरा वृक्ष बनता है। फिर सूखा ठूठ होकर नष्ट होजाता है।

सम्यग्दृष्टि को इन्द्रिय विषय विष के समान हैं

**भरतंगं सभेगेय्दे चित्तकलुषं निम्मळयक्केदे स-
त्परिणामं परिदेय्दुतं परेयुतं वेंकोडिरळ्कंडु त-
द्भरतं निम्मने पोर्दिनमृत श्रीसौख्यमं निम्मनी-
नरमायमंरेदेके नोवरकटा रत्नाकराधीश्वरा ॥६१॥**

हे रत्नाकराधीश्वर !

राजा भरत को राजसभा की ओर जाते समय क्लेश होता था। पर जब वे आपकी सभा की ओर बढते थे तो उनके हृदय मे आनन्द की वृद्धि होती थी । इस शुभ परिणाम को देखकर उन्होने आपका ही आश्रय लेकर मोक्ष-लक्ष्मी के सुख को प्राप्त किया । राजा लोग अपने को भूलकर क्यो दु ख पाते है ?

कल्याण के दो मार्ग हैं—गृहस्थ और मुनि । गृहस्थ अवस्था मे रहकर भी मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है । घर मे रहते हुए भी जो सर्वथा अनासक्त होकर कार्य करता है तथा जिसे फल की आकाक्षा नही और न परिणाम के बुरे या अच्छे होने से ही विचलित होता है तथा कार्य करना ही जिसके जीवन का लक्ष्य रहता है और जो निरन्तर कर्त्तव्य को ही अपना सब कुछ मानता है, ऐसा व्यक्ति घर मे रहता हुआ भी सन्यासी है। ससार के भोगो मे जिसे आसक्ति नही है, भोग उपलब्ध है और वह गृहस्थ है अत नियन्त्रित रूप से उनका भोग करता है। मोह और क्षोभ उसके परिणामो मे बिल्कुल नही है । भरत के समान घरेलू कार्यो को करता हुआ भी, उनके परिणाम से पृथक् है। लाभ और हानि, हर्ष और विषाद, जीना और मरना जिसके लिए समान हैं, वह सन्यासी नही तो क्या है ?

सम्यग्दष्टि जीव निर्भय होकर घर के कार्यो को करता है, वह कर्त्तव्यशील कर्मयोगी रहता है। कायर या डरपोक बन कर ससार के

मैदान से भागता नहीं है । भोजन करते हुए भी उसे भोज्य पदार्थ मे किसी प्रकार की आसक्ति नहीं, खट्टा, मीठा, चरपरा, कसैला, तीखा आदि किसी रस से प्रेम नहीं । जो मिल गया, उसे आवश्यक समझ ग्रहण कर लिया । हाय-हाय किसी भी पदार्थ के लिए नहीं करता । सभी इन्द्रियो पर इतना नियंत्रण हो जाता है कि आँखो से पदार्थ को देखते हुए भी लाल, हरा, पीला, नीला, श्वेत आदि किसी भी रंग की, स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श करते हुए भी कठोर, कोमल, हलका, भारी आदि किसी भी स्पर्श की और नाक से गन्ध लेते हुए भी सुगन्ध एव दुर्गन्ध किसी भी गन्ध की प्रतीति नहीं होती है । उसका उपयोग स्थिर रहता है, पदार्थो को यथार्थ जानता देखता है, पर अनासक्त रहने के कारण स्पर्श, रूप, रस और गन्ध मे लीन नहीं होता ।

मोह, माया, राग-द्वेष को वह अपने भेद विज्ञान से पृथक् कर देता है । जल मे कमल की तरह गृहस्थी मे रहता हुआ भी पृथक् रहता है, उसका वीतराग भाव बढता चला जाता है । अपने सही रास्ते को वह पा लेता है, उसकी राह भी सीधी सादी होती है । इन्द्रियों की नौकरी करना वह छोड देता है, मोह का मनमोहक प्रभाव उस पर नहीं पड़ता, बल्कि इन्द्रियाँ उसकी दास बन जाती हैं, मोह उसके अधिकार मे आ जाता हैं । इस प्रकार सन्मार्ग पर चलने वाला गृहस्थ मुनि के तुल्य है । यह अनासक्त मार्ग ही भरत का है, भरत की प्रवृत्ति राजसभा के कार्यों में इसीलिए नहीं होती थी कि वे पूर्णतया उनसे अलिप्त थे । कर्त्तव्य समझ कर ही उन्होंने राज्य किया, युद्ध किया और शत्रु एवं आततायियों को रणभूमि में परास्त किया । पर इनमें से एक भी कर्त्तव्य को अपनी आत्मा का नहीं समझा ।

अनासक्त रहने के कारण ही भरत की प्रवृत्ति भगवान् की भक्ति की ओर अधिक रहती थी । उनका मन सर्वदा जिनेन्द्र भगवान् के गुणों मे आसक्त रहता था । आत्म पुरुषार्थ बढता जाता है, जिससे दुःखदायी राग द्वेष नष्ट हो जाते हैं । अन्तरंग आत्मा मे निर्मलता बढती जाती है,

आत्मा के परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते है । कर्मफल चेतना-ज्ञान के सिवा अन्य अनात्मीय कार्यों का अपने को भोक्ता अनुभव करना और तद्रूप हो जाना है, भरत मार्ग मे यह चेतना बिल्कुल हट जाती है। कर्मचेतना—अपने को ज्ञान के सिवा अन्य अनात्मीय कार्यो का कर्त्ता अनुभव करना है । पुरुपार्थी जीव को इन दोनो चेतनाओ से दूर होकर ज्ञान चेतना मे अपने को लगाना चाहिए। महाराजा भरत के समान अपने समस्त घरेलू कार्यों को करते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति को आत्मकल्याण के लिए सतत चेष्टा करनी चाहिए। जो व्यक्ति गृहस्थ के नित्यप्रति किये जाने वाले कार्यों को करता हुआ भी अनासक्त रहता है, वह अवश्य अपना उद्धार कर लेता है।

योगसार मे कहा भी है कि—

> अप्पसरूवइ जो रमइ छडवि सहु ववहारु।
> सो सम्मादिट्ठ हवइ लहु पावइ भवपारु ॥
> अजरु अमरु गुणगणगिलउ जहिं अप्पा थिर थाइ।
> सो कम्महि णवि वधयउ सचिय पुव्व विलाइ ॥
> जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणिपत्त कयावि।
> तह कम्मेण ण लिप्पयइ जइ रइ अप्पसहावि ॥

जो सब व्यवहार को छोडकर आत्मा के स्वरूप मे रमता है सो ही सम्यग्दृष्टि है। वह ससार का किनारा पा लेता है । जिसका अजर, अमर, गुणसमुदाय रूप आत्मा आप मे स्थिर हो जाता है वह नये कर्मो को नही बाँध कर सचित कर्मो का क्षय करता है। जैसे पानी से कमलिनी का पत्ता कभी लिप्त नही होता, वैसे ही जो आत्म स्वभाव मे रहता है वह कर्मो से लिप्त नही होता है।

आगे कहते हैं कि सस्थान आदि पुद्गल की पर्याय जीव के साथ दूध पानी की तरह मिली हुई हो रही है तो भी वे पर्यायें ही हैं।

सम्यक्त्व का महत्व

विरछके जरवरमहलके नीव जैसे धरमकी
आदि जैं मैं सम्यक दरस है ।
या विन प्रसमभाव श्रतापान व्रत तप
विवहार होत हूं न आतम पर सहै ।
जैसे विन वीज अप साधनन अन्न हेत
आकडे विहीन सुन्न सप्पा अदरसहै ।
तैसे विन आतम परस सुप कौनलन
रहत हमे सपर गेय कौतरस है ॥

सम्यग्दृष्टि का लक्षण

धन एक सव कछुयक सुषदायक है
समिकत धन भवभव सुषकरता ।
कल्पतरु कामधेनु चिंतामनिचित्रावलि
चिंतत ही देत यो अचिंत लाभ भरता ॥
भववीजछेदक सुभेदक भरमतम
परम धरम मूल दुखदोप हरता ।
या समान मित्र न सहोदर न मात-तात
तत्व सरधान रूप लछिन कों धरता ॥
वस्तु के स्वभाव मे न जिनकें भरम कछू
भव तनभोगनकी चाह दूरि भई है ।
देषिकें गिलान गेह होय न गिलानरूप
देव गुर धरम मे मूढमति गई है ।
देषि परदोप दावै सुगुन मे थिर थावै
सारिपे नसेती जाकी प्रीति नित नई है ।

जिसतिस भाति करि धरम प्रभाव करै
पुव्वकृत कर्म हरै वधविधि पई है ॥

इस प्रकार अपने आत्म रस मे लीन रहते हुए भी सम्यग्दृष्टि जीव विपय भोगो मे रहते हुए भी उनको विष के समान समझता है। निर्विष स्वरूप आत्म चिन्तन मे हमेशा दत्तचित्त रहता है। जैसे भरत चक्रवर्ती को पट् खण्ड पृथ्वी का राज्य, छियानवे हजार स्त्रियाँ, साठ हजार लडके, ३२००० पुत्रिया होने पर भी वे आत्मानन्द रस मे हमेशा लीन रहते हुए पानी के अन्दर कमल जैसे अलिप्त रहता है उसी प्रकार वह चक्र-वर्ती ससार विषय का स्पर्श न करते हुए आत्म ध्यान मे लीन रहता है। परन्तु उन्ही का उदाहरण ले करके मोक्ष मार्ग को आत्म स्वरूप के मार्ग को न जानने वाले अज्ञानी जीव इन्द्रिय सुख मे लिप्त होकर आत्म-भावना मे लीन होने का दम्भ करके इह और परगति के सुख को नष्ट कर लेते है। जब तक भगवान् वीतराग द्वारा कहे हुए मार्ग को भली भाति न समझेंगे, तब तक उनको मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

इसी विपय को पुप्ट करने के लिए आगे का श्लोक कहते है—

राजश्रीयोळनेककामिनियरुं टाळापनृत्यंगळु-
टा जिव्हारुचियुं टु कामिसिदवेल्ला उंटुउंटादोडं ॥
राजीवं केसरळिदयळ्दद बोलिदूर्ध्वक्के कण्णिट्टोडा-
राजं राजने ? ताने राजऋषियै रत्नाकराधीश्वरा ॥६२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जहाँ राज सम्पत्ति का बाहुल्य रहता है वहाँ स्त्रियाँ रहती हैं, सगीत और नृत्य वाले रहते हैं, अनेक रुचिकारक पदार्थ भी रहते हैं, किसी भी अपेक्षित वस्तु की कमी नही रहती। इतना होने पर भी, जिस प्रकार कीचड मे रहकर कमल निर्लिप्त रहता है उस प्रकार जो राजा भोग्य

वस्तुओ के वीच पद्मवत् निर्लिप्त रहता है क्या वह राजर्षि नही है ?

ऐश्वर्य के प्राप्त होने पर उसे भोगते हुए भी लिप्त न होना व्यक्ति का सवसे वडा पुरुषार्थ है । राज्य सम्पत्ति के प्राप्त होने या वडे वैभव के मिलने पर भोगोपभोग प्राप्त होते ही हैं, स्वभावत मनुष्य की रुचि इन भोगो मे लिप्त होने की रहती है । पर जो समझदार हैं, जिन्हे आत्मा का कुछ परिज्ञान है वे नाना प्रकार के वैभव से युक्त रहने पर भी उसमे बिल्कुल तन्मय नही हो जाते हैं । कविवर वनारसीदास जी ने ससारी विषय भोगो मे अनुरक्त रहने वाले जीव को चेतावनी देते हुए वताया है कि—

भैया जगबासी तू उदासी ह्वै के जगत सों,
एक छ महीना उपदेश मेरो मानु रे ।
और सकल्प विकल्प के विकार तजि,
वैठ के एकात मन एकठौर आनु रे ॥
तेरो घर सर तामें तुही है कमल ताको,
तूही मधुकर है सुवास पहिचानु रे ॥
प्रापति न ह्वै है कछु ऐसो तू विचारतुहैं ।
सही ह्वै है प्रापति सरूप याही जानु रे ॥

अर्थ—हे ससारी जीव ! तू ससार से उदास होकर छ महीने तक पृथक् एकान्त मे निवास कर, सारे सकल्प विकल्पो को छोड़ । तू विचार कर देखेगा तो तुझे अपने आप मालूम हो जायगा कि धन, वैभव, स्त्री पुत्र ये सव पदार्थ तुझ्मे विल्कुल भिन्न हैं । इनमे तेरा कुछ भी हिस्सा नही है । तू स्वय आत्माराम है, ये सारे पदार्थ जड हैं । तेरा हृदय तालाव है, इसमे तू स्वय कमल है तथा तू ही भवरा वनकर सुगन्ध लेने वाला है । भिन्न पदार्थो के साथ सम्बन्ध मान लेने पर ही कुछ मिलने की आशा नही है । आत्मस्वरूप में रमण करने पर तथा आत्मानुभूति के रस

मे डुबकियाँ लगाने पर ही आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

आनन्द अपने स्वरूप मे ही वर्तमान है, बाह्य पदार्थों मे नही। ये बाह्‌य पदार्थ सिर्फ दूर से देखने पर ही अपने प्रतीत होते हैं। वस्तुत. हैं ये अपने से पृथक् अपकारी और आत्मा को कुमार्ग की ओर ले जाने वाले। जब मनुष्य को विरक्ति उत्पन्न हो जाती है, वह कषाय और वासनाओ को मन्द कर लेता है या बिल्कुल जीत लेता है, उस समय उसका कल्याण हो ही जाता है। देखा जाता है कि रागवश ही यह जीव ससार की यातनाए सहता है, नाना प्रकार के कष्ट सहता है और तरह-तरह के उपद्रवो का शिकार होता है। जिस प्रकार स्नेह (तैल) के रहने से तीसी, तिल, सरसो आदि पदार्थ पेले जाते हैं, उसी प्रकार स्नेह (राग द्वेष) के कारण मनुष्य के परिणामो मे अशान्ति उत्पन्न होती है, भोगो मे आसक्ति जागती है।

विषयो की आसक्ति और इसके बीजभूत राग द्वेष का त्याग करने के लिए मन मे विषय सम्बन्धी विकल्पो को उत्पन्न न होने देना, ससार के सभी प्राणियो के साथ मित्रता का भाव रखना, अपने सभी प्रकार के आचरण को मूलत अहिंसक बनाना, अनात्मीय भावो का त्याग करना, अपनी आत्मा का दृढ श्रद्धान करना तथा आत्मा को ससार के सभी पदार्थों से भिन्न अनुभव करना आवश्यक है। हमारी यह आत्मा नित्य है, इसका पर पदार्थों से कोई सम्बन्ध नही, इसमे विकृति हमारी स्वयं की भूल के कारण आ गयी है, इसे हम दूर कर सकते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने भी नियमसार मे कहा है कि—

णिद्दडो णिद्दंद्दो, णिम्ममो णिक्कलो णिरालबो।
णीरागो णिद्दोसो, णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा॥

यह शुद्ध आत्मा दण्ड रहित है, द्वन्द्व रहित है, ममकार रहित है, शरीर रहित है, आलम्ब रहित है, राग रहित है, दोष रहित है, मूढता रहित है तथा भय रहित है, निश्चय करके ऐसा जानो।

पर वस्तु के प्रति मोह करना ही आत्मा का अहित है

अंदें तंदने गर्भदि परर देशं लक्ष्मिसैन्यंगळं ।
मुंदेनोय्वने तळ्त पेण्पडेद मक्कळ्पोत्त देहंगळं ॥
बंदित्तोदु विनोद गोष्टियदु निम्मं मुन्नकंडिर्द सै
पिदंमत्तमदेके तां मरेवनो रत्नाकराधीश्वरा ॥६३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

दूसरो का राज्य, सम्पत्ति और सैन्यबल क्या राजा गर्भ से ही लेकर आता है ? और यहाँ से जाते समय राजा अपनी धर्मपत्नी तथा बाल-बच्चो को साथ भी लेता जायगा ? पूर्व जन्म मे जो पुण्य के दर्शन हुए, उसी के प्रताप से ये सारे वैभव प्राप्त हुए, फिर उस मार्ग को क्यो भूला जाय ?

अपने पूर्व जन्म के पुण्य के उदय से मनुष्य राज्य, सुख, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदि को प्राप्त करता है। जन्म लेते समय खाली हाथ आता है और मरते समय भी खाली हाथ जाता है। केवल पुण्य या पाप के उदय से इष्ट या अनिष्ट सामग्री यहाँ आकर प्राप्त करता है। अत. पुण्योदय से प्राप्त भोगों में लीन नहीं होना चाहिए। धन का मद करना अन्य लोगो को अपने से छोटा या नीच समझना बडी भारी मूर्खता है। श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा है—

भुक्ता श्रिय सकलकामदुघास्तत किम् ।
सन्तर्पिता प्रणयिन स्वधनैस्तत. किम् ॥
न्यस्त पद शिरसि विद्विषता तत. किम् ।
कल्प स्थितं तनुभृता तनुभिस्तत. किम् ॥
इत्थ न किंचिदपि साधनसाध्यमस्ति,
स्वप्नेन्द्रजालसदृश परमार्थशून्यम् ॥

तस्मादनन्तमजर परम विकाशि ।
तद्ब्रह्म वाछत जना यदि चेतनास्ति ।।

इस जगत मे जीवो की समस्त कामनाओ को पूर्ण करने वाली लक्ष्मी प्राप्त हुई और वह भोगने मे आई तो उससे क्या लाभ ? अथवा अपनी धन सम्पत्ति आदि से परिवार स्नेही मित्रो को तुष्ट किया तो क्या हुआ ? शत्रुओ को सब प्रकार से परास्त कर नेस्त नाबूद कर दिया तो इसमे कौन-सी सिद्धि हुई ? शरीर निरोगी रहा और अधिक वर्षो तक स्थिर रहा तो क्या लाभ ? क्योकि ये सभी निस्सार और नश्वर है । ससार मे साधने योग्य कोई भी साध्य नही है । प्रत्येक वस्तु स्वप्न के समान या इन्द्रजाल के समान क्षण विनश्वर और परमार्थ से शून्य है । अत यदि चेतन-बुद्धि है तो परम उत्कृष्ट प्रकाश रूप ज्ञानानन्द अपने आत्माराम को प्राप्त करने की वाछा करनी चाहिए । इस आत्मा की प्राप्ति होने पर समस्त अभिलाषाएँ समाप्त हो जाती है, उत्कृप्ट सुख की प्राप्ति हो जाती है ।

इस आत्मा को पहचानना, इसका दृढ विश्वास करना और भौतिक पदार्थो से मोह-माया-बुद्धि को पृथक् करना ही जीव का पुरुपार्थ है । जिससे ससार के पदार्थो की अनित्यता का निश्चय हो जाता है और जो उनसे राग बुद्धि को हटा देता है, वह अपना अवश्य कल्याण कर लेता है । जब प्रतिदिन हम देखते हैं कि मृत्यु किसी व्यक्ति को नही छोडती, जड चेतन सभी पदार्थो की पर्यायें निरतर बदलती रहती हैं, फिर इन क्षणभगुर पर्यायो के मनमोहक रूप मे आसक्त क्यो होते हैं ? प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि कल जो धनी था, जिसके द्वार पर मोटर, बग्घी आदि सवारी के साधन प्रस्तुत रहते थे, जिसका आदेश सर्वत्र मान्य था, जिसके इशारे पर बडे-बडे प्रतिभाशाली विद्वान नाचते थे, जिसके धन के भण्डार के समक्ष कुबेर भी लज्जित हो जाता था, आज पुण्योदय के क्षय होते ही वह दीन है, भिखारी है, लोग उसे दुरदुराते हैं और उनकी

निन्दा करते हैं। जो कल उसके पास बैठने मे अपना बडप्पन समझते थे, उसकी सगति के लिए लालायित रहते थे, आज कोई उसके पास भी नही फटकता है, उससे घृणा करते हैं, उसकी सगति मे अपनी तौहीन मानते है। ऐसा यह ससार है और ऐसी है इस ससार की माया, फिर तुच्छ सम्पत्ति या वैभव को प्राप्त कर धर्म मार्ग को क्यो भूला जाय ? धर्माचरण ही तो ससार मे स्थिर है, सब कुछ बदल जाने पर भी धर्म का प्रभाव ज्यो का त्यो रहता है। धर्म के बल से ही मनुष्य इन्द्र, नरेन्द्र धरणेन्द्र आदि पदो को प्राप्त कर लेता है। रत्नत्रय धर्म का सेवन करता हुआ ससार के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को छोड देता है, जिससे निर्वाण प्राप्त करने मे भी उसे विलम्ब सही होता, घर मे रहता हुआ भी घर से पृथक् रहता है।

वैभव को तित्य समझ कर उसमे आसक्ति रखना तथा उसके साथ अपना सम्बन्ध मानना अधर्म है। मनुष्य जब तक अपने को भूला रहता है और पर पदार्थो को निजी समझता है तब तक वह वास्तविक धर्म से दूर ही रहता है। यह वास्तविक धर्म आडम्बर रूप क्रिया-काण्ड नही है।

इस परिग्रह को एक दिन छोडना ही होगा—

नानारभपरायणैर्नरवरैरावर्ज्य यस्त्यज्यते
दुष्प्राप्योऽपि परिग्रहस्तृणमिव प्राणप्रयाणे पुन.॥
आदावेव विमुच दु खजनक त त्व त्रिधा दूरत-
श्चेतो मस्करिमोदकव्यतिकर हास्यास्पदं मा कृथा.॥

यहां पर आचार्य कहते हैं कि राज्य लक्ष्मी आदि परिग्रह बडी-बडी महनतो से एकत्र की जाती है। ऐसी भी वस्तुएं सग्रह की जाती हैं जो हर एक को मिलना दुर्लभ हैं। परन्तु करोडो की सम्पत्ति क्यो न हो व कैसी भी कठिनता मे क्यो न एकत्र की गई हो वह सब परिग्रह बिल्कुल छोड देना पडता है जब मरण का समय आ जाता है। जैसे हाथ मे तिनका गिर पडे, ऐसे ही सब छूट जाता है। जब परिग्रह आत्मा

के साथ जाने वाला नही है तव ज्ञानवान प्राणी को उचित है कि पहले ही उसको मन-वचन-काय से छोड दे अर्थात् इसके पहले कि वह परिग्रह स्वय छूटे, ज्ञानी को स्वय मोह त्याग कर छोड देना चाहिए। और यदि परिग्रह नहीं हो तो नया परिग्रह एकत्रित करने की लालसा न करनी चाहिए। परिग्रह को ग्रहण कर फिर छोडना वास्तव में हँसी का स्थान है! जैसे एक फकीर को किसी ने बहुत मे लड्डू दिये, उसमे से एक लड्डू विष्ठा मे गिर पडा, उस लोभी ने उसे उठा लिया तव किसी ने कहा कि ऐसे अशुद्ध लड्डू को तुमने क्यो उठाया ? तव वह कहने लगा कि मैंने उठा लिया है परन्तु घर जाकर इसे छोड दूंगा। तब उसने बड़ी हँसी उडाई कि अरे जिसको फेंकना ही है उसको उठाने की क्या जरूरत थी ? इसी दृष्टान्त से आचार्य ने समझाया है कि यह परिग्रह त्यागने योग्य है, इसे ग्रहण करना बुद्धिमानी नही है, यह आत्म कार्य में वाधक है। वास्तव मे चेतन अचेतन परिग्रह का मोह आत्मा को करोडो सकल्प विकल्पो मे पटक देने वाला है, इससे जो निर्विकल्प समाधि को चाहते है और आत्मिक आनन्द के भोगने के इच्छुक हैं, उनको यह परिग्रह त्यागना श्रेयस्कर है।

ज्ञानार्णव मे कहा भी है कि—

लुभ्यते विषयव्यालैर्भिद्यते मारमार्गणैः।
रुध्यते वनिताव्याधैर्नर सगैरभिद्रुत. ॥

यह मानव परिग्रहो से पीडित होता हुआ इन्द्रियो के विपय रूपी सर्पों से काटा जाता है, काम के वाणो से भेदा जाता है तथा स्त्री रूपी शिकारी से पकड लिया जाता है।

य. सगपकनिमग्नोऽप्यपवर्गाय चेष्टते।
स मूढ पुष्पनाराचैर्विभिन्द्यात् त्रिदशाचलम् ॥

जो मूर्ख परिग्रह की कीचड में डूवा हुआ भी मोक्ष के लिए चेष्टा करता है वह मानो फूलो के वाणो से सुमेरु पर्वत को तोडना चाहता है।

अणुमात्रादपि ग्रथान्मोहग्रथिर्दृढी भवेत् ।
विसर्पति ततस्तृष्णा ग्स्या विश्व न शान्तये ॥

जरा से भी परिग्रह से मोह की गाठ दृढ हो जाती है। इससे तृष्णा की वृद्धि ऐसी होती है कि उसकी शान्ति के लिए सर्व जगत भी समर्थ नही होता ।

ससार मे किसी की भी तृप्ति नही हुई

भंडारं बरु वन्नमिर्पने ? बधूसंभोग दोळसाकेनल् ।
कंडें पोपने ? यळ्कीर पडेद राजश्रीयनेननंत्यदोळ् ॥
क डोयदप्पने ? नास्ति नास्ति गुरुदैववकोल्दु कोट्टैसुता-
नुंडुट्टैसु तनुत्तु मत्ते वग्दिैं रत्नाकराधीश्वरा ॥६४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

क्या राजा अपने कोप को भरने के लिए ही जीता रहेगा ? क्या स्त्री-सम्भोग से कभी किसी को तृप्ति हुई है ? प्रेम से क्या लाभ हुआ ? राज्य सम्पत्ति क्या साथ जायगी ? कदापि नहीं। केवल गुरुजनो की सेवा मे तथा देव की भक्ति में खर्च हुआ, स्वय खाया हुआ और पहना हुआ अपना समझना चाहिए, शेप सब व्यर्थ है।

भोगो की प्रवृत्ति तथा इच्छा को काम कहते हैं। इस काम का मुख्य साधन धन है, धन के विना भोग भी नही भोगे जा सकते हैं और न किसी भी इच्छा को पूरा किया जा सकता है। यह भोग लालसा-कामप्रवृत्ति इतनी भयकर और घृणित है कि इसकी तृप्ति कभी नही हो सकती है। इसे जितना तृप्त करने का प्रयत्न किया जाता है, यह उतनी ही बढती जाती है। भोग द्वारा इसको तृप्त करने का एक भी उदाहरण नही मिलता है, इसकी तृप्ति सदा त्याग से ही हो सकती है। त्याग कर देने पर भोगों की नीरसता अपने आप सामने आ जाती है।

भोगो का त्याग लक्ष्मी-धन के त्याग विना नही हो सकता है। धन

त्यागने की अनेक विधियाँ शास्त्रो मे वतायी गयी है। यहाँ पर कुछ का निरूपण किया जायेगा—

१—धन, सम्पत्ति और वैभव की क्षणभगुरता का अनुभव हो जाने पर इस सम्पत्ति का त्याग किया जा सकता है। जव कोई भी व्यक्ति यह समझ लेता है कि यह धन मेरे साथ जाने वाला नही, यही रहने वाला है, मैं व्यर्थ ही इसे अपना समझकर ममत्व वुद्धि किये हुए हूँ तव वह इसका त्याग कर देता है। धन और काम की अनित्यता की अनुभूति हो जाने पर त्यागना कठिन नही। धन से प्रेम तव तक है, जब तक उसे व्यक्ति अपना समझता रहता है। जिस क्षण उसे परत्व का ज्ञान हो जाता है, मोह वुद्धि दूर हो जाती है। वह अपने से भिन्न समझने के कारण अपना अपकारी मानता है।

२—जव किसी व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से तृष्णा का अनुभव हो जाय, तो वह धन का त्याग कर सकता है। धन की लालसा असन्तोष उत्पन्न करती है। जैसे-जैसे धन उत्तरोत्तर वढता जाता है वैसे-वैसे व्यक्ति के मन मे उसके सचय की इच्छा और अधिक वढती जाती है। जो व्यक्ति इस वात का यथार्थ अनुभव कर लेता है, उसे धन त्यागने मे विलम्व नही होता। वास्तव मे ससार और भोगो की निस्सारता, अनित्यता और उसके लिए होने वाले सघर्ष को देखकर कोई कोई व्यक्ति धन का त्याग कर देते हैं। लक्ष्मी का त्याग तृष्णा और माया के मोहक रूप की वास्तविकता का अनुभव होने पर ही होता है। विरक्त और यथार्थ ज्ञाता ही इसका त्याग कर सकता है।

३—धन को पाप का कारण जिसने समझ लिया है, वह इस धन का त्याग कर सकता है। देखा जाता है कि जितना अधिक धन जिसके पास है वह उतना ही अधिक शोषण करता है। धन के होने से ही वह असत्य, चोरी, अनाचार, दुराचार, प्रभृति नाना प्रकार के पाप करता है। धनार्जन के लिए उसे असत्य भापण करना पडता है, वेईमानी करनी पडती है, शोपण करना पड़ता है और भी अनेक प्रकार के पाप करने

पडते है, जिससे जीव को सदा अशान्ति रहती है । इस प्रकार जो धन के यथार्थ रूप को जान लेता है, जो धन को वस्तुत पाप का कारण समझ लेता है, वह धन का त्याग कर सकता है ।

४—चारित्र मोह का उपशम या क्षय हो जाने पर जिसने ससार की वास्तविकता का अनुभव कर लिया है, धन को पाप का कारण समझ लिया है वह व्यक्ति धन का कभी भी त्याग कर सकता है । धन का त्याग करने के लिए सबसे बडी चीज परिणामो मे विरक्ति का होना है । वैराग्य भावना के रहने पर ही धन का त्याग हो सकता है ।

धन के त्याग के लिए दान, पूजा, उत्सव, प्रतिष्ठा आदि क्षेत्र बताये गये है । जन साधारण की भलाई जो यश प्राप्त करने की लालसा से करता है, उसके परिणामो मे धन से विरक्ति नही कही जा सकती । विरक्ति होने पर किसी भी प्रकार की लालसा नही रहती है, भौतिक पदार्थों से अरुचि उत्पन्न हो जाती है तथा परमार्थ की ओर झुकाव हो जाता है । अत वही धन सार्थक है जिसका दान किया जाय, जो परोपकार मे खर्च हो ।

भोगोपभोग पदार्थों की तृप्ति करने से कभी भी इच्छापूर्ति नहीं होती ।

भोज भोजमपाकृता हृदय मे भोगास्त्वयानेकधा ।
तास्त्व काक्षसि किं पुनः पुनरहो तत्राग्निनिक्षेपिण ॥
तृप्तिस्तेषु कदाचिदस्ति तव नो तृष्णोदय विभ्रत. ।
देगे चित्रमरीचिसचयचिते वल्ली कुतो जायते ॥

यहाँ पर आचार्य ने भोगासक्त मानव की भोगो की वांछा को धिक्कारा है । इस जीव ने अनन्तकाल हो गया, चारो ही गति के भीतर भ्रमण करते हुए अनेक शरीर धारण करके उनमे अनेक प्रकार इन्द्रियो के भोग भोगे और छोड़े । उनके अनन्तकाल भोग लेने से भी जब एक भी इन्द्रिय तृप्त नहीं हुई तब भोगों के भोगने से इन्द्रिया कैसे तृप्त

होगी ? वास्तव मे जैसे अग्नि मे ईधन डालने से अग्नि बढती चली जाती है, वैसे इन्द्रियो के भोगो के भोगने से तृष्णा की आग और बढती चली जाती है। तृष्णावान प्राणी कितना भी भोग करे परन्तु उसको इन भोगो से कभी भी तृप्ति नही हो सकती है, जैसे अग्नि से या धूप से तपे हुए जलते स्थान मे कोई भी वेल या वृक्ष नही उग सकता है। इसलिए वुद्धिमानो को वार-वार भोगो को भोगकर छोडे हुए भोगो की फिर इच्छा नही करनी चाहिए। क्योकि जो तृष्णारूपी रोग भोगो के भोगने रूप औषधि सेवन से मिट जावे तव तो भोग को चाहना मिलाना व भोगना उचित है परन्तु जव भोगो के कारण तृष्णा का रोग और अधिक वढ जावे तव भोगो की दवाई मिथ्या है, यह समझकर इस दवा का राग छोड देना चाहिए। वह सच्ची दवा ढूंढनी चाहिए जिससे तृष्णा का रोग मिट जावे। वह दवा एक शात रसमय निज आत्मा का ध्यान है जिससे स्वाधीन आनन्द जितना मिलता जाता है, उतना-उतना ही विषय भोगो का राग घटता जाता है। स्वाधीन सुख के विलास से ही विषय भोग की वाछा मिट जाती है। अतएव इन्द्रिय सुख की आशा छोडकर अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का उद्यम करना चाहिए।

स्त्री विषय भोग से तृप्ति नही

आवावंगनेयल्लि कूडिदोडमा पाडल्लदें कंडने ?
आवावूटमनुंडोडं सविगळोवेरोदनेनुंडने ?
आवावाभरणंगळं तोडे तोवल्पोन्नादुदे ! कंडुमी—
जीवं काणदुउंडुमें दणियदो रत्नाकराधीश्वरा ॥९५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

वार-वार स्त्री संभोग करने पर भी किसी नवीनता का अनुभव नही होता। वार वार भोजन करने पर भी किसी रुचि विशेष की अनुभूति नही होती। शरीर पर सोने के गहने धारण करने पर भी अज्ञानी

की तरह जीवात्मा आचरण करता है। निरन्तर आहार करने पर भी जीव विश्रान्ति को क्या प्राप्त करता है ?

विषयो मे राग-भाव रहने से कभी विरक्ति होती ही नही। राग के कारण ही विषय प्रिय प्रतीत होते हैं। भोजन निरन्तर करते है, किन्तु तृप्ति नही होती। यद्यपि भोजन मे प्रतिदिन कोई नवीनता नहीं मालूम पडती है, फिर भी रागवश इच्छा उत्पन्न होती ही रहती है। विषय वासना के सम्बन्ध में भी यही बात है। प्रतिदिन सभोग क्रिया की जाती है, पर उससे क्या किसी को तृप्ति हुई है ? राग के कारण यह जीव सदा इन्द्रियो का दास बना रहता है। इन्द्रियाँ इसे कुपथ में निरन्तर भ्रमण कराती रहती हैं। जब यह जीव इन्द्रियों की गुलामी स्वीकार कर लेता है तो फिर इसे सच्चाई का अनुभव नहीं होता।

अब सोचना यह है कि क्या कभी भोगो से क्षणभर को भी शान्ति मिलती है ? ये तो उत्तरोत्तर दाह उत्पन्न करते हैं, जिससे दिन-रात सन्तोष के स्थान मे असन्तोष बढता जाता है। एक क्षण को भी इस जीव को शान्ति नही मिलती। आकुलता बढती रहती है, अनन्तानन्त विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। बाह्य परिग्रह के सचय की कामना ही इस जीव को भय, आशका, घबडाहट आदि के द्वारा कष्ट देती है। अन्तरग मे मूर्छा लगी रहती है, जिससे धन और भोगो के न रहने पर भी यह जीव परेशान रहता है। मानसिक कल्पना के द्वारा धन का सचय और भोगो को भोगने की क्रिया का सम्पादन अहर्निश करता रहता है। विषयाभिलाषाओ की अनियन्त्रित उत्पत्ति होने के कारण दरिद्र और धनी दोनो ही दुखी रहते हैं। अत प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह विषयाभिलाषा को नियन्त्रित और सयमित करने की चेष्टा करे।

परिग्रह जिसके सचय के लिए मनुष्य दिन रात चिन्तित रहता है, [illegible] के पार करता है, वह जीव के लिए कष्टदायक है। जिनका मन परिग्रह मे लीन रहता है, वे उसके अर्जन, रक्षण और व्यय आदि

मे नाना प्रकार के पाप करते हैं, उनकी भावनाएं निरन्तर उस परिग्रह मे लिप्त रहती है। विषयाकाक्षा उत्तरोत्तर वढती जाती है, कषायो की उत्पत्ति भी होती ही रहती है। धनाशा के कारण इस प्राणी को नाना प्रकार के कष्ट होते हैं, यह आशा के पूर्ण न होने से शोक, पश्चात्ताप आदि करता रहता है। आशा का वर्णन आचार्य शुभचन्द्र ने निम्न प्रकार किया है। उन्होने आशा को प्राणी के लिए सबसे वडी विपत्ति वताया है—

यावद्यावच्छरीराशा धनाशा च विसर्पति ।
तावत्तावन्मनुष्याणा मोहग्रन्थिर्दृढी भवेत् ॥
यमप्रशमराज्यस्त सद्बोधार्कदिस्य च ।
विवेकस्यापि लोकानामाशैव प्रतिषेधिका ॥
आशैव मदिराऽक्षाणामाशैव विषयञ्जरी ।
आशामूलानि दु खानि प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥
त एव सुखिनो धीरा यैराशाराक्षसी हता ।
महाव्यसनसकीर्णश्चोत्तीर्ण, क्लेशसागर ॥

मनुष्य को शरीर और धन की आशा जैसे-जैसे वढती जाती है, वैसे-वैसे मोह की गाठ मजबूत होती जाती है। उसका मोहनीय कर्म तीव्रतर होता चला जाता है। यम, नियम, प्रशम आदि भावो को तथा सम्यग्ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने को आशा ही रोकती है। आशा के होने से यम, नियमो का पालन नही हो सकता है। सज्ज्ञान को भी आशा रोकती है। ससारी जीवो के लिए आशा इन्द्रियो को उन्मत्त करने वाली मदिरा है, विषय-विष को वढाने वाली लता है, समस्त दु खो का एक मात्र कारण यह आशा ही है। ससार मे आशा को दूर करने पर ही कोई सुखी हो सकता है। समस्त व्यसनो और क्लेशो का त्याग आशा के दूर करने पर ही किया जा सकता है। अत प्रत्येक व्यक्ति को झूठी आशाओ का

त्याग करना चाहिए।

आशाओं के त्याग से सुख और शान्ति मिलती है। हमारे दुखी होने का एक मात्र कारण है आशा की पूर्ति न होना। जब हमारी कोई भी आशा निष्फल हो जाती है तो हमारे मन में बड़ा भारी खेद होता है तथा हमें जीवन में असफलता ही दिखलायी पड़ती है। अतएव जीवन को सुखी बनाने के लिए आशाओं के जाल बुनने का त्याग करना चाहिए।

पर स्त्री लम्पट धनपति सेठ और उसकी पुत्री की कथा—

एक गांव में धनपति नाम का सेठ रहता था। वह एक दिन अपनी स्त्री को गर्भवती छोड़कर परदेश में धन कमाने के लिए चल दिया। चलते-चलते किसी बड़े शहर में पहुँचा, वहाँ उसका रोजगार लग गया। जो भी व्यापार करे, उसमें ही लाभ मिलता गया। पीछे से धनपति की स्त्री ने एक सुन्दरी कन्या को जन्म दिया। जब वह कन्या विवाह योग्य हुई, तब लड़की की माता ने सेठ को चिट्ठी लिखी कि अपनी पुत्री विवाह योग्य हो गई है और तुम को भी देश आये बहुत दिन हो गये हैं इसलिए तुम देश में आओ और अच्छा सा वर देखकर कन्या को ब्याह जाओ और फिर परदेश चले जाना। सेठ ने उत्तर दिया कि बहुत दूर का फासला है और दूकान पर अधिक काम है, अभी मेरा देश में आना कठिन है इसलिए तुम पुरोहित जी को भेजकर वर ढुंढवालो, मैं खर्चा भेजता हूँ। तुम बाई को ब्याह देना। अब सेठानी ने पुरोहित जी को बुलवाया और वर तलाश करने के लिए भेज दिया। पुरोहित जी एक शहर में गये और एक बनिये के सुन्दर लड़के को देखकर बाई की सगाई कर दी। अच्छा-सा दिन देख बड़े ठाट-बाट से बाई का ब्याह कर दिया। अपना दायजा ले बाई ससुराल आ गई और आनन्द से रहने लगी। कुछ दिनों के बाद जब सेठ को काम से फुरसत मिली तब वह घर को चल दिया। मंजिल दर मंजिल चलता हुआ सन्ध्या समय अपने [illegible] का गांव [illegible] रात को [illegible] सराय में ठहर गया। सेठ को मालूम नहीं

था कि यहाँ मेरी पुत्री व्याही हुई है। सराय से मिली हुई समधी की हवेली थी। सराय से हवेली मे आने जाने के लिए एक घाटी भी थी। रात्रि के समय अधिक गर्मी होने के कारण सेठ सराय की छत पर जाकर सो गया। अर्ध रात्रि के समय धनपति सेठ की पुत्री हाथ मे दीपक लेकर घाटी द्वारा हो पेशाव करने के लिए सराय की छत पर आ गई, उधर धनपति की अचानक आँख खुल गई। वह पुत्री के रूप को देखकर मोहित हो गया। उसके पास आकर अपनी पाप वासना प्रकट की। सच है कामी निर्लज्जो को किसी प्रकार की शर्म नही होती। उसको मालूम नहीं था कि यह मेरा पिता है। झट वह दुराचारिणी भी बोल उठी कि तेरी इच्छा तव पूरी हो सकती है कि जब तू अपने गले मे पडा हुआ मोतियो का हार मुझे दे दे। कामान्ध बन उस पापी ने गले का हार उसको दे दिया और वहाँ वह दोनो अपने-अपने धर्म से भ्रष्ट हो गये। कवि ने सत्य ही कहा है कि स्त्री के आगे सबने हार मान ली है।

तरुणी काज रघुवीर विकट वन-वन रोये।
तरुणी काज लकेश शीश दस अपने खोये॥
तरुणी काज कीचक निकन्दन कुल को कीनो।
तरुणी काज सुरपति श्राप सिर अपने लीनो॥
चतुरा नर भए ये तरुणी से, मदन काड शकर दही।
कवि गग कहे रे तरुणी से, कौन की पत ना गई॥

अर्थात् जो भी स्त्री के फन्दे मे फंस गया, उसकी ही इज्जत मिट्टी मे मिल गई। प्रात काल होते ही धनपति चला चल अपने गाँव मे जा पहुचा और अपनी पत्नी से, भाई वन्धुओ से, कुटुम्वियो से मिला। फिर नाई को भेजकर अपनी पुत्री को मिलने को बुलाया। वह भी खुश होती हुई वडे चाव से पीहर आई। पुत्री पिता से मिली और पिता वेटी से मिला। जव पिता की दृष्टि पुत्री के हार पर पडी तो उसने विचार किया कि यह तो वही है जो मैने दिया था। ऐसा विचार आते ही सेठ

का मुंह नीचा हो गया। इधर लडकी ने भी उसको पहचान लिया कि यह तो वही है जिसने मेरे को सराय मे मोतियो का हार दिया था, पिता को पहचान कर पुत्री ने सोचा कि मैं पीहर तथा सासरे मे कैसे मुंह दिखाऊंगी। पुत्री ऊपर गई। गैरत से फांसी लगा कर मर दुर्गति मे जा पडी। इधर पिता को भी गैरत आई और फांसी खाकर मर गया और वह भी दुर्गति मे पहुँचा।

सातिशय पुण्य मोक्ष का कारण है

भरतंबोल्सगरं बोला दशरथंबोल् श्रेणिकंबोल्महे—
श्वर नोद्दायननंते दानरुचियोळ् शास्त्रार्थियोळ्सत्यदोळ् ॥
विरतिक्षां तयोळर्चनाविभवदोळ्सदोप्पे भाग्यं सुखा—
करमंतल्लदोडेनो दुष्करवला रत्नाकराधीश्वरा ॥९६॥

उत्तर—इसमे एकान्त नही अनेकान्त है। जो निदान वन्ध कर लेता है उसका पुण्य वन्ध का कारण है और सम्यग्दृष्टि का पुण्य निर्जरा का कारण होता है। योगेन्द्रदेव आचार्य ने भी कहा है कि—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण महो मएण मइ-मोहो ।
मई-मोहेण य पाव ता पुण्ण अम्ह मा होउ ॥

पुण्य से वैभव प्राप्त होता है, वैभव से अभिमान होता है, अभिमान से बुद्धि भ्रष्ट होती है, वुद्धि भ्रष्ट कर पाप कमाता है, और पाप से भव भव मे अनन्त दुख पाता है। इसलिए मिथ्यादृष्टियो का पुण्य पाप का ही कारण है। और सम्यक्त्वादि गुण सहित भरत, सगर, राम, पाडवादिक विवेकी जीव थे, उनको पुण्य वन्ध अभिमान नही उत्पन्न करता, वह परम्परागत मोक्ष का कारण है। जैसे अज्ञानियो के पुण्य का फल मद उत्पन्न करने वाली विभूति है, वैसे सम्यग्दृष्टियो के नही है। वे सम्यग्दृष्टि पुण्य के पात्र हुए चक्रवर्ती आदि की विभूति पाकर मद अहकारादि विकल्पो को छोड कर मोक्ष को गये अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती वलभद्र पद मे भी निरहकार रहे। ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रथ मे श्री गुणभद्राचार्य ने किया है, कि पहले समय मे ऐसे सत्पुरुष हो गए हैं जिनके वचन मे सत्य, वुद्धि मे शास्त्र, मन मे दया, पराक्रम रूप भुजाओ मे शूरवीरता, याचको मे पूर्ण लक्ष्मी का दान, और मोक्ष मार्ग मे गमन है, वे निरभिमानी हुए, जिनके किसी गुण का अहकार नही हुआ। उनके नाम शास्त्रो मे प्रसिद्ध हैं, परन्तु अव वडा अचम्भा है, कि इस पचम काल मे जिनके लेश मात्र भी गुण नही हैं, तो भी उनके उद्धतपना है, यानी गुण तो रचमात्र भी नही, और अभिमान मे वुद्धि रहती है।

देव सत्थह मुणिवरहं भत्तिए पुण्णु हवेइ ।
कम्म-क्खउ पुणु होइ णवि अज्जउ सति भणेइ ॥

सम्यक्त्वपूर्वक जो देव गुरु शास्त्र की भक्ति करता है, उसके मुख

तो पुण्य ही होता है, और परम्परागत मोक्ष होता है। जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि है, उनके भाव भक्ति तो नही है, लेकिन बाहरी भक्ति होती है, उससे पुण्य का ही बन्ध है, कर्म का क्षय नहीं है। ऐसा कथन सुनकर श्री योगीन्द्रदेव से प्रभाकर भट्ट ने प्रश्न किया—हे प्रभो! जो पुण्य मुख्यता से मोक्ष का कारण नही है, तो त्यागने योग्य ही है, ग्रहण योग्य नही है। जो ग्रहण योग्य नही है, तो भरत, सगर, राम, पाडवादिक महान् पुरुषो ने निरन्तर पचपरमेष्ठी के गुण-स्मरण क्यो किये? और दान पूजादि शुभ क्रियाओ से पूर्ण होकर क्यो पुण्य का उपार्जन किया? तव श्री गुरु ने उत्तर दिया—कि जैसे परदेश मे स्थित कोई रामादिक पुरुष अपनी प्यारी सीता आदि स्त्री के पास से आये हुए किसी मनुष्य से वातें करता है—उसका सन्मान करता है, और दान करता है, ये सब कारण अपनी प्रिया के निमित ही हैं, कुछ उसके प्रसाद के कारण नही है। उसी तरह वे भरत, सगर, राम, पाडवादि महान् पुरुष वीतरागपरमानन्द रूप मोक्ष रूपी लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं। वे अमृत रस के प्यासे हुए ससार की स्थिति के छेदने के लिए विषय कषाय से उत्पन्न हुए आर्त रौद्र खोटे ध्यानो के नाश के कारण श्री पचपरमेष्ठी के गुणो का स्मरण करते हैं, और दान पूजादिक करते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि केवल निज परिणति पर है, पर वस्तु पर नहीं है। पचपरमेष्ठी की भक्ति आदि शुभ क्रिया को परिणत हुए जो भरत आदिक हैं, उनके विना चाहे पुण्यप्रकृति का आस्रव होता है। जैसे किसान की दृष्टि अन्न पर है, तृण भूसादि पर नही है। विना चाहा पुण्य का बन्ध सहज मे ही हो जाता है। वह उनको ससार मे नही भटका सकता है। वे तो शिव-पुरी के ही पात्र हैं।

दान करना, शास्त्र स्वाध्याय करना, सत्य वचन बोलना व्रतो का पालन करना, कष्ट सहिष्णु बनना और स्वार्थ का त्याग कर निष्काम कर्म करते जाना ही मानव जीवन का ध्येय है। जो व्यक्ति अपने इस ध्येय को पूरा करता है, वह अपना कल्याण कर ही लेता है। जीवन मे

जब तक भौतिकता रहती है, खाना-पीना और आनन्द करना यही जीवन का ध्येय रहता है, तब तक शान्ति मिल नही सकती। परोपकार करना लौकिक दृष्टि से जीवन का एक उच्च ध्येय है।

प्रत्येक व्यक्ति को दान अवश्य करना चाहिए, इससे जीवन मे मोह कम हो जाता है, भावनाएँ परिष्कृत और विशुद्ध हो जाती है। धन और विषयो की आसक्ति कम हो जाती है, तथा व्यक्ति स्वार्थ के सकुचित दायरे से हट कर परोपकार के विस्तृत क्षेत्र मे पहुँच जाता है। स्वाध्याय करना तो मानव जीवन के लिए बहुत ही आवश्यक है। जो प्रति दिन ज्ञानार्जन करता है, वह ससार के विषयो की भयकरता से बच सकता है। स्वाध्याय सबसे बडा तप है, क्योकि जितने समय तक स्वाध्याय किया जाता है, उतने समय तक परिणाम विशुद्ध रहते हैं। भावनाएँ पवित्र बनी रहती है, मन मे एकाग्रता आती है, विषयो से अरुचि उत्पन्न होती है तथा भौतिकता की निस्सारता प्रतीत होती है।

ज्ञान के समान ससार मे कोई बड़ा पदार्थ नही है, क्योकि ज्ञान ही लोक-परलोक और आत्मा-परमात्मा का यथार्थ स्वरूप अवगत कराता है। सच्चे ज्ञान का एक कण भी इस जीव के लिए महान् उपकारी हो सकता है, एक छोटी सी बात भी इस जीव को ऊँचा उठा सकती है। इसलिए महा पुरुषो ने स्वाध्याय को ससार-सागर से पार करने के लिए नौका बताया है, कषाय वन को दग्ध करने के लिए दावानल कहा है। स्वाध्याय से भेद विज्ञान होता है, क्योकि विषयो से अरुचि इसी से हो सकती है। तत्त्व चर्चा, प्रथमानुयोग करणानुयोग आदि का ज्ञान इस जीव को शान्ति प्रदान करता है, राग, द्वेष, मोह प्रभृति विकारो का सबसे बडा इलाज वीतराग प्रभु के वचन है, इन वचनो की प्राप्ति शास्त्र ज्ञान से ही हो सकती है। स्वाध्याय का रस आ जाने पर सारी आकु-लता दूर हो जाती है, वस्तु का यथार्थ मर्म मालूम हो जाता है। अनादि काल से चली आयी कर्म कालिमा स्वाध्याय से दूर हो सकती है। सम्य-ग्ज्ञान के मिल जाने से इस जीव को सब प्रकार से सुख और शान्ति

मिलती है। आत्मा की विभाव परिणति का ज्ञान हो जाता है, परपदार्थों की लिप्सा हट जाती है। रागादि का उपशम होने से जीव की अनेक उलझनें स्वाध्याय से दूर हो जाती हैं।

स्वाध्याय को तप इसलिए माना गया है, कि कोई भी व्यक्ति शास्त्र पठन मे अपने मन को एकाग्र कर कर्मों की अधिक से अधिक निर्जरा कर सकता है। उपयोग का स्थिर करने के लिए स्वाध्याय से बढकर दूसरा कोई अन्य साधन नही है। इसका महत्त्व इसीलिए विशेष है कि वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने से पर परिणति को दूर किया जा सकता है। अन्तरग और बहिरग परिग्रह की मूर्छा दूर करने के लिए यह रामबाण है। व्यक्ति को कर्त्तव्यनिष्ठ यही बना सकता है। अत. प्रत्येक स्त्री पुरुप को प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करनी चाहिए। यदि जीवन मे दो-चार शब्द या बातें भी यथार्थ जान लीं तो फिर कभी न कभी कल्याण करने का अवसर मिल ही जायगा। शास्त्र स्वाध्याय से चारित्र की भी प्राप्ति होती है।

सत्य वचनों का भी जीवन मे बडा भारी महत्त्व है। जो सत्य बोलता है, उसकी वाणी मे बडी भारी शक्ति आ जाती है। वचनो का प्रभाव अन्य लोगो पर जादू जैसा पडता है, आत्मा की शक्ति का विकास हो जाता है। अहिंसा व्रत की रक्षा भी सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतो से ही हो सकती है। अत प्रत्येक व्यक्ति को व्रतो का पालन यथाशक्ति करना चाहिए।

वास्तव मे व्रतो का सम्बन्ध आत्मज्ञान और चारित्र से है। व्रती व्यक्ति अपने ज्ञान को बढाता हुआ चारित्र को प्राप्त करता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन हो जाने से आत्मविश्वास तो पहले ही आ गया है, अब केवल विवेक और चारित्र को प्राप्त करना है। यह कार्य व्रतो से पूर्ण होता है। गृहस्थ अणुव्रतो द्वारा आंशिक चारित्र का पालन करता है और मुनि महाव्रतो के आचरण द्वारा पूर्ण चारित्र को प्राप्त होता है। अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ को भी व्रतों का पालन करना

चाहिए। व्रतो के पालन से जीवन मे सयम आता है तथा जीवन व्यवस्थित होता है। व्रतो के अभाव मे जीवन पशुवत् ही समझना चाहिए।

भगवान न भाव पूजा से खुश है और न द्रव्य पूजा से

उळियि गेय्यद चैत्य सदिरदोळिट्टी योगिगळ्तारदा-
जळदिं तेयद गंधदिं तोळेयदे नांदविक्कियिदेत्तदा ॥
तळिपू विदंडदन्नदिं सुडददीपोद्धपदिं कोय्यदा।
फळदिंदर्घ्यदे निस्मनर्चिपरहो रत्नाकराधीश्वरा ॥९७॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

विधिवत् आपकी मन्दिर मे प्रतिष्ठा कर न लाए हुए पानी से, न घिसे हुए चन्दन से, पानी मे नही धोये हुए अक्षतो से, न तोडकर लाए हुए पुष्पो से, न पकाये हुए अन्न (नैवेद्य) से और तोड़कर न लाये हुए फलो और अर्घो से त्यागी आपकी पूजा करते है, यह कितना आश्चर्यजनक है। अर्थात् भावपूजा द्वारा भी त्यागी पुरुप अपना कल्याण करते है।

पूजा दो प्रकार की है—भाव पूजा और द्रव्य पूजा—

दयांभसा कृतस्नान, सतोष-शुभवस्त्रभृत् ।
विवेक-तिलकभ्राजी, भावना-पावनाशय ॥
भक्ति श्रद्धान घुसणोन्मिश्रपाटी रज द्रवै. ।
नव ब्रह्मागतो देव, शुद्धमात्मानमर्चय ॥
क्षमा पुष्पस्त्रज धर्म, युग्म क्षौमद्वयं तथा ।
ध्यानाभरणसार च, तदगे विनिवेशय ॥
मदस्थान भिदा त्यागैर्लिखाग्रे चाप्ट मगली ।
ज्ञानाग्नौ शुभ सकल्प, काकतुडं च धूपय ॥

प्राग् धर्म लवणोत्तारं, धर्मसन्ध्यान वन्हिना ।
कुर्वन् पूरय सामर्थ्यं, राजन्नी राजना विधिं ॥
स्फुरन् मंगलदीपं च, स्थापयात्मभव पुरः ।
योग नृत्य परस्तौर्यं, त्रिक संयमवान् भव ॥
उल्लसन्मनस सत्य, घंटा वादयतस्तव ।
भावपूजा-रतस्येत्थं, करक्रोडे महोदय ॥
द्रव्यपूजोचिता भेदोपासना गृहमेधिना ।
भावपूजा तु साधूनामभेदोपासनात्मिका ॥

दो प्रकार की पूजा है। भाव और द्रव्य। शुद्ध लक्ष्य से जो भगवान् का पूजन किया जाता है अर्थात् अष्ट द्रव्य से सामग्री लेकर के जो पूजन किया जाता है वह द्रव्य पूजा कहलाती है। वह द्रव्य पूजा भाव के लिए कारण होती है। द्रव्य पूजा के लिए गृहस्थ अधिकारी है। और मुनिजन भाव पूजा करते हैं। परन्तु गृहस्थ भी शुद्ध लक्ष्यपूर्वक द्रव्य के द्वारा भाव को साध लेता है। उससे वह गृहस्थ भी भाव पूजा का आगे चल करके अधिकारी बन जाता है। इसलिए उचित कर्तव्य समझ करके जिसको जो पूजा करनी है उसको कभी भी द्रव्य पूजा में प्रमाद नहीं करना चाहिए। वह शुद्ध लक्ष्यपूर्वक आत्म समर्पण करते हुए अन्य भाव को भी शुद्ध बना लेता है। जो अष्ट द्रव्य से पूजन किया जाता है वह लोभ कषाय को कम करने के लिए किया जाता है। यह सभी भाव-शुद्धि के लिए होता है। यदि गृहस्थ को द्रव्यपूजा करने में अत्यधिक आनन्द आ जाय तो वह भावों में मुनि के समान हो जाता है। केवल भाव शुद्धि के लिए गृहस्थ द्रव्य का त्याग करके लोभ कषाय को कम करता है। मुनि लोग अन्य प्रकार की द्रव्य पूजा करते हैं। वे निर्मल दया जल से स्नान करके सन्तोष रूपी शुद्ध वस्त्र धारण कर विवेक तिलक लगाते हैं। बाह्य के द्वारा पवित्र आशय बना करके भक्ति रूपी केशर घोलते हैं। श्रद्धा रूप चन्दन लगाते हैं। इसी प्रकार अन्य उत्तम गुण रूपी

कस्तूरी और ब्रह्मचर्य रूपी नैवेद्य से देवाधिदेव की भाव से पूजा करते हैं।

पुष्प-क्षमा रूपी सुगन्ध पुष्पमाला तथा धर्म रूपी वस्त्र धोती दुपट्टा पहन करके वे हमेशा प्रभु का पूजन करते है। इस तरह प्रभु की अपने भीतर स्थापना करके सद् गुण रूपी चावल चढाते है। त्याग रूप अष्ट मगल चढाते हैं। वे ज्ञानाग्नि मे शुभ अध्यवसाय रूप धूप चढाते है।

शुद्ध धर्म रूपी अग्नि मे अशुद्ध धर्म रूपी घी चढाते है। घी चढा कर दैदीव्यमान वीर्य उल्लास रूपी आरती उतारते है। अर्थात् वीतराग व्रत धारण करते है। वीतराग दशा शुद्ध आत्म धर्म है। इसलिए अशुद्ध आत्म दशा को त्याग करके शुद्ध आत्म दशा को प्राप्त होते है।

शुद्धात्म अनुभव रूप मगलमय दीपक को प्रभु के आगे रखते है। और योग निरोध रूप नृत्य करते है। सुसयम रूप विविध बाजे बजाते है। अर्थात् सद्बुद्धि तत्व परीक्षा करके शुद्ध अनुभव जगाते है। और उसके द्वारा प्रमाद को दूर करके सावधान होकर शुद्ध समय के सेवन करने मे दत्तचित्त होते हैं।

श्री वीतराग वचनानुसार प्रवृत्ति करने वाले, स्वात्म स्वरूप मे लीन होने वाले, पवित्र आज्ञा को अखण्ड रूप से पालन करने वाले भाव पूजा के पूर्ण अधिकारी हो करके अनन्त कर्मो की निर्जरा करते है। परमार्थ पद के सुख को पाने के अधिकारी बन जाते हैं। परन्तु स्वेच्छा-चारी कलुपित हृदय वाले इस पद को प्राप्त नही हो सकते। इस प्रकार जो भव्य जीव भाव पूजा करते हैं, वे परम पद को प्राप्त हो जाते है। ऐसे व्यक्ति शास्त्र स्वाध्याय मे हमेशा रत रह करके कपाय रहित होकर अप्रमत्त अवस्था मे प्रवर्तत है। सचमुच भाव पूजा मुनि लोगो के हृदय मे चौबीस घटे रहती है। द्रव्य पूजा मुख्य रूप से व्यवहार सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के होती है। भाव पूजा मुख्य रूप से निश्चय मे मुनि के होती है। इस तरह से जो श्रद्धान पूर्वक पूजा करता है वह थोड़े ही समय मे अपने सम्पूर्ण कर्मो की निर्जरा करने का माधन बना कर ससार से

विरक्त हो जाता है।

पूजा दो प्रकार की होती है—भाव पूजा और द्रव्य पूजा। अष्ट द्रव्यो से भगवान् की पूजा करना भाव पूजा है और विना द्रव्य के स्तोत्र पढना एव भगवान के गुणो का चिन्तन करना भाव पूजा है। द्रव्य पूजा मे आठो द्रव्यो का आधार रहता है, जिससे पूजक अपने मन को स्थिर कर सकता है। सुन्दर पूजा-द्रव्य को चढाते समय पूजक के मन में अपार हर्ष होता है, उसका मन भगवान के गुण-चिन्तन मे रम जाता है। आत्मा की महत्ता, उसके शुद्ध गुण एंव ससार परिभ्रमण के कारण उसके समक्ष स्पष्ट होने लगते हैं। इस संसारी जीव को भगवान की पूजा ससार से पार करने के लिए नौका के समान है, क्योकि पूजक को उपासना द्वारा अपनी आत्मा का साक्षात्कार होता है। पूजक दीनता की भावना का अनुभव नही करता, वल्कि अपने को योग्यता की दृष्टि से परमात्मा समझता है।

भगवान की पूजा विना द्रव्य के भी हो सकती है। जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन आठ द्रव्यों की भाव पूजा के लिए आवश्यकता नही। भाव पूजा केवल भगवान के गुणो का चिन्तन और मनन करने से ही हो सकती है, इसमे भावनाओ का अवलम्ब बाहरी द्रव्य नहीं होता, किन्तु स्वयं अपनी भावनाएं ही अवलम्ब पडती है। पचपरमेष्ठी, जो कि आत्मा के परिणमन की पाँच अवस्थाए हैं, उनके गुणो का चिन्तन करके कल्याण करना है। अर्हन्त भगवान मे चार घातिया कर्म नहीं है, उनके दिव्य उपदेश से ही ससार के प्राणी सुख और शान्ति प्राप्त कर सकते है, ससार का सन्ताप उन्हीं के दिव्य उपदेश से शान्त हो सकता है। प्रत्येक जीव मे परमात्मा बनने की योग्यता है, उद्यम कर कोई भी व्यक्ति इस पद को प्राप्त कर सकता है। भाव पूजा से आत्मानुभूति प्राप्त करने का अधिक अवसर मिलता है। भगवान के दर्शन से, स्तवन से और उनके भाव पूजन से आत्म ज्योति नही हुई तो सब विडम्बना मात्र है।

पूजन काल मे शुभोपयोग रहता है, पाप या बुरी वासनाए उतने काल तक आत्मा मे नही आने पाती हैं। पूजक की भावनाओ मे इतनी शुद्धि आ जाती है जिससे पुण्य का बन्ध होने से लौकिक दृष्टि से भी प्राणी को दीनता, रोग, शोक, निर्धनता आदि बातें नही सताती हैं। चित्त मे भगवान के दर्शन, स्तवन और पूजन से अपूर्व शान्ति मिलती है। आत्मा अनुभूति के रस से भर जाती है। पर पूजन के समय दो बातो का ध्यान रखना आवश्यक है—निष्काम—फल की आकाक्षा के विना पूजन करना और उपयोग—मन, वचन और काय को स्थिर कर पूजन करना। यदि फल की आकाक्षा से या किसी कार्य को पूरा करने की आकाक्षा से पूजा की जायेगी तो कर्तृत्व भाव का आरोप हो जाने से अथवा निदान बाधने से सम्यक्त्व विशुद्ध करने के स्थान मे मिथ्यात्व का पोषण होगा। पूजा करने का जो वास्तविक ध्येय है, उसकी सफलता नही हो सकेगी। पूजन का फल अचिन्त्य होता है, थोडे से फल की आकाक्षा कर उसकी सीमा निर्धारित कर देना कितनी वडी मूर्खता है। फल की आकाक्षा कर पूजा करने वाला कल्पवृक्ष को प्राप्त कर उससे भी चने की सूखी रोटिया मागने वाले के समान है। अत सर्वदा भावपूर्वक शुद्धि के साथ भगवान की पूजा निष्काम होकर करनी चाहिए।

पूजा करते समय उपयोग को स्थिर रखना भी आवश्यक है, उपयोग के स्थिर न रहने से पूजा करने मे आनन्द, शान्ति और रस नही आ सकते हैं। पूजा करने का सच्चा मर्म एकाग्र चित्त वाला ही जान सकता है। जिसका चित्त वदर के समान चचल है, वह पूजा से क्या शान्ति प्राप्त करेगा? मन, वचन और काय के स्थिर हो जाने से पूजा द्वारा ध्यान की सिद्धि भी की जा सकती है। चचल इन्द्रियो और मन की सरलतापूर्वक विजय की जा सकती है। त्यागी आरम्भ और परिग्रह छोड़ देने के कारण भाव पूजा करते हैं।

द्रव्यपूजा भी मोक्ष का कारण है—

आवं माडिद भावपूजे विनवंगोवंगे ळेसल्ळिगा ।
सावद्यं रहितं सुमंतु सुजनर्सद्द्रस्तुविपूजिसल् ।।
सावद्यं कळेयल्के तीरदोडमें तत्पूजेय कडु के—
ळ्देवेळ्वं पलरु सुखंबडेयरे रत्नाकराधीश्वरा ।।६८।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

जिस प्रकार किसी योगी को भाव पूजा करने से श्रेय या कल्याण मिलता है उसी प्रकार श्रेष्ठ पदार्थों से जो सत्पुरुष पूजा करते हैं उनका पूजा से उत्पन्न अल्प दोष दूर होकर महान् कल्याण होता है। पूजा से उत्पन्न होने वाले अल्प दोष यदि दूर न होते हो तो पूजा करने वाले सभी सत्पुरुषो को देख सुन कर क्या कहा जाय ! क्या वे लोग सुख को प्राप्त नही करेंगे ?

त्यागी व्रती पुरुष भगवान की भाव पूजा करते हैं, क्योंकि इस पूजा मे पूजन सामग्री मे उत्पन्न होने वाली हिंसा नही होती है। राग-द्वेष का विनाश होकर चित्त मे एकाग्रता उत्पन्न हो जाती है। भावपूजा वडी भारी कल्याणकारी है, अन्तरंग के निर्मल होने से रत्नत्रय की दीप्ति प्रकट हो जाती है। भक्त को मोक्ष मार्ग भक्ति के वल से मिल ही जाता है। भावपूजा के समान द्रव्यपूजा करने वालो को भी फल मिलता है। यद्यपि द्रव्यपूजा करने मे आरम्भजन्य पाप होता है। भक्त अपने भावो को स्थिर रखने के लिए सुन्दर पूजा के उपकरण, जल चन्दन आदि सामग्री एकत्रित करते हैं तथा वाद्य एकत्रित कर मधुर स्तुति पढते हैं। इन कार्यों मे एकेन्द्रियादि जीवो की हिंसा होती है, पर पूजा के फल के सामने वह नगण्य है। पूजा करने से भावो की महान् विशुद्धि होती है, जिससे पुण्य का बन्ध होता है। यह पुण्य समुद्र के समान है और यह आरम्भजन्य हिंसा कणिका के समान है, अत पुण्य

की अधिकता रहने से हिंसाजन्य पाप दब जाता है।

जहा लाभ अधिक होता है और हानि कम होती है, वहा बुद्धिमानो को यह कार्य गुण रूप ही मालूम होता है। महान लाभ के लिए थोडी हानि भी सहन की जाती है। पूजन प्रारम्भ करते समय यत्नाचार तथा दयाभाव से व्यवहार करने समय कुछ अल्प हिंसा हो भी जाय तो उसकी कोई गणना नही है। यह हिंसा भी इतनी कम होती है कि महान् पुण्य के साथ बन्धने पर पुण्य रूप ही दिखलायी पडती है। जैसे मीठे जल के समुद्र मे एक डली नमक की डाल देने पर भी उस समुद्र के जल का रस मीठा ही रहता है, खारी नही होता, इसी प्रकार महान् पुण्य के साथ अल्प पाप का बन्ध होने पर भी उसका कुछ प्रभाव नही होता है। जो श्रावक आरम्भी हिंसा के भय से द्रव्यपूजा नही करना चाहते है, वे वडी गलती करते है, क्योकि भावपूजा मे मन अधिक समय तक स्थिर नही रह सकता है। जैसे विना वाजे के गवैया का मन नही लगता है उसी प्रकार द्रव्यादि सामग्री के विना मन अधिक समय तक स्थिर नही रह पाता है।

द्रव्यपूजा के समय, भावपूजा की अपेक्षा मन अत्यधिक लगाना पडता है, जिससे अधिक समय पुण्यार्जन के लिए मिलता है। परिणामो की उज्ज्वलता यो तो भावपूजा मे ज्यादा होती है, पर इसमे परिणाम अधिक देर तक नही लग सकते है। जब तक श्रावक के मन मे इतनी दृढता और विरक्ति नही आती, जिससे वह अपने मन को किसी एक ही विषय मे अधिक समय तक लगा सके, तब तक उसे द्रव्यपूजा ही करनी चाहिए। मन की चचलता को रोकने के लिए ही पूजा, पाठ, स्वाध्याय और सामायिक आदि क्रियाएँ वताई गई है। इन क्रियाओ से मन की चचलता के साथ-साथ राग-द्वेष की प्रवृत्ति भी रुकती है। गृहस्थ धर्म के वर्णन मे आचार्यो ने कहा है कि सुन्दर शिखरबद्ध मन्दिर वनवाना, मन्दिर मे मूर्ति स्थापित करना, प्रतिष्ठा करना, भगवान् की प्रतिदिन पूजा करना ये गृहस्थ के कर्तव्य है। इन कार्यों से धर्म तो होता ही है,

साथ ही कीर्ति भी मिलती है। अतएव प्रत्येक श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार अपने धन का सदुपयोग करना चाहिए, उसे भगवान की पूजा, प्रतिष्ठा मे धन का व्यय अवश्य करना चाहिए।

उदासीन, त्यागी, व्रती भावपूजा करते हैं, उनका कल्याण उसके द्वारा होता है, पर गृहस्थ द्रव्यपूजा से भी अपना उतना ही कल्याण कर सकते हैं जितना उदासीन भावपूजा से करते हैं। मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी पूजक शीघ्र बन सकता है। नित्य प्रति पूजा करने वाले की भावनाए विशुद्ध होती रहती हैं, जिनसे उसे कल्याण करने की प्रेरणा सहज रूप में मिलती रहती है। पूजा करने से पुण्य का सचय होने से अनायास मोक्ष का द्वार मिल जाता है।

अभिप्राय यह है कि पूजा रागांश होने पर भी कर्मबन्धन का नाश करने मे कारण है। जितने काल तक गृहस्थ पूजा करता है, उतने समय तक वह अनात्मिक भाव—विकार और कषायों से दूर रहता है। अत मन को एकाग्र करने मे सहायक होने से भगवत् पूजा जीवन के उत्थान के लिए आवश्यक है। हा, जिनका मन पूजा करते समय भी इधर-उधर भटकता रहे, उन्हे पहले मन को स्थिर करने का ही उपाय करना चाहिए। पूजन के समय चित्त मे शान्ति रखना तथा कषायो का आविर्भाव न होने देना नितान्त आवश्यक है।

त्यागी व्रती के द्वारा की हुई पूजा से पाप का बन्ध नही होता

मुनिगळ्माडुव भावपूजेरुचियो ? सद्भव्यसंतानव—
चंनेगेयवुत्तमवस्तुपूजेरुचियो ? पेळव्य नीनेके सु—॥
म्मनेयिर्पेयिदरंदमं तिळिदेनै निष्कांक्षकं नीनवर् ।
मनमं निम्मोळिडल्के साधिपरला रत्नाकराधीश्वरा ॥६६॥
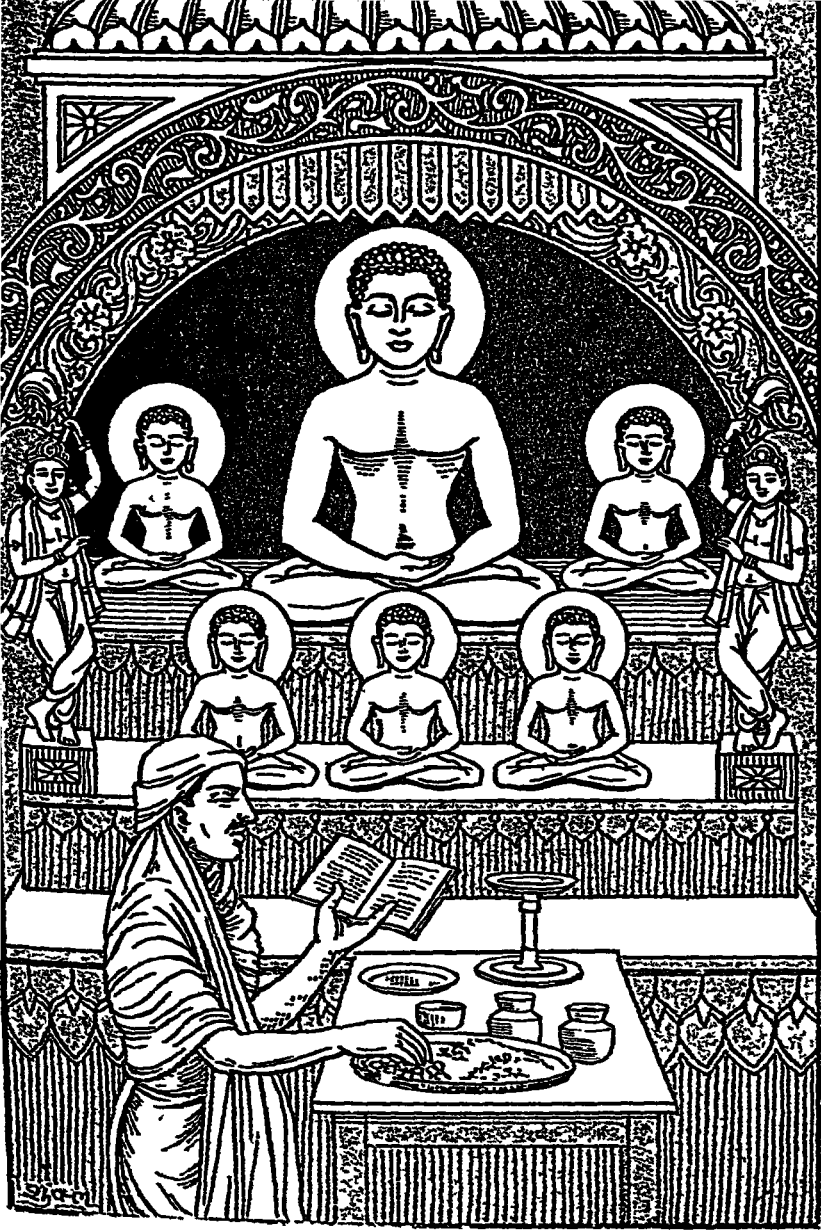
श्री जिनेन्द्र भगवान के समक्ष पूजन करता हुआ एक भक्त श्रावक

हे रत्नाकराधीश्वर !

क्या आपको मुनियो द्वारा भावपूर्ण पूजा इष्ट है ? क्या भव्य लोगो के द्वारा श्रेष्ठ पदार्थों से होने वाली पूजा आपको इष्ट है ? हे भगवन् ! कहो क्यो नही तुम बोलते ? मैंने इसका रहस्य जान लिया। आप इच्छा रहित है। भव्य लोग आपके अन्दर अपने मन को लगाने के लिए ये नानाविध साधन करते है।

साधक भावावेश मे आकर भगवान से प्रश्न करता है कि हे प्रभो ! आपको द्रव्य पूजा इष्ट है या भाव पूजा ? आप कौन सी पूजा पसन्द करते है। साधक के इस प्रकार के प्रश्न को सुनकर भी जब वीतरागी प्रभु ने कोई उत्तर नही दिया तो साधक पुन झुंझलाकर कहने लगा— प्रभो ! आप क्यो मौन हैं ? क्या आप भक्तो की बात का उत्तर नही देते हैं ? इस प्रकार नाना तरह के सकल्प विकल्प उत्पन्न होने के अनन्तर स्वय साधक कहने लगता है कि हे प्रभो ! आप इच्छा रहित है, आप किसी से पूजा, प्रतिष्ठा नही चाहते हैं। भक्त केवल अपनी भावनाओं को विशुद्ध करने के लिए पूजा करता है। आपमे राग-द्वेष नही है, अतः आपके लिए न कोई वस्तु प्रिय है और न अप्रिय ! वीतरागी की दृष्टि मे सर्वदा समता रहती है। वह किसी से न प्रसन्न होता है और किसी से न नाराज ! उसके लिए सभी समान है, अत हे प्रभो ! हम अपनी भावनाओ को पवित्र करने के लिए आपकी स्तुति और पूजा करते हैं। जो प्रतिदिन भगवान की पूजा करता है, उसकी आत्मा मे विशुद्धता और पवित्रता आ ही जाती है।

यद्यपि वीतरागी प्रभु पूजा से न सन्तुष्ट होते हैं और न निन्दा करने से असन्तुष्ट, परन्तु पूजक और निन्दक को अपनी करनी का फल अवश्य मिल जाता है। भावनाए जैसी विशुद्ध या अपवित्र रहती हैं, कर्मो का बन्ध भी वैसा ही होता जाता है। पात्रकेशरी स्तोत्र मे कहा गया है—

दद्दास्यनुपम सुख स्तुतिपरेष्वतुष्यन्नपि,
क्षिपस्यकुपितोऽपि च ध्रुवमसूयकान्दुर्गतौ ।
न चेश ! परमेष्ठिता तव विरुद्ध्यते यत् भवान् ।
न कुप्यति न तुष्यति प्रकृतिमाश्रितो मध्यमाम् ॥

हे भगवन् ! जो आपकी स्तुति करते हैं, उनको आप प्रसन्न हुए विना भी अनुपम सुख दे देते है और जो आपकी निन्दा करते हैं उनको क्रोध न करते हुए भी दुर्गति में डाल देते हैं। हे प्रभो ! इन वातो के होने पर भी आपके परमेष्ठी पद मे कोई विरोध नही आता है, क्योकि आप सर्वदा वीतराग स्वभाव में लीन रहते हैं। आप न कभी किसी के ऊपर क्रोध करते हैं और न किसी के ऊपर प्रसन्न होते हैं। आप सृष्टि-कर्त्ता भी नही है, जिससे किसी को सुख या दुःख दें । वात यह है कि निन्दा या स्तुति करने वाला अपनी भावनाओ के अनुसार स्वय ही बुरा या अच्छा फल पा लेता है। मनुष्य के जसे परिणाम रहते हैं, वैसा ही शुभाशुभ का वन्ध होता है, और उदय आने पर फल भी उसी के अनुसार मिल जाता है। अत भगवान किसी को कुछ नही करते हैं, मनुष्य स्वयं अपने आप ही सव कुछ वन जाता है।

भगवान की पूजा करने का रहस्य भावनाओ का परिष्कार करना है, मन के विचारों को पवित्र वनाना है। क्रोध, मान, माया और लोभ कषायें, जिनके कारण यह प्राणी निरन्तर अपने आचार से भ्रष्ट होता रहता है, विवेक को भूल जाता है और वासनाओं के आधीन होकर आत्म विपरीत कार्य करता है, पूजा करने से दूर हो जाती हैं। आत्मा-नुभूति उत्पन्न करने का एक साधन पूजन भी है। यह अत्यन्त सरस और सरल है, भक्ति की ओर मनुष्य का झुकाव स्वाभाविक होता है। प्रभु-भक्त जिनेन्द्र के गुणों के चिन्तन से अपने भीतर अपरिमित शक्ति का अनुभव करता है तथा अपनी आत्मा को शुद्ध करने का प्रेरणा प्राप्त करता है।

पूजा का महत्व

पूजातन्त्रदे वस्तुवं नेनेयुतं मत्तं सुमन्त्राक्षर—
भ्राजध्वानमनालिसुत्ते तव विंवस्नानमं नोडिना—
नाजीवं सुखियक्कुमल्लि वहिरंगाळोचनं मोहनं ।
पूजार्थं पुरुषार्थमादुददरि रत्नाकराधीश्वरा ! १००॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पूजा करने के सिलसिले मे, पूजा द्रव्य को स्मरण करते हुए, अच्छे मन्त्र मे रहने वाले वीजाक्षर के स्पष्ट शब्द को सुनते हुए और आपके प्रतिविम्ब के अभिषेक को देखते हुए अनेक प्राणी सुख को प्राप्त होते है। उस पूजा के स्थान मे बाहर के पदार्थों का सोचना छूट जाता है। छूट जाने के कारण पूजा के फलस्वरूप, धर्म,अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।

इस पद्य मे कवि ने पूजा की महत्ता का वर्णन किया है। यद्यपि पूजा की महत्ता पिछले कई पद्यो मे विस्तार से दिखलायी गयी है, फिर भी श्रावक के कर्त्तव्यो का बार-बार स्मरण कराने के लिए पूजा के फल का विवेचन किया गया है। प्रारम्भिक साधन के लिए भगवान की पूजा बडी भारी उपकारी है। जब तक मन और इन्द्रियो पर नियन्त्रण नही हुआ है, वे विषय कषायो की ओर चक्कर लगा रहे हैं, तब तक पूजा ही इन समार के पाप कार्यों से बचा सकती है। पूजा करने से मन में बडी शान्ति, होती है, मन, वचन और काय सवल होते हैं तथा अपने स्वरूप की प्रतीति होने से सासारिक विषयो से अरुचि हो जाती है।

पूजा करने से उपयोग स्थिर रहता है, क्योंकि उपयोग को स्थिर करने के लिए अनेक साधन पूजक के सामने रहते हैं। वह सुन्दर-सुन्दर पद्यो को पढता है, मन्त्र बीजो का उच्चारण करता है, सुन्दर पूजा सामग्री को देखता है तथा श्री जिनेन्द्र भगवान के मनोहर विम्ब को देखता है

जिससे उसका मन स्थिर होता है। मन मे अन्य सांसारिक विकल्प उत्पन्न नही होते है। वीतरागी प्रभु की मुख मुद्रा को देखकर अपार आनन्द पूजक को प्राप्त होता है।

ससार सागर से सहज पार करने का उपाय एक मात्र भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा ही है। भगवान की पूजा करने से सम्यग्दर्शन गुण तो विशुद्ध होता ही है, साथ ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भी प्राप्ति होती है। पूजा करना, दर्शन करना, स्तोत्र पढना प्रत्येक श्रावक का दैनिक कर्तव्य है। जो अपने इस कर्तव्य को नही करता है, वह श्रावक पतित है।

आत्मा का उद्धार तभी हो सकता है जब ससार से विरक्त हो जाय। जब तक विषयो की ओर प्रवृत्ति रहेगी, अनुभवानन्द नही आ सकता। मन निरन्तर इधर उधर विषयो का रस-पान करने के लिए मधु लोभी भ्रमर की तरह उडता रहता है। भ्रान्तिवश असन्मार्ग का अनुसरण कर यह प्राणी अपना सर्वनाश अपने हाथों से करता रहता है।

भगवान की पूजा इस पचम काल में कल्पद्रुम है, क्योकि ध्यान करने के लायक सहनन नही है तथा मन, वचन और काय भी इतने कमजोर हैं जिससे उत्तम ध्यान का होना सम्भव नही। शरीर के कमजोर होने से परीषह सहन करना भी सम्भव नही। कुछ ही लोग अपने कल्याण के लिए सयम की तलवार की धार पर चल सकते है। सर्वसाधारण के लिए सयम का मार्ग सुगम नही हो सकता है। अब कोई भी व्यक्ति आसानी से भगवान की पूजा कर अपनी भावनाओं को पवित्र कर सकता है। मन को वश करने के लिए तथा विषयो का त्याग करने के लिए पूजा बड़ी ही सहायक है। इसके द्वारा मन को स्थिर किया जा सकता है और शरीर के मोह को जीता जा सकता है और आत्मानुभूति का लाभ लिया जा सकता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन भगवान की पूजा अवश्य करनी चाहिए।

प्रश्न—धातु पाषाण रूप अर्हन्त भगवान की प्रतिमा को किसलिए पूजते हैं ? क्योंकि अर्हन्त भगवान तो मोक्ष गये हैं तथा वह सिद्ध क्षेत्र मे स्थित हैं। धातु पाषाण के प्रतिबिम्ब मे उनका एक प्रदेश भी नहीं आता है अथवा अपनी पूजा चाहते नहीं तथा वे किसी का उपकार करते ही नहीं। जो उनकी पूजा स्तवन तथा अभिषेक करते हैं उनसे राग आदि भी नही करते है तथा जो उनकी निन्दा करते हैं उनसे द्वेष भी नही करते हैं। इस प्रकार राग-द्वेष रहित जो अरहन्त तथा सिद्ध भगवान हैं उनकी प्रतिमा की स्थापना करके फिर उस जड रूप अचेतन प्रतिमा को किसलिए पूजते हैं ? तथा अचेतन रूप पाषाण इत्यादि जड-रूप अचेतन प्रतिमा मे अरहन्त भगवान की स्थापना करना योग्य नही है।

समाधान—यह बात तो सत्य है कि अर्हन्त भगवान सिद्ध अवस्था मे स्थित हैं और उनका एक भी प्रदेश प्रतिमा में आता नहीं है तथा उनके द्वारा किसी का उपकार नही होता है तो भी धातु पाषाण की प्रतिमा मे अर्हन्त भगवान की स्थापना करना योग्य है। जो गृहस्थ श्रावक हैं उनका मन शुद्धात्म स्वरूप के अवलम्बन मे तो प्रवृत्त नही होता है और निरालम्बी चित्त ठहरता नही। इस प्रकार इस परमात्म भाव का अवलम्बन होने के लिए, वीतराग परिणाम जोडने के लिए धातु पाषाण रूप प्रतिमा मे या अर्हन्त भगवान की प्रतिमा को साक्षात् अरहन्त भगवान ही हैं, ऐसा जानकर उसका ध्यान, स्तवन, पूजन आदि करते हैं। वहाँ उन अर्हन्त भगवान के स्वरूप मे परिणाम लगने से उस समय समस्त ससार का सकल्प विकल्प छूटकर उन परमात्मा के भाव का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार उन परमात्मा के स्वरूप की प्राप्ति होने से वहा उस सुख रूप ज्ञान सम्पत्ति मे विघ्न करने वाला जो अन्तराय कर्म है उसका अनुभाग रूप जो कटुक रस है वह रुक जाता है अथवा अपना वीतराग रूप भाव होता है। इस प्रकार वीतराग रूप भाव होने से असाता वेदनीय की पहले जो समस्त

अशुभ रूप प्रकृति बाधी हुई है और सत्ता मे स्थित है उसका रस नष्ट हो जाता है और जो पहले बाधी हुई शुभ रूप पुण्य प्रकृति हैं उनमें रस बढ जाता है तथा वहा मन्द कषाय के प्रभाव मे शुभ आयु के बिना अन्य समस्त कर्म प्रकृतियो की स्थिति घट जाती है । इस प्रकार जैन सिद्धान्त मे केवली भगवान ने कहा है।

भावार्थ—सिद्धान्त मे जिनदेव की ऐसी आज्ञा है कि मन्द कषाय के प्रभाव से जीवन के पहले बधे हुए शुभ कर्म में रस आ जाता है तथा अशुभ कर्म मे रस सूख जाता है अथवा घट जाता है, स्थिति भी एक देव, एक मनुष्य तथा एक तिर्यंच—इस प्रकार तीन शुभ आयु बिना अन्य समस्त कर्म प्रकृति की स्थिति घट जाती है। अथवा ऐसे ही उसमे उल्टी ही तीव्र कषाय के प्रभाव से कर्म की समस्त पाप रूप अशुभ प्रकृतियो मे बदल रस बढ जाता है। तथा पुण्य रूप प्रकृति मे रस सूख कर घट जाता है। पुनः देव, मनुष्य, तिर्यंच इस प्रकार की तीन शुभ आयु के बिना अन्य कर्म की स्थिति बदल जाती है। इसलिए भगवान अरहन्त के प्रतिबिम्ब मे अनुराग करने से जीव के कषाय की मन्दता होती है ।

अरहन्त देव की प्रतिमा को देखने से वहा अरहन्त भगवान के गुण मे जो अनुराग करना है वह अरहन्त भक्ति है। इस प्रकार की अर्हन्त भक्ति के प्रभाव से वहा दुःख होने का कारण जो पाप प्रकृति है उसमे रस सूख कर घट जाता है तथा सुख होने का कारण पुण्य प्रकृति का रस बढ़ जाता है, तब समस्त दुःख विनाश को प्राप्त होता है। तथा जब पुण्य रूप प्रकृति मे रस बढ जाता है, तब स्वर्गादिक सुख की प्राप्ति तथा राज सम्पत्ति इत्यादि समस्त भोग रूप सामग्री स्वयमेव आप ही से आकर प्रकट हो जाती है।

सुख की प्राप्ति होने के लिए धातु पाषाण मे अरहन्त की स्थापना करके उसकी पूजा स्तवन अभिषेक करते हैं। यद्यपि भगवान अर्हन्त धातु पाषाण के प्रतिबिम्ब में नही आते हैं और किसी का उपकार या अपकार

भी भगवान वीतराग करते नही है, तथापि उनका नाम तथा प्रतिविम्ब अपने शुभ परिणाम तथा वीतराग रूप ध्यान होने के लिए बाह्य निमित्त कारण है। कारण विना कार्य ठीक नही होता है, इस प्रकार का नियम बतलाया गया है। जब कार्य सिद्ध होगा तब वह कारण द्वारा होगा। इसलिए वीतराग रूप भाव को प्रकट करने के लिए भगवान अरहन्त देव की प्रतिमा बाह्य कारण है। इस प्रकार इसकी स्थापना अनादि काल से चली आयी है। इससे अरहन्त भगवान की धातु पाषाण मे स्थापना करना योग्य है।

जैसे बहुत सुन्दर शृंगार सहित रूपवती स्त्री के अचेतन चित्र को देखकर उसमे राग भाव प्रकट होता है उसी तरह वीतराग प्रतिबिम्ब को देखकर उसमें वीतराग भाव प्रकट होता है। अथवा ससार मे जीव के जो राग-द्वेप रूप परिणाम होता है वह समस्त अचेतन रूप पुद्गल द्रव्य के निमित्त से होता है। रत्न, स्वर्ण, रूप, महल, वर्ण, बाग, नगर, ग्राम, पाषाण, कमल तथा मनुष्य तिर्यंच का शरीर तथा मनुष्य तिर्यंच के शुभाशुभ वचन तथा दुर्गन्ध सुगन्ध रस विरस इत्यादि समस्त अचेतन रूप पुद्गल द्रव्य की पर्याय है। इसका चिन्तवन करना, श्रवण करना तथा अवलोकन करना इत्यादि प्रकार से पुद्गल द्रव्य के अनुभव करने से ही ससारी जीव के राग द्वेष रूप भी भाव पैदा होता है। इसलिए जिस प्रकार अचेतन रूप पुद्गल द्रव्य आत्मा के रागद्वेष उत्पन्न होने मे सहकारी कारण है, उसी तरह अरहन्त भगवान की धातु पाषाणमय जड रूप अचेतन प्रतिमा भी वीतराग भावो मे सहकारी कारण है।

जीव के एक वीतरागता के सिवा और कुछ चाह नही है। जो भगवान के आगे जल चन्दन आदि अष्ट द्रव्य चढाये जाते हैं, वह भगवान तो कुछ भक्षण नही करते हैं तथा उनके लेने की इच्छा भी नहीं करते हैं। भगवान हमेशा वीतराग हैं। जैसे किसी नगर मे महामण्डलेश्वर राजा का समागम होता है तब लोग उनकी सेवा मे रत्न, सुवर्ण, मोती, इत्यादि समर्पण करते है, उनकी आरती उतारते हैं तथा उन पर पुष्प

क्षेपण करते हैं। यह राजा के प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन है । उसी प्रकार यह जीव तीन लोक के नाथ तथा परम मंगल रूप अरहन्त भगवान के प्रतिविम्ब को देखकर आनन्द और भक्ति से जल, चन्दन आदि अष्ट द्रव्यो का उनके आगे क्षेपण करता है। उससे भगवान को कोई प्रयोजन नहीं है। भव्य जीव उनके सामने एकाग्र चित्त से प्रार्थना करता है कि इस ससार में अनादि काल से जन्म-मरण करते हुए मुझे आकुलता की प्राप्ति हो रही है। उसकी भावना होती है कि मैं इस जन्म-मरण के दु ख को नाश करने के लिए आपके चरणो के निकट जल की धारा क्षेपण करता हूँ। जिससे फिर मेरे जन्म मरण रूप दु ख की प्राप्ति न हो। इस चतुर्गति रूप ससार मे अनेक इष्ट सयोग और आताप को सहन किया सो मैं अव तुम्हारे निकट शीतल चन्दन चढाता हूँ, जिससे फिर मुझे ससार के आताप की प्राप्ति न हो। पुन हे भगवन्! संसार में मुझे भ्रमण करते-करते कहीं भी स्थिरता नहीं मिली । अब मैं उस ससार के भ्रमण को मिटाने के लिए आपके चरणों के निकट अक्षत का पुंज चढाता हूँ, जिससे मुझे अक्षय पद मोक्ष की प्राप्ति हो । पुन हे भगवन्! इस कामदेव ने मेरे निज स्वभाव रूप शीलरत्न को नष्ट करके मुझे कामरूप अग्नि से वहुत तपाया है। उन कामदेव को मेटने के लिए मैं आपके चरणो मे पुष्प चढाता हूँ, जिससे मेरे निज स्वभाव रूप शील रत्न की प्राप्ति हो। हे भगवन्! मुझे क्षुधा वेदना ने वहुत ही दुःख दिया है, अत उसे मिटाने के लिए मैं आपके चरणो में नैवेद्य चढाता हूँ, जिससे कि मेरा क्षुधा रोग मिट जाये। हे भगवन्! इस संसार में मुझे मोह रूपी अन्धकार ने अन्धा कर दिया है, जिससे मैं हिताहित विचार से रहित होकर अन्धे के समान वन गया हूँ । इसलिए अब मैं उस अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने के लिए आपके चरणों में दीपक चढ़ाता हूँ, जिससे मैं पुन इस मोहरूपी अन्धकार में न पड़ सकूं। हे भगवन्! इन अष्ट कर्मों के सयोग से मुझे वहुत दुःख प्राप्त हुआ। अतः अब मैं उन कर्मों का नाश करने के लिए आपके चरण कमलो मे

अग्नि मे धूप क्षेपण करता हूँ, जिससे कि मेरे पूर्व कर्म नष्ट हो जायें और मुझे इन कर्मो का सयोग न हो । हे भगवन् ! इन कर्मों के फल से मुझे अत्यन्त पीडा प्राप्त होती रही है। अत अब मैं कर्म फल का नाश करने के लिए आपके चरणो मे फल चढाता हूँ, जिससे मोक्ष-फल की मुझे प्राप्ति हो।

इस प्रकार अष्ट द्रव्य से भव्य जीव अपनी भक्ति से पचपरावर्तन रूप ससार को जलाजलि देने के लिए भगवान के चरणो मे अर्घ चढाते हैं। भगवान की पूजा करने का यही प्रयोजन है । उसमे कोई दूसरी कामना नही है। यह भगवान की पूजा रूप भक्ति मार्ग अनादि से चला आया है। यह नवीन नही है। यह गृहस्थ श्रावक का मार्ग है, अर्थात् यह क्रिया गृहस्थ श्रावक जब तक गृहस्थाश्रम मे रहता है, तब तक व्यवहार रत्नत्रय पूजा तथा चार प्रकार के दान आदि शुभ राग की प्रवृत्ति करता है, और जो समस्त आरम्भ परिग्रह के त्यागी हैं, अपने आत्मिक रस मे लीन हैं, उनके लिए दर्शन, पूजन तथा शुभ कार्य मे प्रवृत्ति करने की प्रधानता नही है। वे तो आराध्य आराधक रूप भेद-बुद्धि को छोडकर अपने आत्मानुभव मे ही लीन रहते है। उनको भगवान के प्रतिबिम्ब की पूजा आराधना की जरूरत नही है। अत आरम्भी श्रावको को अरहन्त भगवान की प्रतिमा की स्थापना करना योग्य है।

उपहारं स्तवनं सुवाद्यनिनदं नृत्यं सुगीतगळि-
तुपचारंगळिवेसे निम्मरुचिये अल्तुल्तु निम्मल्लि मु- ।।
क्तिपदं स्वल्पमे वृद्धिवृद्धि धनिकगोदित्तोरळ्कोंबुद-
कुंपमानर्मिगे काण्केयेंदु कुडरे रत्नाकराधीश्वरा ।।१०१।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

स्तोत्र, उत्तम वाद्य, गाजा-बाजा, नृत्य, श्रेष्ठ गान आदि बातें क्या आपको इष्ट है ? नही-नही । आपमे क्या मोक्ष पद की कमी है ? वह

तो इस प्रकार है कि अधिक सम्पत्ति वाले को एक देकर दो ग्रहण करने के लिए भेंट दी जाय अर्थात् भक्त अपनी भक्ति प्रदर्शित कर स्वयं अपनी भावनाओ को उन्नत बनाता है।

पूजन करने, स्तोत्र पाठ करने तथा भगवान के सामने नृत्य आदि करने से भगवान प्रसन्न नहीं होते क्योकि वीतरागी होने के कारण वे तो सबसे उदासीन हैं। भक्त केवल अपनी आत्मा को पवित्र करने के लिए भगवान की पूजा, प्रतिष्ठा आदि करता है। पर इतना सुनिश्चित है कि भक्त की सारी मनोकामनाए भगवान की पूजा से पूरी हो सकती है। कविवर बनारसीदास ने पूजा का फल बताते हुए लिखा है—

ज्यौं नर रहै रिसाय कोपकर, त्यो चिन्ता भय विमुख बखान।
ज्यौं कायर शंकै रिपु देखत, त्यौं दरिद्र भाजै भयमान॥

ज्यौं कुनारि परिहरै षंडपति, त्यौं दुर्गति छडै पहिचान।
हितु ज्यौं विभौ तजै नहिं संगत, सो सब जिन पूजा फल जान॥

जो जिनेन्द्र पूजै फूलनसो, सुरनैनन पूजा तिस होय।
वदै भावसहित जो जिनवर, वंदनीक त्रिभुवन मे सोय॥

जो जिन सुजस करै जन ताकी, महिमा इन्द्र करैं सुर लोय।
जो जिन ध्यान करत बानारसि, ध्यावै मुनि ताके गुण जोय॥

जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने मे चिन्ता, भय, शोक इस प्रकार भाग जाते है जैसे क्रोध करने मे मुख की कान्ति। दुख और दरिद्रता इस प्रकार हट कर अलग हो जाती हैं जैसे शत्रु को देखते ही कायर डर कर रणक्षेत्र से भाग जाते हैं। भगवान की पूजा करने से दुर्गति इस प्रकार दूर हो जाती है, जैसे दुष्ट स्त्री अपने प्रेमी को छोड देती है। संसार के सभी प्रकार के सुख प्रभु पूजा से प्राप्त होते हैं। यह आध्यात्मिक और लौकिक सभी प्रकार की सिद्धियों को देती है, इसके समान सुखदायक और कोई साधन नहीं है। भगवान का पूजक कभी दीन दरिद्र

नहीं हो सकता है। चिन्तामणि रत्न के समान सभी इच्छाओ को यह पूरा करती है।

जो भगवान की पूजा पुष्पो से करता है, उसे इस जन्म मे तो अपार सुख शान्ति मिलती ही है, पर मरने पर देव लोग उसकी पूजा करते है, दर्शन करते हैं। भावसहित भगवान की पूजा करने वाले को किसी बात की कमी नही रहती है, वह तीनो लोको मे वन्दनीक होता है। जो जिनेन्द्र भगवान की कीर्ति का गान करता है, उसका यश मनुष्य की तो बात ही क्या, देवलोग गाते हैं तथा जो जिनेन्द्र भगवान का ध्यान करता है, वह इतना पुण्यात्मा बन जाता है कि उसका ध्यान मुनि करते है। अभिप्राय यह है कि पूजा के समान सुख देने वाला ससार मे अन्य पुण्य-कार्य नहीं है।

भगवान की पूजा मे वह बिजली की सी शक्ति वर्तमान है, जिससे भक्त के हृदय का कोना-कोना आलोकित्त हो जाता है। उसे जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, बिना माँगे अपने आप मिल जाती है। प्रतिदिन पूजा करने मे जो असमर्थ है, उसे भगवान के दर्शन तो अवश्य करने चाहिए। क्योकि प्रभु के सामने पहुँचने पर आत्मा के स्वरूप को समझने मे बडी भारी सहायता मिलती है। फल प्राप्ति की आकाक्षा से या किसी ग्रह के दुष्प्रभाव को दूर करने के निदान को लेकर पूजा करने से मिथ्यात्व का दोष आता है। वीतरागी प्रभु ससार के कर्त्ता नही है, फिर उनके लिए इस प्रकार की कल्पना करना मिथ्यात्व है। अचिन्त्य आत्म-शक्ति पर विश्वास न कर मन मे भय उत्पन्न करना मिथ्यात्व नही तो और क्या हो सकता है। सम्यग्दृष्टि भय नही करता, उसके मन में अपने आत्मा के प्रति - टल विश्वास रहता है। अत पूजन मे मिथ्यात्व से सदा बचना चाहिए।

जिस समय रावण ने वाली मुनि की स्तुति की थी जिस और समय अपने हाथ मे सितार लेकर स्तुति कर रहा था, उस समय उसका सितार टूट जाने से भक्ति के वश होकर उसने अपने हाथ की नस को

निकाल कर अपना सितार बना कर बजाया, । उस स्तुति के द्वारा उसको उस समय सातिशय पुण्य का बन्ध पडा । ऐसे ही शास्त्रो मे अनेक उदाहरण हैं । भगवान की स्तुति करने से अनेक कर्म नष्ट हो जाते हैं अथवा सातिशय पुण्य का बन्ध होता है । उसी पुण्य के द्वारा संसार में अनेक इष्ट की सिद्धि होकर अन्त मे स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार भव्य ससारी जीवो को हमेशा भक्ति के साथ भगवान की पूजा स्तुति करनी चाहिए ।

पुन कवि पूजा के महत्व का वर्णन करता है—

मोक्षश्रीसुखविश्वनाथनिवनेंदारोपिसल्पूजेयोळ् ।
यक्षदिक्प्रभुगळ् ग्रहतिथिवरनागसुर व्यंतरर् ॥
नक्षत्रमुं निगळ्सुमंत्रविधियिं सन्मानिसलपट्टरी ।
दाक्षिण्यं भजकंगदेन कुडदो रत्नाकराधीश्वरा ॥१०२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

'यह मोक्ष लक्ष्मी के सुख के लिए सर्वाधिकारी हैं' ऐसा सोचकर पूजा के समय चिन्तन करने से यक्ष, देवता, दिक्पाल, नवग्रह, तिथि देवता, नाग देवता, कल्पवासी देवता, व्यतर देवता, नक्षत्र एव ज्योतिर्देवताओ की श्रेष्ठ मत्र के विधान से भक्तो द्वारा अर्चा और सत्कार किये जाने पर सभी प्रकार के इष्ट पदार्थ मिलते हैं।

वीतरागी प्रभु की पूजा करने पर आत्म शुद्धि होती है तथा अधर्म रूप विकारों की ओर से प्रवृत्ति हटती है, जिससे व्यक्ति आशिक स्वतन्त्रता प्राप्त करता है तथा अपने स्वरूप मे लीन होने का प्रयत्न करता है। बात यह है कि जीव का स्वरूप स्वत धर्ममय है। जब कोई व्यक्ति इस स्वरूप से विचलित हो जाता है तो वह अधर्म की ओर जाता हुआ माना जाता है। पूजा, अर्चा, स्वाध्याय आदि बातो का एकमात्र उद्देश्य यही है कि आई हुई अधार्मिक प्रवृत्तियों को दूर किया

जाय। क्योंकि स्वभाव च्युति ही तो अधर्म है। वीतरागी प्रभु की पूजा करने से समस्त सुख सामग्रियो की प्राप्ति इसलिए होती है कि जीव अपने स्वभाव मे कुछ समय तक स्थित रहता है। यद्यपि पूजा से स्वभाव की प्राप्ति सीधे रूप से नही होती है, पर उसके द्वारा शुभ रागात्मक बुद्धि आने से परम्परा से स्वभाव की प्राप्ति होती है।

पूजा को जीव के लिए हितकारी इसीलिए माना गया है कि वह आत्म शुद्धि मे सहायक है। आत्मोत्थान की भूमिका इसके द्वारा सम्पन्न की जाती है। मोक्ष को प्राप्त करने वाली शुद्ध आत्माएँ तथा अर्हन्तो की आत्माएं तो विधिवत् पूज्य हैं ही, पर यक्ष, यक्षिणी, दिक्पाल, कल्प-वासी आदि सम्यग्दृष्टि देव भी सत्कार करने के योग्य है। जैसे किसी राजा, महाराजा के साथ उसके अधिकारी भी सम्मान प्राप्त करते हैं अथवा लोग उनका सम्मान करते हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान की पूजा के साथ उनकी सेवा करने वाले यक्ष यक्षिणी भी सम्मान के पात्र होते हैं। जो गृहस्थ भगवान की पूजा के साथ नवग्रह, यक्ष-यक्षिणी आदि देवी-देवताओं का सम्मान करता है, उसके सभी अभीष्ट कार्य सिद्ध हो जाते हैं। मणि मंत्र और औषधि का प्रभाव जैसे परोक्ष रूप से पड़ता है, उसी प्रकार इन देवी-देवताओ के सम्मान का भी प्रभाव पडता है।

तात्त्विक दृष्टि से जैनधर्म मे किसी के भी भाग्य को बदलने की शक्ति किसी भी देव, दानव और परोक्ष सत्ता मे नही बताई गयी है। प्रत्येक जीव अपने किए हुए कर्मों के फल को व्यवहार नय की दृष्टि से भोगता है, कर्त्ता भी जीव स्वय है और फल भोक्ता भी जीव ही है। न कोई इसको कर्म करने की प्रेरणा करता है और न कोई फल देता है। जीव स्वतन्त्र रूप से अपने द्रव्य रूप स्वभाव मे स्थित है, अत. निश्चय नय की अपेक्षा से यह अपने चैतन्य ज्ञानादि भावो का कर्त्ता तथा उन्हीं का भोक्ता भी है। यहाँ पर आचार्य ने स्थूल व्यवहार की अपेक्षा से यह कथन किया है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि देव सम्यग्दृष्टि पुरुष के कार्यों मे सहायक होते हैं तथा सभी सभव उपायों से उनके कार्यों को पूरा करते

में मदद करते हैं। इन देवो मे लौकिक कार्य करने की शक्ति मनुष्यो से अधिक होती है, अत सन्तुष्ट हो जाने पर ये अपने सहयोगियो की सभी प्रकार से सहायता कर सकते हैं।

आगे कवि ने इस श्लोक मे वतलाया है कि भक्ति भाव से पूजा करने से फल की तुरन्त ही प्राप्ति होती है। आगे वताया है कि—

अधम जीव मेढक सा कैसे, महादेव पदवी पाई।
हाथी के पैरो से दवकर, धर्म-भावना दिखलाई॥
निर्विकार-भाव से जिसने भक्ति प्रेम को दर्शाया।
जिन ईश्वर की कृपा कोर से उसने सव कुछ है पाया॥

आर्यावर्त के मगध देश में, राजगृह नाम का एक नगर है। एक दिन वहाँ के राजा श्रेणिक को, वनपाल (ऋषिनिवेदक) ने भगवान वर्द्धमान तीर्थंकर के विपुलाचल नामक पर्वत पर आगमन की सूचना दी। राजा भगवान के आगमन का सवाद सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसी समय उक्त पर्वत पर जाकर भगवान की पूजा अर्चना की। वह यतियों की वन्दना करने के उपरान्त वहीं वैठकर धर्म चर्चा सुनने लगा। इसी वीच मे मेढक के चिन्ह से युक्त, मुकुट और ध्वजा के साथ एक देव का पदार्पण हुआ। उसे देखकर श्रेणिक ने विस्मय पूर्वक गणधर से पूछा—'भगवन्! किस जन्म के पुण्य प्रताप से यह देव हुआ है? गणधर ने कहा— "इसी राजगृह मे नागदत्त सेठ और भवदत्ता नाम की सेठानी रहती थीं। पूर्ण आयु भोगने के वाद, सेठ जी की मृत्यु हो गई और वे अपने घर के पीछे की वावडी मे मेंढक होकर टर्र-टर्र करने लगे। एक दिन की वात है कि मेंढक को अपनी स्त्री सेठानी को देखकर अपने पूर्व जन्म की वात याद आ गई, और उसे याद कर सेठानी के निकट छलाग मारकर आने का प्रयत्न किया, किन्तु सेठानी डरकर भाग गई। वेचारा मेंढक क्या करता। लाचार होकर अपनी वावडी में लौट आया। प्रतिदिन यही घटना घटती। इधर मेंढक अपनी सेठानी से

मिलने के लिए तडप-तडपकर छलाग मारकर जाता, उधर सेठानी डरकर भाग जाती थी। वह वेचारी क्या समझती। प्रतिदिन का यही हाल था। एक दिन सेठानी ने सुव्रत नामक मुनि से मेढक की कथा कह सुनाई और पूछा—भगवन्! यह मेढक कौन है? मुनि महाराज ने कहा—"यह मेढक तुम्हारे पूर्व जन्म का नागदत्त नामक पति है।" सेठानी ने मेढक को अपने घर मे लाकर अत्यन्त आदर के साथ रखा। हे राजन्! एक दिन ऐसी घटना घटी कि तुमने भगवान के आगमन के आनन्द मे भेरी बजवाई थी। उसे सुनकर मेढक के हृदय मे, पूर्व भक्ति का स्रोत उमड पडा और वह अपने मुह मे कमल का फूल लेकर यहाँ आ रहा था। उस वक्त रास्ते मे तुम्हारे हाथी के पाँव से वह मेढक दब कर मर गया और उसी पुण्य के प्रताप से वह देव हुआ है। ऐसा सुनकर श्रेणिक महाराज गद्‌गद हो गये और सोचने लगे—अहा! जब मेढक, सा अधम जीव पूजा के अनुमोदन से देव हो गया, तब मनुष्य से क्या नही हो सकता है?

इसी प्रकार करकण्डु की भी कथा है—

पूर्व जन्म का ग्वाला था, दुर्जन था तन से महामलीन।
कमल-पुष्प से पूजा करके, देव भक्ति मे होकर लीन॥
प्राप्त किया करकण्डु नाम से, वैभवशाली नृप का मान।
अत करो जिन ईश्वर पूजा, जो सुख शान्ति मोक्ष का धाम॥

इसी आर्यावर्त के तेरपुर नगर मे नील और महालीन नामक दो राजा थे। उसी नगर मे वसुमित्र नामक एक सेठ रहता था। वसुमित्र के यहा धनदत्त नामक एक ग्वाला रहता था। उसने एक दिन वन मे एक तालाब मे एक सहस्र दल कमल देखा और उसे तोडकर ले जाने ही वाला था कि वहाँ एक नागकन्या प्रकट हो गई और उसने धनदत्त से कहा कि इस सहस्र दल कमल को किसी श्रेष्ठ पुरुष को भेंट करना। वह कमल लेकर घर आया और सब बातें सेठ जी से कही। सेठ

जी ने राजा से कहा। राजा, सेठ और ग्वाला तीनो ने सुगुप्त मुनि से पूछा—"भगवन्! सबसे श्रेष्ठ पुरुष कौन है? मुनि ने जिनराज को सबसे श्रेष्ठ बताया। ग्वाले ने भगवान् जिन के निकट जाकर कहा—हे सर्वश्रेष्ठ! कमल गृहाण।" ऐसा कह उसने कमल फूल चढाया और घर को प्रस्थान किया।

दूसरी कथा यो है—श्रावस्ती नामक नगरी मे सागरदत्त सेठ और नागदत्ता नाम की उसकी स्त्री थी। नागदत्ता का सोमशर्मा नामक ब्राह्मण से अनुचित सम्बन्ध था। इससे दुखी होकर सेठ ने दीक्षा ले ली और मरकर स्वर्गलोक को गया। स्वर्ग से चयकर वह चम्पापुरी के राजा वसुपाल के यहाँ दन्तिवाहन नामक पुत्र हुआ। इधर सोमशर्मा मरकर कलिंगदेश में नर्मदा तिलक नाम का हाथी हुआ। दैवयोग से, दन्तुर के राजा ने उसे पकडवाकर वसुपाल के यहाँ भेज दिया। व्यभिचारिणी नागदत्ता भी मरकर ताम्रलिप्त नगरी मे वसुदत्त की स्त्री हुई और इस जन्म मे भी, उसने नागदत्ता नाम ही ग्रहण किया। इसकी दो पुत्रियाँ हुई जिनका नाम धनवती और धनश्री था। पहली से धनपाल ने और दूसरी से वसुमित्र ने शादी की। वसुमित्र जैनी था, अत. उसके ससर्ग से धनश्री भी जैनी हो गई। नागदत्ता अपनी दोनो लडकियो के यहाँ आती-जाती थी। जब वह धनश्री के यहाँ गई तो उसके कहने से नागदत्ता ने जैनधर्म की दीक्षा ले ली। किन्तु धनवती बौद्धधर्म मानती थी, उसने उसे बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया। इस प्रकार उसने तीन बार, जैनमत और तीन बार बौद्धमत ग्रहण किया। किन्तु अन्त मे वह अणुव्रतो मे अटल बनी रही और मरने के बाद, कौशाम्बी के राजा वसुपाल की पुत्री हुई। वसुपाल ने अपनी पुत्री को, बुरे मुहूर्त में जन्म लेने के कारण एक सन्दूक मे बन्द कर, ऊपर से अपने नाम की एक मुहर लगवाकर यमुना मे छोड देने की आज्ञा दी। वह सन्दूक बहते-बहते पद्मदह में जा लगा। सयोग में उसे कुसुमदत्त माली ने पाया। उसने उस कन्या को अपनी स्त्री कुसुमावती को दे दिया। वह अत्यन्त प्रसन्न

हुई और उस कन्या का नाम पद्मावती रखा और वडी प्रसन्नता से उसका लालन-पालन करने लगी। पद्मावती जव जवान हुई, तव उसके सौन्दर्य की धून चारो ओर मच गई। उसके रूप लावण्य और गुणो की प्रशसा सुनकर दन्तिपाल नामक राजकुमार कुसुमपुर मे आया और माली से पद्मावती के सम्बन्ध मे पूछा। माली ने राजकुमार से सारी वातें प्रकट कर दी। राजकुमार अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने पद्मावती के माथ व्याह कर लिया। पद्मावती भी अपने पति की प्राणवल्लभा वन गई। दन्तिवाहन भी समयानुसार राजसिंहासन पर वैठा। एक दिन पद्मावती ने अपने पति से स्वप्न मे जो देखा था सो कहा। तव राजा ने कहा कि हाथी, सिंह और सूर्य के देखने से पुण्यवान पुत्र होगा। स्वप्न का ऐसा सुन्दर फल जानकर, पद्मावती वडी प्रसन्न हुई। तेरपुर का ग्वाला भी तालाव मे स्नान करते हुए शैवाल मे फँसकर मर गया और जिससे वसुमित्र सेठ को वडा शोक हुआ और उसने उसकी अन्त्येष्टि क्रिया कर वैराग्य धारण किया एव तपस्या करके स्वर्ग धाम पाया। वह ग्वाला, मरने के वाद पद्मावती के गर्भ मे आया। एक दिन की वात है कि रानी ने राजा से कहा, कि "मेघ घिरा हो, विजली चमकती हो, उस समय आपके साथ हाथी के ऊपर सवार होकर नगर के वाहर घूमने की मेरी इच्छा होती है। राजा रानी के साथ नर्मदात्तिलक नामक हाथी पर वैठ कर रानी की इच्छा पूर्ण करने को भ्रमण के लिए निकले। हाथी एकाएक रास्ते में बिगड गया एव लोगों को देखते ही भागना शुरू किया। राजा तो किसी प्रकार पेड की शाखा पकड कर वच गये किन्तु रानी नही वचाई जा सकी। रानी को पीठ पर लेकर हाथी भागता ही गया। लोग हाथ मल कर, पछता-कर रह गये। राजा हाय-हाय करके रह गया और सव लोगो के देखते-देखते हाथी सवकी आँखो से ओझल हो गया। वह हाथी पद्मावती को अपनी पीठ पर वैठाये, अनेक देशो को लाघता हुआ दक्षिण की ओर जा पहुँचा। हाथी भी दौडते-दौडते थक चुका था, और वही एक

तालाव के किनारे बैठ गया । वनदेवी ने पद्मावती की रक्षा की। पद्मावती सरोवर के किनारे बैठ कर अपने भाग्य पर रोने लगी। भट नामक माली को पद्मावती के रोने पर दया आयी, उसने उसे अपने घर चलने को कहा । पद्मावती ने कहा "तू कौन है जो मेरी भलाई करना चाहता है ?" माली ने कहा—बहिन ! मैं दुखियो के दुःख को दूर करना चाहता हूँ, तुम निर्भय होकर मेरे घर चलो।" पद्मावती ने इस प्रकार के आश्वासन पर माली के घर जाना स्वीकार कर लिया और माली उसे हस्तिनापुर में ले आया और लोगों से पद्मावती को अपनी वहन वताया। किन्तु माली की स्त्री वड़ी दुष्टा थी, माली की अनुपस्थिति मे उसने पद्मावती को अपने घर से निकाल दिया। पद्मावती रोती-पीटती, असहाय होकर श्मशान मे जा पहुँची और वही उसने पुत्र प्रसव किया। पुत्र उत्पन्न होने के वाद ही, एक चाण्डाल ने आकर कहा कि आप मेरी स्वामिनी है। पद्मावती ने पूछा—मैं कैसे तेरी स्वामिनी हूँ। चाण्डाल ने कहा—"मैं विद्युत्प्रभ नामक राजा का पुत्र हूँ और मेरा नाम वलदेव है। एक दिन मैं अपनी स्त्री के साथ, दक्षिण की तरफ क्रीडा करने जा रहा था, कि मार्ग मे श्री वीर भट्टारक के अवस्थान करने के कारण, मेरा विमान उनके ऊपर से नही जा सका। मुझे क्रोध आया, मैंने समझा कि इन्होने मेरे विमान को रोका है। मैंने उपसर्ग किया किन्तु उनके पुण्य प्रताप के कारण मेरी विद्या ही नष्ट हो गयी अतः मैंने प्रणाम कर देवी से निवेदन किया कि वह मेरी विद्या पुनः मुझे लौटा दे। देवी ने कहा कि हस्तिनापुर के श्मशान मे तू जिस वालक को देखेगा, उसी के राज्य मे, तेरी विद्या तुझे प्राप्त हो जायेगी। अतः उसी दिन से मैं श्मशान की देखभाल कर रहा हूँ और आज मेरी मनोकामना पूर्ण हुई है। पद्मावती ने चाण्डाल के मुह से भेद-भरी कहानी सुनकर अपने नवजात शिशु को लालन पालन के लिए उसे दे दिया। चाण्डाल ने प्रसन्नता के साथ नवजात शिशु को लाकर अपनी स्त्री को दे दिया। लड़के का नाम करकण्डु रखा गया । पद्मावती ने

भी ब्रह्मचारिणियो के आश्रम मे रहकर समाधिगुप्त नामक मुनि से दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। इस पर मुनि ने कहा कि तुमने तीन वार दीक्षा लेकर अपने व्रत को भग किया है, अत तुम पर तीन विपत्ति आयेंगी। इसके वाद जव तुम अपने पुत्र को राज्य करते हुए देखोगी, तव तक तुम्हारी तीनो विपत्ति भी दूर हो जायेंगी, तव मैं तुम्हे दीक्षा दूंगा। पद्मावती ने सन्तोप की सास ली और अपने पुत्र करकण्डु को देखकर समय व्यतीत करने लगी। करकण्डु और वलदेव भी उस श्मशान मे आनन्द पूर्वक रहने लगे। एक दिन सयोगवश जयभद्र और वीरभद्र नामक दो आचार्य श्मशान मे आये। उस समय एक मुर्दे के नेत्रो मे से तीन वास उगते दिखलाई दिये। उन्हे देखकर एक यति ने आचार्य से इसका कारण पूछा। आचार्य ने कहा, "इसमे कोई आश्चर्य की वात नही। इस नगर का जो राजा होगा, इन तीनो बासो से उसके अकुश, छत्र और ध्वजा के दण्ड वनाये जायेंगे। सयोग से, करकण्डु के हाथ मे वे वास आ गये। कुछ दिनो के वाद उस नगर का राजा मर गया। वह नि सन्तान था। अत राज परिवार के लोगो ने राजा वनाने के लिए एक हाथी को छोडा और घोषणा कर दी कि हाथी की पीठ पर जो सवार होकर आयेगा, वही राजा होगा। हाथी ने करकण्डु को अपनी पीठ पर बैठाकर महल मे प्रवेश किया। सव लोग, आनन्द मनाने लगे। करकण्डु राजा हुआ, वलदेव को पुन विद्या भी मिल गई। वह राजा को प्रणाम कर घर गया। इधर करकण्डु ने अपने शत्रुओ का नाश कर राज्य शासन-भार ग्रहण किया। करकण्डु के प्रताप को सुनकर दन्तिवाहन ने उसे अपनी आधीनता स्वीकार करने को कहा। करकण्डु ने क्रोधित होकर दूत से कहला भेजा कि स्वामी और भृत्य का निर्णय रणभूमि मे ही होगा। वस फिर क्या था दोनो ओर की सेना सग्राम भूमि मे अपने-अपने भाग्य के निर्णय के लिये आ डटी। रणभेरी वज चुकी थी, युद्ध होने मे केवल कुछ ही क्षणो की देरी थी, कि पद्मावती ने अपने पुत्र से कहा—"पुत्र! युद्ध बन्द करो, ये तुम्हारे पिता हैं शत्रु

नहीं।" माता की बात सुनकर करकण्डु हाथी से उतर पड़ा और पिता के चरणो मे पड़कर क्षमा याचना की। पिता और पुत्र का अभूतपूर्व सम्मिलन था, बड़ा ही द्रावक दृश्य था। क्षण भर मे ही लड़ने वाली दोनो सेनायें स्नेह की गगा मे अवगाहन करने लगी। जहाँ क्षण भर पहले सग्राम का भीषण निनाद हो रहा था, घोर कोलाहल मचा हुआ था, वहाँ शान्ति की अपूर्व छटा छा गई। सबसे बढ़कर अज्ञात पुत्र का अपने प्रिय पिता के साथ सम्मिलन हुआ जिसे देखकर स्वर्ग और मृत्यु-लोक में भी खुशियाँ छा गई। तत्पश्चात् दन्तिवाहन करकण्डु को ही अपना राज्य दे पद्मावती के साथ भोगविलास करता हुआ अपना समय आनन्द के साथ व्यतीत करने लगा। करकण्डु ने भी सुचारु रूपेण राज्य-शासन करना आरम्भ किया। कुछ दिनों बाद उसके मन्त्रियो ने चेरम, पाण्ड्य और चोल आदि देशो को जीतकर अपने आधीन करने की सलाह दी। इसकी सूचना उक्त देश के अधीश्वरो को दी गई। दोनो ओर से खूब घमासान युद्ध हुआ। सध्या का समय हो जाने से लड़ाई बन्द कर दी गयी। प्रात काल होते ही पुन. युद्ध आरम्भ हुआ। इस बार करकण्डु की सेना मे शिथिलता आ गई थी अत. स्वय करकण्डु हाथ मे तलवार लेकर शत्रुओ पर शेर की भाँति झपट पड़ा और बात की बात मे समस्त राजाओ को बन्दी बना लिया। राजाओ के सिर पर पैर रखते हुए उनके मुकुटो मे जैसे ही उसने जिन भगवान की प्रतिमा देखी तो उसे बड़ा ही दु ख हुआ और उसने उन समस्त राजाओं से अपनी भीषण भूल के लिए क्षमा की प्रार्थना की और उन्हें विदा कर आप वही ठहर गया। इसी बीच में धारा और शिव नामक दो भीलो ने आकर राजा से निवेदन किया—हे महाराज! यहाँ से छ कोस की दूरी पर, पर्वत के ऊपर धाराशिव नामक एक नगर है, वहाँ एक हजार जिनालय हैं। पर्वत के शिखर पर साँप की बाबी है। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि एक सफेद हाथी प्रतिदिन सरोवर से जल और कमल लाकर तीन बार परिक्रमा कर बाबी के ऊपर जल चढ़ाता है। राजा ने यह सुनकर

भीलो को इनाम दिया और वावी को खुदवाने का हुक्म दिया। खोदे जाने पर उसमें से भगवान् पार्श्वनाथ की रत्नमयी प्रतिमा निकली। राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसका नाम अर्गलदेव रक्खा एव उसकी स्थापना करा दी। मूर्ति के आगे एक ऊची जगह देखकर, राजा ने कारीगरो से कहा कि इसे काटकर साफ कर दो। कारीगरो ने कहा—राजन्! यह जल की नाली है, साफ करने से जल निकलने का डर है। किन्तु राजा ने उनकी वात अनसुनी कर उसे तुडवाने का हुक्म दिया। तोडे जाने पर जल का ऐसा स्रोत फूट चला जो किसी प्रकार वन्द नही किया जा सका। राजा घवडाया और कुशासन पर वैठकर स्रोत वन्द करने के निमित्त सन्यास धारण कर लिया। इसी बीच एक नागकुमार ने प्रकट होकर कहा—राजन्! कालचक्र के कुप्रभाव से इस रत्नमयी प्रतिमा की रक्षा होना असम्भव है। अत. जल वन्द करने का हठ छोड दो। राजा ने कहा— देव! इसे किसने वनाया, और वावी मे प्रतिमा किसने स्थापित की, इसका वृत्तान्त वर्णन कीजिए। तव नागकुमार ने कहना प्रारम्भ किया—"इस विजयार्द्ध की उत्तर श्रेणी में नभस्तिलकपुर नामक एक नगर है, उसमे अमितवेग और सुवेग नामक दो राजा राज्य करते थे। एक समय की वात है कि वे मलयगिरि में रावण के वनाये हुए जिन मन्दिरो में वदना करने गये। वे जहाँ-तहाँ भ्रमण करने लगे। वही पर भ्रमण करते हुए उन्होंने पार्श्वनाथ भगवान की एक प्रतिमा देखी, तो उसे ले आये तथा इसी स्थान पर उसे रख दिया। थोडी देर के वाद जव वे उसे उठाने के लिए गये तो वह मजूपा रचमात्र भी न टल सकी। दोनों वडे हैरान हुए और तेरपुर जाकर अवधिवोध नामक महामुनि से इसका कारण पूछा। मुनि ने कहा, "तुममे से यह सुवेग मरकर जन्मान्तर में हाथी होगा। उस समय जव राजा करकण्डु वहाँ आकर मजूषा को उखाडकर पूजा करेंगे, तव वह हाथी मर कर स्वर्ग को जायेगा। दोनो ने फिर प्रश्न किया—अच्छा, यह प्रतिमा का लयण

किसने वनाया है ? मुनि ने कहा—पूर्व समय में विजयार्द्ध की दक्षिण श्रेणी के रथनूपुर नगर मे नील नाम के राजा थे। एक समय लड़ाई मे शत्रुओ से हार कर, जव उनकी विद्या नष्ट हो गई तब उन्होंने यह लयण वनाया था, तभी उन्हे विद्या भी प्राप्त हो गयी थी और वे स्वर्गधाम को सिधारे थे। इस वृत्तान्त को सुनकर, दोनो वहीं दीक्षित हो गये। क्रम से अमितवेग तो ब्रह्मोत्तर स्वर्ग को गया और सुवेग मरकर हाथी हो गया। इसके वाद अमितवेग, जो देव हुआ था, एव सुवेग के जीव को, जो हाथी हुआ था, उसे समझाने के लिए आया एव कहा कि, यदि कोई आकर इस वाल्मीक (वावी) को खोदे तो तुम सन्यास ले लेना। अत हे राजन्! यही कारण है कि जव तुमने उस वांवी को खुदवाया तव उक्त हाथी ने सन्यास ग्रहण कर लिया। आप भी अपने पूर्व जन्म मे, एक ग्वाले थे, किन्तु जिन भगवान की पूजा के प्रताप से राजपद पाया है। यही लयण के सम्बन्ध का इतिहास है। इस प्रकार कथा कह कर नागकुमार चले गये और राजा ने हाथी को धर्म-कथा सुनाई और वह अपना शरीर छोड स्वर्ग-धाम को गया। फिर करकण्डु ने अपनी माता और अर्गलदेव के तीन लयण वनवाये और माता पद्मावती सहित दीक्षा ग्रहण करली। अन्त मे करकण्डु ने अपने विशिष्ट तप के प्रभाव से, सहस्रार लोक को गमन किया और दन्तिवाहनादि भी अपने-अपने तप के वल से स्वर्गलोक गये।

अत जव, एक साधारण ग्वाला भी जिन भगवान की पूजा के प्रताप से स्वर्गाधिकारी वन गया, तव अन्य लोग, जो निष्ठा के साथ जिन भगवान की पूजा करेंगे, क्यो नही स्वर्ग के अधिकारी वनेंगे ? अवश्य वनेंगे।

दान

उपचारक्कुडलीववंगुणविडल्मत्तेनोळ्दीयनो ।
उपमातीतने निम्म विवनलंपिदर्चिसल्संपदं ॥

बिपुळानंददे निम्म रूपिन मुनीद्रर्गन्नम नीडुवं-गपवर्ग निजदुर्गमप्पुदरिदे ? रत्नाकराधीश्वरा ॥१०३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

दुखियो को उपचार के लिए दवा, पहनने के लिए वस्त्र और खाने के लिए भोजन देने से कौन सी वस्तु प्राप्त नही होती ? आदर्श रूप से रहने वाले भगवान् ! आपकी मूर्ति की भक्तिपूर्वक पूजा करने से सम्पत्ति प्राप्त होती है । जो मुनिश्रेष्ठ आपके रूप को धारण करता है, ऐसे मुनि को सन्तोष पूर्वक आहार देने वाले व्यक्ति को क्या मोक्ष तथा आत्मरक्षण के लिए स्थान का मिलना असाध्य है ?

ससार मे दुखियो को सभी सम्भव उपायो से सहायता करने पर व्यक्ति के विकार और उसकी कषायें कम हो जाती हैं । ससार मे जो कषाय-पुष्टि के लिए अपने व्यवहार को आडम्बर रूप मे परिणत करता है तथा दूसरो को दिखाने के लिए अपने को निर्दोष बताता है, वह सबसे पहले अपनी आत्मा को धोखा देता है, वह आत्मवचक है अपने तथा दूसरो के लिए खतरनाक ऐसे व्यक्ति से समाज का विशेष कल्याण नहीं हो सकता हैं तथा वह स्वय भी अपने को नरक का कीडा बनाता है । जो व्यक्ति धन से ममत्व दूर कर लेता है तथा अपने परिणामो मे निर्मलता ले आता है, वह दान, पूजा और परोपकार के कार्यो की ओर विशेष रूप से अग्रसर होता है ।

ससार मे सबसे बडा पाप परिग्रह को इसलिए माना गया है कि इसके द्वारा ही सबसे बडी अशान्ति होती है । नाना प्रकार के झगडे बखेडे होते हैं और एक दूसरे का गला काटा जाता है । क्रूरतापूर्वक हत्याएँ भी इसी के कारण होती हैं । राष्ट्रो मे अशान्ति का दावानल भी इसी परिग्रह के कारण धधकता है । अत इस परिग्रह से मोह दूर करने के लिए दान देना आवश्यक है । जैनागम मे गृहस्थ के लिए स्पष्ट रूप से आदेश दिया गया है कि वह न्यायपूर्वक अपनी आजीविका का

अर्जन करे। यहाँ न्यायवृत्ति का अर्थ राज्य व्यवस्था का उल्लघन न करना तो है ही, पर साथ ही अधिक सचयवृत्ति को छोडना भी है। जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक सचय करता है वह सामाजिक दृष्टि से दण्डनीय है। ऐसे व्यक्ति को समाज से प्रारम्भ मे भले ही आदर मिले, पर पीछे तो उसे घृणा ही मिलती है।

दान देने और भगवान की पूजा मे धन व्यय करने से धन विषयक मोह बुद्धि हटती है। यदि उक्त दोनो वृत्तियो से धन सम्बन्धी ममत्व घटने के स्थान में बढता ही हो तो फिर ये दोनो क्रियाएँ पापवर्धक ही मानी जायँगी, क्योकि इन दोनो क्रियाओ का कार्य तो मूर्छा को घटाने का है। यदि इनसे मूर्छा का घटाना तो अलग रहा, वह और बढे तो निश्चय ही अधर्म होगा। जो लोग ऐसा समझते है कि भगवान की पूजा करने से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, घर मे सभी प्रकार के सुख उत्पन्न हो जाते हैं तथा समस्त ऐहिक कामनाएँ परिपूर्ण हो जाती हैं, वे बिल्कुल गलत सोचते हैं। क्योकि प्रभु-भक्ति या पूजा किसी भी प्रकार की लौकिक सामग्री प्राप्त करने के लिए नही है। किन्तु यह तो विकार और कषायो को दूर करने मे परम सहायक है।

दान देना और मन मे हर्ष विषाद के समय साम्यभाव रखना विकार और कषायो को घटाने की सर्व प्रथम सीढी है। जो व्यक्ति अनायास मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, उसे सत्पात्रो को दान और भगवान जिनेन्द्र की पूजन सर्वदा अवश्य करनी चाहिए। एक बात यहाँ स्मरण रखने की यह है कि कषाय पुष्टि या पूँजीवादी मनोवृत्ति का आश्रय दान मे कभी नही लेना चाहिए।

जो चार प्रकार के दान हैं वे पुण्य के कारण हैं। और इस पुण्य के कारण से चक्रवर्ती, देव पद, उत्तम कुल प्राप्त होता है। अन्त मे तपश्चर्या करके स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति दान के द्वारा ही होती है। इसलिए प्रत्येक भव्य श्रावकों को स्व और पर के कल्याण के लिए अर्थात् कर्म-क्षय करने की भावना रख करके ये दान हमेशा देना

चाहिए। दानो मे दया दान, क्षमा दान, नीति दान और सत्पात्र दान, इनमें सत्पात्र दान ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। पात्रो मे उत्तम पात्र, मध्यम पात्र और जघन्य पात्र ये तीन प्रकार के पात्र कहे गये है। इनमे मुनि उत्तम पात्र है, ऐलक मध्यम पात्र और क्षुल्लक जघन्य पात्र है। बाकी कीर्ति दान, क्षमा दान, करुणा दान ये जो दान है, ये केवल अपनी कीर्ति के लिए या जीवो का उपकार करने के लिए किये जाते हैं इसलिए इनको दया दान कहते हैं। अत यह पुण्योत्पादक न हो करके कीर्ति को उत्पन्न करने वाला है। इसलिए समय के अनुसार गृहस्थ को अपने धन का सदुपयोग करके इह और परलोक का साधन कर लेना चाहिए।

ध्यान और अध्ययन मे लीन रहने वाले श्री मुनिराज को हमेशा ही भक्ति पूर्वक दान देना चाहिए।

विज्ञानं क्षमे शक्तिभक्ति दये निर्लोभ दृढ़ंगूडिया—
त्मज्ञानान्वितयोगिगन्नमनलंपिदित्तवं कूडे तां—
सुज्ञानं वडेदं सुखं वडेद नोळ्पं पेत्तोने मातो स—
र्वज्ञा निम्मने कंडनिन्नुळिदुवें ? रत्नाकराधीश्वरा।१०४।

हे रत्नाकराधीश्वर!

विशेष ज्ञान, शान्त गुण, सामर्थ्य, भक्ति, कृपा से युक्त आशा रहित रहने वाले तथा परमात्मा मे भली भाँति लीन रहने वाले मुनि को भक्तिपूर्वक आहार देने वाला मनुष्य शीघ्र ही उत्तम ज्ञानी हो जाता है और उत्तम सुख तथा योग्यता को प्राप्त करता है। कितनी अच्छी बात है यह! सर्वज्ञ! वह आप ही के दर्शन मे लीन रहने वाला बन जाता है।

गृहस्थ अपना सर्वांगीण विकास गृहस्थी मे अलिप्त भाव से रहता हुआ कर सकता है। गृहस्थ के प्रमुख दैनिक कृत्यो मे दान, पूजा, स्वाध्याय और सयम को प्रधानता प्राप्त है। यो तो गृहस्थ करुणा और

समतावश भी दान देता है। करुणा दान के समय वह पात्र और अपात्र का विचार नहीं करता, क्योंकि उस समय उसके हृदय में दया का समुद्र उमड़ा रहता है, जिससे किसी भी दुखी जीव को वह सभी सम्भव उपायों से अपनी शक्ति के अनुसार सहायता करता है। वास्तव में सत्पात्र को दिया गया दान ही सार्थक होता है, क्योंकि उससे पात्र और दाता दोनों को ही भलाई होती है।

मुनि या त्यागी उत्तम पात्र बताये गये हैं, उनको जो व्यक्ति आदरपूर्वक दान देता है तथा संयम को धारण करने में सहायक शरीर के संचालन के लिए आहार प्रदान करता है, वह व्यक्ति बहुत ही प्रशंसा का पात्र होता है। सत्पात्र को सम्यक् विधिपूर्वक आहार दान देने से पंचाश्चर्य सम्पन्न होते हैं तथा भावनाओं के विशुद्ध होने से जीव को महान् पुण्य का बन्ध होता है। इस जीव का चरम लक्ष्य वीतरागता की प्राप्ति है। पर यह वीतरागता तभी मिल सकती है, जब जीव विकार और कषायों को अपने से पृथक् कर देता है। श्रेष्ठ मुनियों को आहार-दान देने से अपनी आत्मा में विशुद्धि तो आती ही है, क्योंकि पदार्थों से मूर्छा दूर होती है।

जैनाचार्यों ने यतिधर्म के निर्वाह के लिए निर्ममता और स्वावलम्बन को आवश्यक माना है। यति अपनी किसी भी क्रिया को पराधीन नहीं रखता है, वह शरीर के अतिरिक्त संसार के समस्त पदार्थों से अपनी ममत्व प्रवृत्ति को हटा लेता है। यद्यपि शरीर के साथ सम्बन्ध रहने के कारण उसकी कतिपय प्रवृत्तियाँ शरीराधीन होती हैं तथा देखने में भी यह प्रतीत होता है कि शरीर के साथ इसका सम्बन्ध है पर वास्तव में वह शरीर से अपने को भिन्न ही समझता है तथा व्यवहार भी भेद विज्ञान को लेकर करता है। उसकी दृष्टि में शरीर एक जुदा द्रव्य है तथा आत्मा पृथक् द्रव्य है, इन दोनों का आपस में निश्चयनय से कोई सम्बन्ध नहीं। व्यवहार से ये दोनों सम्बद्ध मालूम होते हैं तथा इन दोनों का [illegible] सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है।

गृहस्थ के जीवन की सार्थकता उपर्युक्त प्रकार से दान देने पर ही हो सकती है। दान मुनियो को तो देना ही चाहिए परन्तु अपने साधर्मी भाइयो की भी सहायता करनी चाहिए। जो धनी मानी हैं, उनका प्रधान कर्त्तव्य है कि वे अपने साधर्मी और सहयोगियो की भरपूर सहायता करें। यद्यपि इस प्रकार की सहायता सुदान मे परिगणित नही की जायगी फिर भी दान तो इसे भी माना जायगा। दान की प्रवृत्ति प्रशमा के लिए नही होनी चाहिए, वल्कि स्व और पर के उपकार के लिए दान देना चाहिए।

इसका भावार्थ यह है कि जो सच्चा साधु है, वह हमेशा ध्यान और अध्ययन मे लीन इहलोक और परलोक की वाछा से रहित स्व और पर कल्याण के लिए अपनी आत्मा मे रत रहता है। इसी को ससार, भोग, इन्द्रिय विषयो से उदासीनता कहा जाता है। वे किसी भी वस्तु की इच्छा नही रखते हैं। हमेशा आत्मा के अन्दर रत रहकर शरीर भोग-सम्बन्धी निर्ममत्व भावना रखते है। ऐसा विचारते हैं कि—

क्रमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपञ्जरे।
भुज्यमाने न भेतव्यं, यतस्त्व ज्ञानविग्रह ॥

हे आत्मन्! तुम तो ज्ञान रूप शरीर वाले हो फिर क्यो इस देह-रूपी पञ्जर के नष्ट होने पर भय कर रहे हो। क्योंकि यह देह पञ्जर कीडो के पुज से भरा हुआ है तथा जर्जरित है। ऐसा विचार कर महा-पुरुष मरण से भय नहीं करते हैं।

इस प्रकार साधु हमेशा अपने आत्मा मे मग्न रहते हैं। ऐसे साधु को आहार दान दे करके श्रावक अपने मनुष्य पर्याय को या धन को फलीभूत वना लेता है और यह पुण्य का वन्ध कर लेता है। वह श्रावक धन्य है।

रत्नत्रय स्वावलम्वन स्वरूप होता है—

ओडल दंडिसुर्तिद्रियंगळ पोडर्प कुंदिसुत्तं गुण—

त्रिडियुत्त' मनदेळ्गेयं तडेयुतं तन्नात्म नोळ्ताने भा—
नु'डियुत्त' भजकर्गे मुक्ति पथमं तोरुत्त' नोवक्'तिर्यि।
पडे गेयूदा चरिपातने शिवनला रत्नाकराधीश्वरा !

हे रत्नाकराधीश्वर !

शरीर से कष्ट सहते हुए, स्पर्शन, रसना इत्यादि इन्द्रियो को जीतते हुए आत्मिक गुणो को ग्रहण करने वाला, मन के स्वेच्छाचार का निरोध करने वाला, अपना आत्मा मे ही स्थित रहने वाला तथा रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष मार्ग का सेवन करने वाला और दु ख को सतोप से नष्ट करके आगे वढने वाला क्या मगल स्वरूप नही होता ?

ससार मे सहिष्णु सयमी और रत्नत्रय का आराधक ही सब प्रकार से पूज्य और वन्दनीय होता है। इस प्रकार के व्यक्ति की अपनी आवश्यकताएँ अत्यल्प रहती हैं तथा वह शरीरजनित क्रियाओं को छोड़ अन्य वाह्य क्रियाओ मे सलग्न नही होता। आत्मा के सिवा अन्य सभी वस्तुओ को पर समझता है तथा वह अपने जीवन मे पूर्ण स्वावलम्वन ले आता है। जव तक जीव स्वावलम्वन को नही अपनाता है, तभी तक वह इन्द्रिय और मन की आधीनता मे रहता है। जीवन मे स्वावलम्वन आते ही पर प्रवृत्तियाँ दूर हो जाती हैं

रत्नत्रय स्वावलम्वन स्वरूप ही होता है। जव यह विश्वास हृदय मे उत्पन्न हो जाय कि मैं स्वतन्त्र द्रव्य हूँ, और मेरा सम्वन्ध इन पर वस्तुओ से विल्कुल नही है अत मेरा प्रत्येक प्रयत्न अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए ही होगा। धन, दौलत, स्त्री, पुत्र, महल, मकान ये सभी पदार्थ अपने स्वरूप मे स्वतन्त्र रूप से अवस्थित हैं अत मुझे अपने स्वरूप की प्राप्ति का ही प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार की प्रतीति ही तो सम्यग्दर्शन की कोटि में आती है। जव जीव का प्रयत्न इस प्रतीति को सार्थक करने के लिए आगे वढता है तथा वह स्वेच्छाचार को छोड आशिक या पूर्ण स्वावलम्वन की ओर अग्रसर होना है तो

वह सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का धारक माना जाता है। वास्तव मे स्वावलम्बन का नाम ही तो रत्नत्रय है। निर्वाण मे पूर्ण स्वावलम्बन प्राप्त हो जाता है, आत्म द्रव्य अपने स्वरूप मे स्थित हो जाता है।

स्वावलम्बन प्राप्ति के लिए आचार्य ने तीन बातें वतलायी है— पहली चीज है सहिष्णु होना अर्थात् सयोगी पर द्रव्य को दूर करने के लिए कष्ट सहिष्णु वनना, तपश्चर्या, उपवास आदि के द्वारा अपना शोधन करना, जिससे कषाय उत्पन्न न होने पावे। सहिष्णु व्यक्ति अपने मार्ग मे कभी असफल नही होता है। जब तक जीवन मे सहन-शीलता नही आती तब तक कोई व्यक्ति किसी भी कार्य में सफल नही हो सकता है। सहनशीलता सफलता प्राप्ति का वहुत वडा साधन है।

दूसरी वस्तु सयम है। सयम के द्वारा इद्रिय और मन को वश कर विकार और कषायो से अपनी रक्षा की जाती है। सयम जीव को सव प्रकार का स्वावलम्बन का पाठ पढाता है, सयम के ही द्वारा जीव रत्नत्रय मार्ग का अवलम्बन करने में समर्थ हो सकता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करना भी सयम के भीतर परि-गणित है। सयमी जीव अपने मन की चचलता को रोकता है, वचनो का प्रयोग भी व्यर्थ मे अधिक नहीं करता है, तथा अपनी प्रत्येक क्रिया को इस प्रकार करता है, जिससे किसी भी प्राणी को रचमात्र भी कष्ट नही होने पाता है। राग भाव सयमी के हृदय से विल्कुल हट जाता है।

तीसरी वस्तु रत्नत्रय मार्ग का अनुसरण करना क्योंकि इस मार्ग का अनुसरण करने पर ही प्राणी स्वावलम्बन का पाठ सीख सकता है तथा जीवन में स्वावलम्बन प्राप्त कर सकता है।

काम की अग्नि को शान्त करो—

कडेगिन्नेंतो भवाग्नितापवकटा ! कामग्नियं नोळ्पडा-
सिडिलं शेषन दाडेयें वडवनें कालाग्नियें शृंगियें ॥

तडेदांतग्गळेयं गडं मदननें पापारियें कालनें ।
मृडनें मृत्युवदें निललुनेरेगुमे रत्नाकराधीश्वरा !

हे रत्नाकराधीश्वर !

यदि कामरूपी अग्नि के संताप को क्रूर कहा जाय तो संसार रूपी अग्नि की प्रखरता को क्या कहा जायेगा ? संसार रूपी अग्नि का संताप जब प्रतिकूल होकर व्यथित करने लग जाता है तब बिजली, शेषनाग के दांत, बडवानल, प्रलयकाल की अग्नि और तीक्ष्ण सींग वाले जन्तु भी उसको रोक रखने में समर्थ नहीं हो सकते । संसार के प्राणियों को स्ववश करने वाला महान् शूरवीर मन्मथ भी क्या समर्थ हो सकता है ? यमराज, रुद्र और स्वयं मृत्यु भी कुछ नहीं कर सकती ।

कवि ने इस श्लोक में काम की चेष्टा को आधीन कर संसार, इन्द्रिय भोग को प्रशान्त करने को बताया है । यह काम कैसा है, इसके बारे में एक कवि ने बताया है कि—

> प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।
> तृतीये दीर्घनिश्वासश्चतुर्थे ज्वर आविशेत् ॥
> पञ्चमे दह्यते गात्रं षष्ठे भक्तं न रोचते ।
> सप्तमे च भवेत्कम्प उन्मादश्चाष्टमे भवेत् ॥
> नवमे प्राणसन्देहो दशमे [illegible]

जाता है। भोगोपभोग पदार्थो की इच्छा करना वृथा है क्योकि उनसे तृप्ति नही होती है। कवि ने कहा है कि—

भोज भोजमपाकृता हृदय ये भोगास्त्वयानेकधा।
तांस्त्व कांक्षसि किं पुन पुनरहो तत्राग्निनिक्षेपिण ।
तृप्तिस्तेपु कदाचिदस्ति तव नो तृप्णोदय विभ्रत ।
देगे चित्रमगेचिसचयचिते वल्ली कुतो जायते ।।

यहाँ पर आचार्य ने भोगासक्त मानव की भोगो की वाछा को धिक्कारा है। इस जीव ने अनन्तकाल हो गया, चारो ही गति के भीतर भ्रमण करते हुए अनेक शरीर धारण करके उनमे अनेक प्रकार के इन्द्रियो के भोग भोगे और छोडे। उनके अनन्तकाल भोग लेने से भी जब एक भी इन्द्रिय तृप्त नही हुई तब अब भोगों के भोगने मे इन्द्रियाँ कैसे तृप्त होगी ? वास्तव मे जैसे अग्नि मे ईधन डालने से अग्नि बढती चली जाती है वैसे इन्द्रियो के भोगो के भोगने से तृष्णा की आग और बढती चली जाती है । तृष्णावान प्राणी कितना भी भोग करे परन्तु उसको इन भोगो से कभी भी तृप्ति नही हो सकी है, जैसे अग्नि से या धूप से तपे हुए जलते स्थान मे कोई भी वेल या वृक्ष नही उग सकता है। इसलिए बुद्धिमानो को वारवार भोगो को भोग कर छोडे हुए भोगो की फिर इच्छा न करनी चाहिए। क्योकि जो तृष्णा रूपी रोग भोगो के भोगने रूप औपधि सेवन से मिट जावे तब तो भोग को चाहना मिलाना व भोगना उचित है परन्तु जब भोगो के कारण तृष्णा का रोग और अधिक बढ जावे तब भोगो की दवाई मिथ्या है यह समझ कर इस दवा का राग छोड देना चाहिए। वह सच्ची दवा ढूंढनी चाहिए जिससे तृष्णा का रोग मिट जावे। वह दवा एक शान्त रसमय निज आत्मा का ध्यान है जिससे स्वाधीन आनन्द जितना मिलता जाता है उतना उतना ही विपय भोगों का राग घटता जाता है। स्वाधीन सुख के विलास से ही विषय भोग की वाछा मिट

जाती है। अतएव इंद्रिय सुख की आशा छोड़कर अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का उद्यम करना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसन्दोह मे कहते हैं :—

> सौख्य यदत्र विजितेन्द्रियशत्रुदर्प:
> प्राप्नोति पापरहित विगतान्तरायम् ।
> स्वस्थ तदात्मकमनात्मधिया विलभ्यं,
> किं तद्दुरन्तविषयानलतप्तचित्त. ॥

जिन महात्मा ने इन्द्रिय रूपी शत्रु के घमण्ड को मर्दन कर दिया है वह जैसा पाप रहित तथा अपने आत्मा में ही स्थित अनात्मज्ञानी जीवो ने न अनुभव करने योग्य आत्मीक सुख को पाता है वैसे सुख को वह मनुष्य कदापि नही पा सकता है जिसका चित्त भयानक विषयों की अग्नि से जलता रहता है।

काम-विषय-वासना रूपी अग्नि बडी भयकर होती है, यह मनुष्य को बेचैन कर देती है। एक क्षण के लिए भी मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती। मनुष्य का हृदय दिन रात परेशान रहता है। काम का आवेग आने पर खाना पीना, सोना उठना बैठना आदि सभी बुरे मालूम पडते हैं। मन मे नाना प्रकार के सकल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं, एक क्षण के लिए भी शान्ति नहीं मिलती। जिस प्रकार भयकर दावाग्नि किसी भी पदार्थ को तुरन्त जला कर राख देती है, इसी प्रकार यह अग्नि भी जीव के स्वाभाविक गुणों को भस्म कर देती है।

वासनाएँ जितनी अधिक बढ़ती जाती हैं, जीव को उतनी ही अधिक अशान्ति का सामना करना पड़ता है। वास्तव में शान्ति त्याग भाव से ही मिलती है, क्योंकि पर वस्तुओं की ममता जितने अंश में घटती है, इसलिए जीव को उतनी ही अंश में अधिक मिलती है। जब त्याग की ओर प्रवृत्ति हो जाती है तो [illegible] स्वात्मानुभव की ओर बढ़ने लगता है। [illegible] वचने से [illegible]
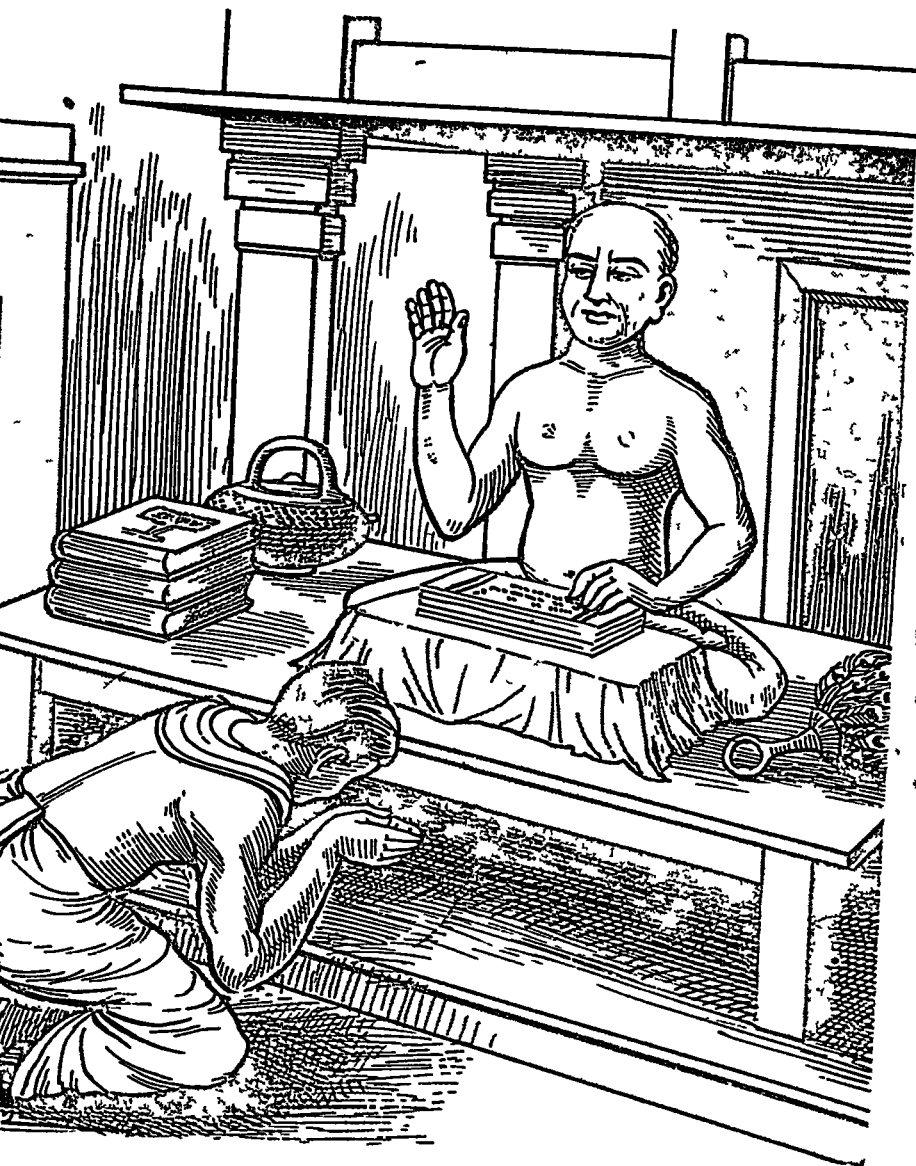
एक भक्त श्रावक मुनि-वन्दना करता हुआ

बाधक हैं। स्वावलम्बी जीव की भौतिक आकाक्षाएँ और विकारात्मक वासनाएँ समाप्त-प्राय हो जाती है। आचार्य ने उपर्युक्त पद्य मे काम रूपी अग्नि की भयकरता का चित्रण किया है। यह एक भयकर रोग है, जिसका इलाज सयम और त्याग से ही हो सकता है। आत्मा की अपार शक्ति का विकास भी इस मदन ज्वर के दूर करने पर ही होता है। सासारिक लुभावनी वस्तुओ मे सबसे प्रमुख स्थान नारी का इसी-लिए माना गया है कि वह राग-वृद्धि का साधन है तथा इसी के निमित्त को लेकर कामज्वर की वृद्धि होती है।

सुख और शान्ति तभी प्राप्त हो सकती हैं, जब जीव अपने यथार्थ स्वरूप को अवगत कर ले। पराधीनता भी अशान्ति का दूसरा नाम है, तथा इसकी उत्पत्ति भी विकार और कषायो से होती है। जब तक जीव विकारग्रस्त रहता है, अपने चारो ओर अशान्ति ही अशान्ति देखता है। उसे सर्वत्र सघर्ष और द्वन्द्व ही दिखलाई पडते हैं, किन्तु जब वह विकारो से दूर हो जाता है तो उसे एक भी द्वन्द्व या सघर्ष का सामना नही करना पडता है। विकारो की प्रचुरता ही जीव को राग और द्वेष-वुद्धि की ओर अग्रसर करती है, जिससे वह शत्रुता और मित्रता की कल्पना करता है। अतएव सक्षेप मे जीव का हित विकारो को दूर करने में ही है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की सज्ञाएँ-वाछाएँ भी विकारो के कारण ही उत्पन्न होती है। विकारो को शान्त करने के लिए ही जीव, उक्त चारो सज्ञाओ का सेवन करता है, वस्तुत. विकार रहित जीव के लिए ये सज्ञाएँ वाधक नही होती हैं। जीव का पुरुषार्थ इन संज्ञाओ को छोडने के लिए ही होता है, क्योकि इनके सेवन करने की प्रवृत्ति अनि-ष्टकर ही हैं।

गुरु कौन हो सकता है ?

श्रुतमं नोळ्प तदर्थमं तिळिव तन्मयदियोळ्पोप सु-
व्रतमंपालिप काममं तुळिव मायाजाडचमं भ्काडिपु-

न्नतकारुण्यदोळाळ्व जीवहितमं पेळ्वातने सद्गुरु ।
श्रुतयोगीश्वरनिर्ड नाळिन शिवं रत्नाकराधीश्वरा !
॥१०७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

शास्त्र पढने वाला, शास्त्र का अर्थ जानने वाला, शास्त्र के अनुसार चलने वाला, अहिंसा आदि श्रेष्ठ व्रतो का पालन करने वाला, भोग की इच्छा पर विजय प्राप्त करने वाला, अज्ञान रूपी जड़ता को दूर करने वाला, दयारूपी रस मे अत्यधिक मग्न रहने वाला, प्राणियो के हित की बातें समझाने वाला यति ही मेरा गुरु है। वह आज "श्रुतयोगीश्वर" है और कल मगलात्मा अर्थात् मोक्षात्मा योगीश्वर ही वन्दनीय है।

ग्रन्थकार ने इस श्लोक मे विवेचन किया है कि गुरु कौन हो सकता है ? उत्तर मे इस प्रकार बतलाया है कि जिनके हृदय के अन्दर दया, सत्यता, अनुकम्पा, ससार के भोग से विरक्त, सम्पूर्ण प्राणियो पर समान भाव अपने आत्मा में रखकर भव्य जीवों को हमेशा कल्याण का मार्ग बताने वाला और आप भी उसी मार्ग पर रत रहने वाला साधु हो सकता है और वही गुरु हो सकता है। अमितगति आचार्य ने भी गुरु के बारे मे कहा है कि जो वीतरागी है, निर्मोही है, आत्मा मे हमेशा रत रहता है वह ही कर्म का क्षय करके अखण्ड लक्ष्मी को प्राप्त कर सकता है।

अभ्यस्ताक्षकपायवैरिविजया विध्वस्तलोकक्रियाः ।
वाह्याभ्यंतरसंगमांशविमुखाः कृत्वात्मवश्यं मनः ॥
ये श्रेष्ठं भवभोगदेहविषयं वैराग्यमध्यासते ।
ते गच्छन्ति शिवालयं विकलिला बुद्ध्या समाधि बुधाः ॥

इस श्लोक मे आचार्य ने बता दिया है कि मोक्ष का उपाय अभेद रत्नत्रय

या समाधि या स्वात्मानुभव है या शुक्लध्यान है। जब तक शुक्लध्यान की अग्नि नहीं जलती है तब तक न मोह का नाश होता है और न घातिया कर्मों का नाश होता है और न यह अघातिया कर्मों से छूटकर सिद्ध पद पा सकता है। इस शुक्लध्यान की सिद्धि उसी महात्मा को हो सकती है जो शरीर के खण्ड-खण्ड किये जाने पर भी ममता न लावे व वेदना से ग्रसित न हो। जिसकी ममता बिल्कुल शरीर से हट गई हो। जो सर्दी-गर्मी डास मच्छर की बाधाएँ सह सके। इसलिए साधु को वह सब कुछ वस्त्र त्याग देना पडता है जो उसने स्वाभाविक शरीर की अवस्था को ढकने के लिए धारण कर रक्खे थे। यहाँ पर आचार्य ने मुक्ति के योग्य जो पात्र हो सकते हैं उन साधुओ का वर्णन किया है। पहली जरूरी बात तो यह बताई है कि उन्होने इन्द्रियो की इच्छाओ को जीतने का व क्रोधादि कपायो के दमन का भले प्रकार अभ्यास कर लिया हो, क्योकि ये इन्द्रियाँ ही प्राणी को कुमार्ग मे डाल देती हैं व कर्मो का बन्ध कपायो से ही होता है। जिस सम्यग्दृष्टि ने आत्मा के वीतराग विज्ञानमय स्वभाव का निश्चय कर लिया है वही आत्मिक सुख के मुकाबले मे इन्द्रिय सुख को तुच्छ जानता है, इसलिए वही इन्द्रियो का जीतने वाला हो सकता है। जिसने अपने आत्मा का स्वभाव वीतराग है ऐसा समझ लिया है, वही कपायो को जीतने का पुरुपार्थ करेगा। दूसरी बात साधु मे यह जरूरी है कि उसने सब लोक व्यवहार छोड दिये हो। अनेक प्रकार के व्यापार आरम्भ करके पैसा कमाना, मकान मठ बनवाना, खेती करना, शरीर रक्षार्थ सामान जोडना, रसोई बनाना-बनवाना, व्याह शादी के व जीवन मरण के विकल्पो मे पड़ना व ग्रहस्थो के रोग, शोक आदि कष्ट मिटाने को यत्र मत्रादि करना आदि कार्यो को आत्मोन्नति मे विघ्न-कारक व मन को आकुलित करने वाले जानकर छोड दिया हो। तथा आरम्भ के कारणभूत जो दश प्रकार के बाहरी परिग्रह हैं उनका भी जिसने त्याग कर दिया हो। अर्थात् जिसके स्वामित्व मे न खेत हो, न

मकान हो, न चाँदी हो न सोना हो, न गौवंश हो, न अन्नादि हो, न दासी हो, न दास हो, न कपड़े हों न वर्तन हो। तथा जिसने मोहजनित सर्व परिणतियो से भी ममता छोड़ दी हो अर्थात् १४ प्रकार की अन्तरंग परिग्रह भी न रखता हो। अर्थात् जिसने मिथ्यात्व, क्रोध मान माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद इन १४ बातो से ममता हटा ली हो। तथा जिसने अपना मन अपने आधीन किया हो, जिसका मन चचल न हो, ऐसा वश में हो कि साधु चाहें तब उसे ध्यान व स्वाध्याय में लगाया जा सके तथा मन मे यह वैराग्य हो कि ससार असार है, मोक्ष ही सार है। इन्द्रियों के भोग क्षणभगुर व अतृप्तिकारक हैं व आत्म सुख ही सच्चा भोग है, शरीर नाशवन्त व मलीन है, आत्मा अविनाशी व पवित्र है। ऐसे ही साधु जब स्वात्मानुभव का अभ्यास करते-करते शुक्लध्यान पर पहुँचते हैं तब कर्मों का सहार कर मुक्त हो जाते हैं।

आत्मिक उत्थान या स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनेक साधनों मे से शास्त्र स्वाध्याय करना, महाव्रतो को पालना, पूर्ण सयम का धारण करना, हित मित प्रिय वचन बोलना, मन वचन काय की स्वच्छन्द प्रवृत्तियों को रोकना एव आचार और व्यवहार को पूर्ण अहिंसक बनाना प्रधान है। कोई भी व्यक्ति उपर्युक्त साधनो का उपयोग कर अपना कल्याण कर सकता है तथा अपने विकास को प्राप्त कर सकता है। शास्त्र स्वाध्याय से अज्ञान की निवृत्ति होती है तथा सद्विवेक जाग्रत होता है, जिससे मनुष्य को सदाचार की प्रेरणा निरन्तर मिलती रहती है।

एक बात यह भी है कि जितने समय तक स्वाध्याय किया जाता है, उतने काल तक जीव अपने स्वभाव मे स्थित रहता है तथा परभावो से पृथक् रहता हुआ अपने ज्ञानस्वरूप का आस्वादन करता है, जिससे पर प्रवृत्ति कम हो जाने से जीव को आत्मानन्द की प्राप्ति होती है। इस आत्मानन्द में रमण करने से आत्मा में निर्मलता तो आती ही है, पर अशुभ प्रवृत्ति के रुक जाने से आगामी कर्मों का बन्धन भी दृढ नहीं

होता, जिससे वह जीव निरन्तर विकास करता हुआ किसी दिन अपने निजी गुणो को प्राप्त कर ही लेता है। स्वाध्याय करना प्रत्येक दृष्टि से मानवमात्र के लिए आवश्यक है। परन्तु स्वाध्याय काल में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि स्वाध्याय करते समय विकार और वासनाओ को हृदय मे स्थान न मिले। जीव अपने उत्थान की प्रेरणा ज्ञानार्जन से प्राप्त करता रहे।

महाव्रतो का पालन करने से व्यक्ति अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर बढता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप जो व्यक्ति और समाज दोनो के लिए महान् अनर्थकारी हैं, जिनके कारण उत्थान-मार्ग मे बाधाएँ आती हैं, जीव की निर्मलता प्रच्छन्न होती है, आदि दुर्गुण व्रतो के पालन करने से दूर हो जाते है। मन, वचन और शरीर की शुद्धि इन व्रतो से ही हो सकती है। व्रती जीव मन में घृणित बातो को स्थान नही देता है तथा घृणित वचनो का भी उपयोग नही करता है। उसका हृदय इतना पवित्र हो जाता है जिससे विकार उसके पास भी फटकने नही पाते हैं। वह अविकारी, निर्दोष और स्वात्मरत हो जाता है।

सयम को धारण करने के कारण साधु का जीवन पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है। वह जमीन शोधकर अपने उपकरणो को रखता है, भूमि देखकर चलता है और शरीर धारण के लिए निर्दोष भोजन लेता है। इस प्रकार अपने आचरण को शुद्ध रखने से साधु का जीवन निर्दोप हो जाता है। विकार और कषायें क्षीण हो जाती हैं तथा उसका व्यक्तित्व प्रभावक और स्वावलम्बी बन जाता है। ज्ञान, ध्यान और आत्मशोधन ही उसके जीवन के प्रधान अग होते है, अत वह सर्वथा पूज्य होता है।

दूसरे के सुख-दु ख को अपना सुख-दु.ख मानने वाला ही मेरा गुरु है—

परसंतोषमे सौख्यमेंव परदुःखं तन्न नोववें तां ।
परनेंवंदमन्नितुटेंव परलोकं तन्न नाडेंब त—
त्परमज्ञानिजगद्गुरुं देवेंद्रकीर्तिव्रती—
श्वरनातं पेरनल्तु नीने पेळ्वें ? रत्नाकराधीश्वरा !

हे रत्नाकराधीश्वर !

दूसरे के दुःख को अपना दुःख, दूसरे का आनन्द अपना आनन्द, दूसरे का सुख अपना सुख, अपने को शरीर से अलग मानने वाला तथा परलोक को अपना देश कहने वाला इस लोक का गुरु तथा उत्कृष्ट ज्ञानी है। वही मेरा भी गुरु है। वह ज्ञानी देवेन्द्रकीर्ति मुनीश्वर है अधिक क्या कहा जाय।

जो व्यक्ति प्रशम, यम, समाधि, ध्यान, विनय, भेदविज्ञान, और समताभाव को प्राप्त होते हैं, वे संसार में महान् हैं तथा पूज्य हैं। ऐसे व्यक्ति संसार में बहुत थोड़े ही होते हैं, क्योंकि उक्त गुणों के धारण करने से आत्मा का पूर्ण विकास होता है। प्रशम गुण के आ जाने से जीव कषाय भावों से रहित हो जाता है। राग और द्वेष जो कि संसार में सबसे बड़े शत्रु थे, जिनके कारण इस जीव को नाना प्रकार की इष्टानिष्ट कल्पनाएँ होती रहती थीं, जिनसे संसार के पदार्थों को सुखमय समझता था, वे सब पलायमान हो जाते हैं। प्रशमगुण आत्मा को निर्मल बनाता है, चित्त के विकारों को दूर करता है और मन को [illegible] विकल्पों से रहित बनाता है। [illegible] इस जीव के [illegible] [illegible] है। [illegible] में भी [illegible] ने कहा है—

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ॥

अयत्नेनापि जायन्ते चित्तभूमौ शरीरिणाम् ।
रागादय.स्वभावोत्थज्ञानराज्याङ्गघातका ॥
इन्द्रियथार्थनपाकृत्य स्वतत्वमवलम्बते ।
यदि योगी तथाप्येते छलयन्ति मुहुर्मन ॥

नयमी मुनि निजरूप का अनुभव भी कर लेता है, पर रागादि भावों के आ जाने से वह पुन भ्रम मे पड़ जाता है। अपने आधीन किया गया मन भी रागादि भावो के उत्पन्न हो जाने से तत्काल कलकित हो जाता है, अत. सबसे प्रथम मुनि को प्रमाद रहित होकर रागादि भावो को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। जीव के स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन आदि गुणो को घातने वाले रागादि भाव चित्त रूपी भूमि मे अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे जीव का महान् अकल्याण होता है। इन्द्रियो के विषयो के रोकने पर तथा निज रूप मे रमण करने पर भी रागादिभाव निरन्तर उत्पन्न होते हैं, जिससे जीव विकार-ग्रस्त होता रहता है।

प्रशम गुण जीव की इस विकृत अवस्था को दूर करता है तथा रागादि भावो को पृथक् कर इस जीव को शुद्ध अवस्था मे ला उपस्थित करता है। त्याग वृत्ति का उत्पन्न होना भी आवश्यक है, विना त्याग वृत्ति के जाग्रत हुए व्यक्ति अपना कल्याण नहीं कर सकता है।

समाधि—आत्मस्वरूप मे रमण करना भी मुनि या साधु के लिए परमावश्यक है, इससे जीव अपने निजी रूप को प्राप्त कर लेता है। ध्यान और विनय भी आत्मशुद्धि मे सहायक हैं। इनसे जीव समताभाव को प्राप्त होता है। राग-द्वेष का अभाव इसी समता के द्वारा होता है।

भेद विज्ञान—अपना और पर द्रव्य के सम्बन्ध तथा स्वरूप का ज्ञान करना तथा अनुभव मे लाना स्वावलम्बन प्राप्ति का एक साधन है। भेदविज्ञानी जीव अपने स्वरूप को जानकर उसमे लीन होने का प्रयत्न करता है। अत जो मुनि या योगी उक्त गुणो का धारी है, वह अवश्य पूज्य है।

व्यवहारं व्यवसायमोकगमिवं माडेंवरं माडे मे—
च्चुवरं माळूपरनेल्लियु पडेयळु दुरोळिनन्नंते मो—
क्षवनोंदं नेगळेंवरं नेगळे हो लेसेंवरं नच्चि मा—
ळ्पवरं निन्नवरल्लदेल्लि पडियें रत्नाकराधीश्वरा !

हे रत्नाकराधीश्वर !

कलह, आरम्भ, सभा इत्यादि काम को करो ऐसा कहने वाले को, करने से मानने वाले को और स्वय करने वाले को सब जगह आनन्द के साथ कष्ट प्राप्त होता है। पर मोक्ष—साधन जैसे कार्य के लिए परामर्श देने वाला, यह कार्य अच्छा है ऐसा विश्वास दिलाने वाला और विश्वास रखकर करने वाला आपके सिवा अन्य कोई मुझे प्राप्त नही हुआ। आप ही जीवो को हितकारक उपदेश देने वाले है।

सासारिक झगडे, कलह और विषाद इस जीव को हितकारी नही हो सकते। यद्यपि प्रारम्भ मे यह इन कार्यों मे आनन्द का अनुभव करता है और अपने को सुखी बनाने का उपक्रम करता है, परन्तु पीछे ये सारी चीजें कष्टप्रद होती हैं। जो व्यक्ति इनका उपदेश देता है, वह भी आनन्द के स्थान मे कष्ट का अनुभव करता है। राग-द्वेष और मोह के कारण ही इस जीव को अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं तथा वह अपने को बडा तथा अन्य को छोटा समझता है जिसके फलस्वरूप कलह और विवाद उत्पन्न होते है। इस मोह की महिमा भी विचित्र है, यह सर्वत्र अपना प्रभाव फैला कर जीव को कष्ट देता है। मोह से ही वस्तु प्रिय लगती है तथा मोह के दूर हो जाने पर उसमे रस नहीं आता है। मोह और विकार ही तो इसकी पराधीनता के कारण है।

मोक्ष के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। इनका उपदेश और [illegible] करने वाला दोनों ही जीवन के लिए

अनुकरणीय हैं। जीव का वास्तविक ध्येय तो मोक्ष को प्राप्त करना ही है, इसके आचरण करने मे भले ही कुछ कठिनाई जीव को प्रतीत हो, पर वास्तव मे यही जीव के लिए शाश्वत, नित्य और प्राप्य है। इधर उधर जीव इसलिए भटकता है कि वह भ्रमवश अन्य को अपना समझता है। यदि इसे वास्तविकता का ज्ञान हो जाय तो फिर वह इधर-उधर भटके नही। कविवर बनारसीदास ने जीव की इसी पर वस्तु का वर्णन करते हुए कहा है कि—

जब लगु जीव शुद्ध वस्तु को विचारे ध्यावै,
तब लगु भोगसो उदासी सरवग है।
भोग मे मगन तब ज्ञान की जगन नाहि,
भोग अभिलाष की दशा मिथ्यात अग है।
ताते विषै भोग मे मगन सो मिथ्याति जीव,
भोग सो उदासि सौ समकिति अभग है।
ऐसी जानि भोगसो उदासि ह्वै मुगति सावै,
यहै मन चग तो कठोत माहि गग है॥

जब तक जीव शुद्ध वस्तु का विचार करता है, ध्यान करता है, तब तक वह विषय भोगो से विरक्त रहता है। जब जीव विषय भोगो में लग जाता है, तब ज्ञान की दशा नही रहती है विषयाभिलाषा ही तो मिथ्यात्व का अग है। अत विषय भोगो मे रत रहना मिथ्यात्व है और विषयभोगो से विरक्त होना सम्यक्त्व है। क्योकि जीव के लिए पर वस्तु विषय भोग है, जो इनमे रत रहता है वह पर को अपना समझता है, अत भ्रमबुद्धि होने के कारण मिथ्यात्वी है। विषय भोगो से उदास होने पर भी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। विषय चाह इस जीव को अपने स्वरूप से च्युत कराती है, अत इसका त्याग करना आवश्यक है। जाति, कुल, आचार ये सब धर्म नही हैं, धर्म तो जीव का स्वभाव ही है। जब तक जीव अपने स्वभाव मे रमण करता है,

धर्मात्मा कहलाता है, स्वभाव से च्युत होने पर वह धर्महीन हो जाता है। अन्तर्वृ त्ति जीव की इसलिए धर्म के निकट है कि, वह जीव के स्वभाव रूप पडती है। अत अपने स्वरूप मे लीन होने का प्रयत्न ही सब कुछ है।

मनुष्य पर्याय को व्यर्थ मत खोओ—

विंध्या कुक्कुटनोंदु संक्रमणमं पोर्देल्लिं मेय्वण्णमं।
वंध्यं माडदे माडिकोळ्वदु गडा योगीश्वरर्निच्चलुं॥
संध्याकालमनासेवट्टदरोळीर्याशुद्धियिंस्तोत्र जा—
प्यं ध्यानगळ माडे सिद्धियरिदे रत्नाकराधीश्वरा॥११०

हे रत्नाकराधीश्वर !

जगल की मुर्गियाँ जिस प्रकार मकर सक्रान्ति के समय को व्यर्थ व्यतीत न कर अपने शारीरिक वर्ण का परिवर्तन कर लेती हैं, उसी प्रकार मुनीश्वर त्रिकाल सन्ध्या समय ईर्यापथ शुद्धि से स्तोत्र, जप तथा ध्यानादि प्रक्रियाओं से परमात्म स्थिति को प्राप्त कर लेते है। यह उनके लिए असाध्य नही है।

राग-द्वेप, विपयभोगाकाक्षा, स्त्रीपुत्रादि के साथ प्रेम ये सब जीव के दोप हैं, क्योकि इनके होने से मनुष्य नित्य सुख को प्राप्त नही कर सकता है। उपर्युक्त दोप आकुलता, अज्ञान और बुद्धिविपर्यास उत्पन्न करते हैं, जिससे इस जीव को तनिक भी चैन नही मिलती है।

शास्त्रो मे गुण उसी को माना गया है जो साक्षात् या परम्परया वास्तविक शान्ति को देता है, जिससे जीव अपने निज स्वतन्त्र रूप को प्राप्त करता है। आत्मज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों के प्रादुर्भूत होने से सासारिक जजाल से आत्मा विरत हो जाती है। जो माया, मोह, आकुलता, और दुख को बढाने वाले थे, उनसे यह जीव अलग हो जाता है। साधु या मुनीश्वर भी साधारण व्यक्ति नहीं होते, ये

अपने पुरुपार्थ द्वारा तपश्चरण की ओर प्रवृत्त होते है तथा त्रिकाल सामायिक, आत्मचिन्तन आदि के द्वारा अपनी कर्मकालिमा को हटा देते है। तपश्चर्या करने से ही शरीर से मोह छूटता है और आत्मतत्व की पहचान होती है। कायक्लेशादि द्वारा जब शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है तो विकार उत्पन्न नहीं होते और न दुष्ट भावनाएँ ही उत्पन्न होती हैं। रसो का सेवन न करने से इन्द्रियो की शक्ति भी क्षीण हो जाती है, क्योकि इन्द्रियों को रससेवन से ही बल मिलता है, जिससे वे विषयो मे प्रवृत्ति करती है।

आत्मचिन्तन से मन पवित्र हो जाता है, गन्दे और बुरे विचार रुक जाते हैं तथा धीरे-धीरे ज्ञानानन्दमय स्वभाव की प्राप्ति हो जाती है। विपयाधीन रहने वाले मन और शरीर स्वतन्त्र हो जाते है। विपय वास्तव मे व्याध के समान है, जैसे व्याध अपने जाल मे पक्षियो को फसा लेता है और उन्हे पराधीन कर नाना प्रकार से कष्ट देता है, इसी प्रकार विषय भी अपने चगुल मे जीवो को फसाते हैं, उन्हे पराधीन बनाते हैं तथा सन्ताप, वेदना और नाना प्रकार की अशान्ति उत्पन्न करते हैं।

सजग प्राणी सर्वदा अपनी आत्मालोचना और तपश्चरण द्वारा अनादि काल से चली आयी कर्मपरम्परा को दूर कर देते हैं, क्योकि क्रोध, मान, मायादि कपाय इस तप के द्वारा ही भस्म होते हैं। विकार और कपाय ही तो ससार परिभ्रमण के कारण है। जब तक ये लगे रहते हैं, जीव दु ख उठाता रहता है। इनको वश करना या जीतना तपश्चरण से ही सम्भव है। अनशन, ऊनोदर, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, कायक्लेश, विविक्तशय्यासन आदि द्वादश तपो द्वारा इन्द्रिया और मन वशीभूत हो जाते है, जिससे विपय वासना छूट जाती है तथा विकारो और कपायो का धीरे-धीरे बीज भी नष्ट हो जाता है। विपय वासना के न होने से ज्ञानाभ्यास, विपय व्याकुलता हटने से शान्ति, अनशनादि तपो के करने से शरीर से ममत्वबुद्धि का त्याग तथा स्व की पहिचान, त्रिकाल सामायिक करने से आत्मानुभूति, ईर्यापथ शुद्धि के

पालने से समताबुद्धि एवं मन-वचन-काय के आधीन करने से विश्व-बन्धुत्व तथा स्वावलम्बन की प्रवृत्ति होती है। अत योगीश्वर अपने आत्मकल्याण मे प्रवृत्त होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। वह इस मनुष्य जीवन को व्यर्थ नही खोता है।

इस श्लोक का समुदायार्थ इस प्रकार है—गुरु महाराज शिष्य को लक्ष्य कर उपदेश देते हैं, कि असख्यवर्ष नयुत पल्योपम एव सागरोपम स्वरूप हो जाते हैं। इतनी विशिष्ट आयु ज्ञान एव क्रियायुक्त मुनि की देवलोक मे होती है, तथा काम भी वहाँ सर्वोत्कृष्ट होते हैं। इस बात को जिनेश्वर की आज्ञा का पालन करने वाले जानते हैं।

अज्ञानी प्राणी स्वल्प आयु सपन्न इस मनुष्य भव मे तुच्छ मनुष्य पर्याय के सुखो में लोलुप बनकर धर्मक्रिया का आचरण नहीं करते हुए उस स्थिति-आयु को और उन कामों-सुखों को हार जाते हैं। अर्थात् देवस्थिति से और देव सुखो से वे विहीन बन जाते हैं। इसीलिए सूत्रकार ने ऐसे प्राणियो को दुर्मेध कहा है।

दृष्टान्त और दृष्टान्त की योजना इस प्रकार जाननी चाहिए—मनुष्य आयु और मनुष्य के सुख अति स्वल्प होने से काकिणी एव आम्र फल जैसे हैं। देवो की आयु और वहाँ के सुख अतिप्रभूत होने से सहस्र दीनार एव राज्य तुल्य हैं, इसलिए जैसे दरिद्री ने एक काकिणी के निमित्त हजारो दीनारो को, और आम्रफल के लिए राजा ने अपने राज्य को खो दिया, इसी तरह ये दुर्मेध-दुर्बुद्धि व्यक्ति भी अल्पतर मनुष्यायु और अल्पतर सुख के निमित्त प्रभूत देवायु एवं उनके सुखो को हार जाते हैं।

ससार मे इस दृष्टान्त के अनुसार तीन प्रकार के प्राणी हैं। उनमे एक प्राणी ऐसे है जो मूलधन-मनुष्य भव से लाभ देवगति की प्राप्ति कर लेते हैं। एक ऐसे हैं जो अपने मूल की रक्षा करते हैं—पुन मनुष्य भव प्राप्त करते हैं। कितनेक ऐसे हैं जो अपने मूलधन मनुष्य भव को भी नष्ट कर हार कर नरक तिर्यंच गति उपजाते हैं।

अस्ताद्रि स्थकदल्लि कंडुरवियं ताराळियंकन्वितं ।
निस्तेजक्केडेयाद तारेगळकंडकदियं काण्विनं ,।
विस्तारंगिडे मेयनेळलमगुळे विस्तारक्के तोर्पन्नेग ।।
सुस्तोत्रं गेये निम्म काण्बुदरिदे रत्नाकराधीश्वरा !

हे रत्नाकराधीश्वर !

अस्ताचल के पीछे जाते हुए सूर्य के समय से तारे निकलने तक, तारो के निकलने से तारो के निस्तेज होने तक अर्थात् सूर्योदय तक और सूर्योदय से सूर्यास्त तक जो आपकी भक्ति पूर्वक स्तुति करते है, क्या वे आपको देखने में असमर्थ रहेंगे ?

यह ससार परिवर्तनशील है, इसमे सभी पदार्थ प्रतिक्षण अपने रूप को वदलते रहते है । प्रात काल जो अमनचैन के साथ अपने धवल प्रासाद मे निवास करता है, सन्ध्या समय वही श्मशान भूमि मे देखा जाता है । धन की अवस्था भी यही है । आज जो धनिक दिखलायी पड़ता है, कल एकाएक वही निर्धन हो जाता है । प्रात.काल जहाँ मागलिक गायन होते देखे जाते है, सन्ध्या समय वही पर रोदन होता दिखलाई पडता है । अत इस प्रकार के परिवर्तनशील ससार मे जीव को धर्म सेवन का सदा ध्यान रखना चाहिए । सुप्रभाचार्य ने अपने वैराग्यसार-प्राकृत दोहा वन्ध मे ससार की इस स्थिति का सुन्दर विश्लेषण किया है—

सुप्पउ भणइ रे धम्मियहु मा खसहु धम्मणियाणि ।
जे सूणामि धवल हरिते अथवण मसाए ।।

हे धर्मिणो लोका जिनधर्मात् दशविधधर्मात् मा खसहु मा चलन्तु, अपरमिथ्यामार्गे मा पतन्तु तथा मरणपर्यन्तमपि जिनधर्ममार्गात् मा चलन्तु, कुत अत्र ससारे ये लोका सूर्योदये धवलगृहे तिष्ठन्ति ते लोका अस्तगते सूर्ये श्मशाने दृश्यन्ते लोकैरिति शेष ।।

त्रिकाल शुद्धात्मा की स्तुति करने से आत्मिक गुणो की प्राप्ति होती है । आत्मा अपने स्वरूप को अवगत कर स्वावलम्बन की ओर प्रवृत्त

होता है। भगवान जिनेन्द्र की स्तुति मे प्रवृत्त होने से तत्काल शान्ति की प्राप्ति होती है। यद्यपि प्रारम्भ मे अल्प सुख ही होता है, पर परिपाक अवस्था मे इससे पूर्ण सुख की प्राप्ति हो सकती है। भगवच्चरणो का ध्यान और अपनी शुद्धावस्था का चिन्तन ये दोनो एक ही वस्तु है। प्रभु के चरणो का ध्यान करने से अपनी अवस्था की स्मृति आती है, बहुत समय तक प्रभु चरणो को देखने से कर्मकलंक नष्ट हो जाते हैं। आत्मा धीरे-धीरे परमानन्द की ओर बढता है। शुद्धात्मा का ध्यान अधिक काल तक नही किया जा सकता है, अत तीर्थंकर भगवान की मूर्ति के समक्ष बैठकर ध्यान करने से स्थिरता आती है। प्रभु के गुणों का स्मरण और वर्णन करने से जीव को अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होने मे विलम्ब नही होता है।

अभिप्राय यह है कि यह आत्मा ससारावस्था मे जीवात्मा कही जाती है, किन्तु अन्तरग तथा बाह्यस्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्री के प्राप्त होने पर यह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त करती है इसका पुरुषार्थ इस रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए ही होता है। बहिरात्मा अवस्था तभी तक रहती है, जब तक यह जीव अपने वास्तविक स्वरूप से अपरिचित रहता है तथा शरीर को ही आत्मा समझता है। जब यह अन्तरात्मा बनता है, अर्थात् आत्मा की स्व शक्ति को प्राप्त करता है तथा पर द्रव्य से अपने को भिन्न समझने लगता है तब यह अन्तरात्मा बन जाता है। अन्तरात्मा की स्थिति मे यह जीव प्रभु के गुणो को प्राप्त होता है। इस अवस्था मे इस जीव की आत्मिक शक्ति उद्बुद्ध हो जाती है और वह त्रिकाल स्तुति एव सामायिक द्वारा एव निजी रूप का अनुभव करता हुआ अपने पथ मे अग्रसर होता है।

भगवान की वाणी ही कर्म रूपी सिंह को हराने वाली है—

सिंहं नास्ति भटाळि सिंहखमं माडलगजं वेचुंगुं।
सिंहाकार मनं किसल्नरर वेन्नोळ् हस्तिरोगं हरं ॥

सिंहारूढने ! निम्म मंत्रदे भवच्छ्रीविवंदें पीडेगल् ।
संहारंगळनेय्दूवे सकलवें रत्नाकराधीश्वरा ! ॥११२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

योद्धाओ के सिंहनाद से हाथी भयभीत होकर भाग जाते है। मनुष्य की पीठ पर सिंह का चित्र बनाने से "आनेगज्जी" (हाथी-खुजली) नाम का रोग नष्ट होता है। इसलिए सिंह के लाछन से युक्त हे भगवन् ! तुम्हारे नामाक्षर रूप मत्र और तुम्हारी शोभामयी मूर्ति से सभी वाधाएँ नष्ट हो जाती हैं। अनेक साधनो की आवश्यकता नही पड़ती।

कवि ने इस श्लोक मे भगवान् की स्तुति की महिमा बतलायी है भगवान की वाणी मे कितनी शक्ति है यह मानतुगाचार्य ने भगवान की स्तुति के महत्व को वतलाते हुए कहा है कि—

वल्गत्तुरंगगजग जितभीमनाद–
माजौ बल बलवतामपि भूपतीना–
मुद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं ।
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥ ४२ ॥

हे भगवन् ! युद्ध क्षेत्र मे उछलते हुए घोडे, भीषण गर्जना करते हुए मत्त हाथी, बलशाली राजाओ की बलशाली सेना की अपरिमित शक्ति भी आपके यशोगान से क्षणभर मे नष्ट हो जाती है—जैसे उगते हुए सूर्य की प्रखर किरणो के अग्रभाग से विद्ध होकर घन अन्धकार क्षणभर मे नष्ट हो जाता है।

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं ।
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्त-
माक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशंक-
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥४१॥

हे पुरुषोत्तम ! लाल-लाल आंख वाले मदयुक्त नीलकण्ठ कोकिल के

समान श्याम, क्रोध से उद्दण्ड, फण को ऊपर उठाये हुए वेग से सम्मुख आते हुए भीषण विषधर सर्प को भी वह मनुष्य भय एवं शंका रहित लाघ जाता है जिसके हृदय में आपके नाम गान रूपी नागदमनी मंत्र है।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी का लाछन सिंह है तथा जैनागम मे सिंह निर्भयता का सूचक भी बताया गया है। भगवान महावीर के नाम में इतनी बडी शक्ति वर्तमान है कि कोई भी संसार का कार्य सफल हो सकता है। वीतरागी प्रभु के नाम स्मरण मात्र से ही आत्मा मे पवित्रता आ जाती है तथा आत्मा रागद्वेष से रहित होकर अपने स्वरूप को प्राप्त करता है। कविवर बनारसीदास ने भक्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि—

ताको आय मिले सुख संपत्ति, कीरति रहे तिहूँ जग छाय।
जिनसो प्रीत बढ़ै ताके घट, दिन दिन धर्म वुद्धि अधिकाय॥
छिन छिन ताहि लखै शिवसुन्दर, सुरग संपदा मिलै सुभाय।
बानारसि गुनरास सघ की, जो नर भगति करै मनलाय॥

जो व्यक्ति मन लगाकर प्रभु के चरणो की भक्ति करता है, उसे तीनो लोक की सभी सुख सामग्रियाँ मिल जाती हैं, उसका यश समस्त लोक में व्याप्त हो जाता है तथा सभी लोग उससे स्नेह और उसका आदर करने लगते हैं। मोक्ष लक्ष्मी उसकी ओर प्रतिक्षण देखती रहती है, स्वर्ग की सम्पत्तियाँ उसे अपने आप मिल जाती हैं तथा समस्त गुण उसे प्राप्त हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि भगवान की भक्ति मे अपूर्व गुण वर्तमान हैं, जिससे उनकी भक्ति करने से सभी सुख सामग्रियाँ अपने आप प्राप्त हो जाती हैं। यद्यपि जैनागम में भक्ति को दासता की निशानी नहीं माना है और न भक्ति दीनता भरी याचना ही है। बल्कि भक्ति को आत्मविशुद्धि का प्रधान कारण माना है।

भक्त भगवान के सामने अपने को तुच्छ और भगवान को महान् शक्तिशाली मानने का उपक्रम नहीं करता है, बल्कि आगम मे बताया
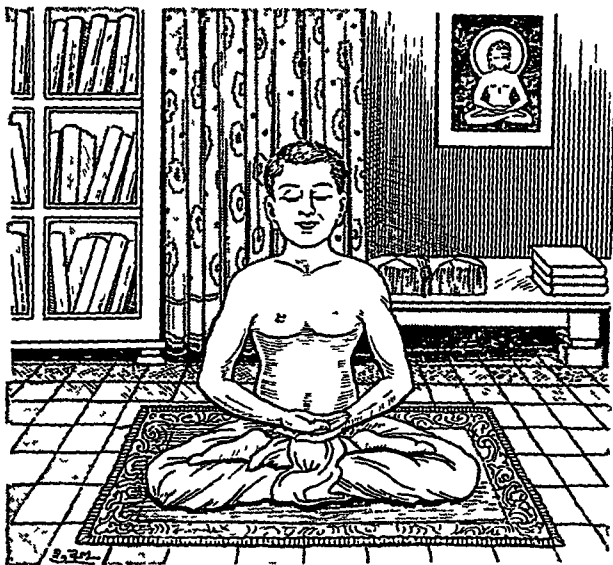
सामायिक करता हुआ एक सद्गृहस्थ
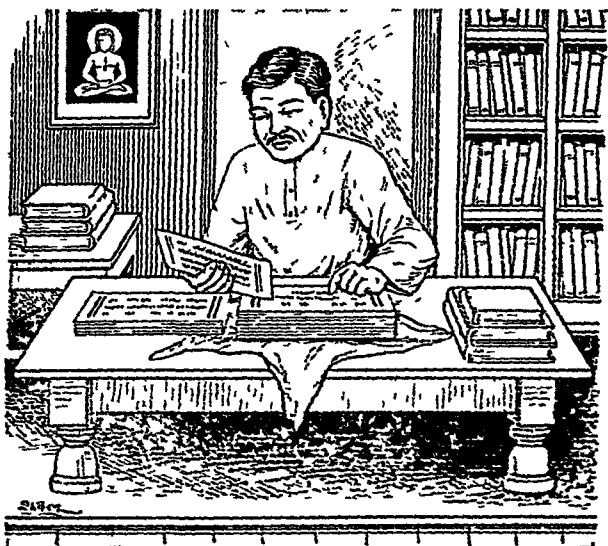
स्वाध्यायरत एक श्रावक

यह गया है कि कि जितनी शक्ति द्रव्य की अपेक्षा से भगवान मे है उतनी ही जीव मे भी है। अन्तर इतना ही है कि भगवान की शक्ति प्रकट हो चुकी है और भक्त की शक्ति अभी प्रच्छन्न है। भक्त प्रभु चरणो का आधार पाकर अपने अव्यक्त गुणो को प्रकट करता है। वह द्रव्य की अपेक्षा से जैसे नित्य, अविनाशी गुणो का धारी रहता है, वैसे ही पर्याय की अपेक्षा से भी उन्ही गुणो को प्राप्त करना चाहता है।

इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की स्तुति और पूजा करने का कथन उपर्युक्त पद्य मे कवि ने किया है। कवि बतलाना चाहता है कि प्रभु भक्ति का आधार लेकर व्यक्ति अपना उद्धार कर सकता है। भक्ति राग का अश है, फिर भी उसका आधार पाकर भव्य जीव अपना विकास कर लेते हैं। सेव्य-सेवक भाव की कल्पना जैन भक्ति मे नही है, किन्तु यहाँ भक्ति का अर्थ केवल अपनी भावनाओ को पवित्र करना है। अत सामान्य व्यक्ति कडी साधना न कर भक्ति से ही अपने कल्याण का मार्ग प्राप्त कर लेता है।

भगवान को श्रद्धापूर्वक ध्यान करने से
कर्मो का नाश हो जाता है।

गरुडोच्चारणमंत्रदिं विषविनाशंयक्षिणी मंत्रदिं।
दोरेकोळ्गुं बहुविद्यॆगळ्गरुडयक्षर पूज्यपादाब्जनं ॥
गुरुवे निम्मनलंपिनिं तेनिवंगावादकष्टंगळ
ल्लिरवावावमनोरथं फलिसदो रत्नाकराधीश्वरा! ।११३

हे रत्नाकराधीश्वर !

गरुड-मत्र से विष उतर जाता है। देव-सिद्धि मत्र से अनेक कला-कौशल और वस्तुओ की प्राप्ति होती है। गरुड देवता और यक्ष देवता द्वारा पूजनीय आपके चरण-कमल का भक्तिपूर्वक स्मरण करने वालो को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होती तथा अनेकानेक इष्टार्थ

की सिद्धि भी होती है अर्थात् भगवान की पूजा करने से सभी मनोकामनाएं सिद्ध होती हैं।

सम्यग्दर्शन की शुद्धि मे जिनेन्द्र पूजन भी कारण है। भगवान की पूजा करने से सम्यग्दर्शन गुण वृद्धि को प्राप्त होता है। जिनेन्द्र प्रभु की पूजा यक्ष देव, किन्नर आदि देव, ज्योतिषी कल्पवासी और इन्द्र धरणेन्द्र आदि सभी करते हैं क्योकि प्रभु पूजन करने से शुभ परिणति प्राप्त होती है, जिससे जीव कालान्तर मे शुद्ध परिणति को भी प्राप्त कर सकता है। कविवर बनारसीदास जी ने अपने नाटक समयसार मे सम्यक्त्व की महिमा तथा मिथ्यात्व से होने वाली हानि का निरूपण करते हुए इस जीव को सावधान किया है तथा बताया है कि हे जीव ! सर्वदा प्रमाद को छोड़कर ऐसे कार्य कर, जिनसे सम्यक्त्व की वृद्धि हो और मिथ्यादर्शन का नाश हो जाय। प्रभु पूजा दान आदि कार्य भी सम्यक्त्व की वृद्धि मे सहायक हैं। जीव का वास्तविक सुधार इस सम्यग्दर्शन से ही सम्भव है—

ज्ञानदृष्टि जिनके घट अन्तर, निरखे दरव सुगुन परजाइ।
जिनके सहज रूप दिन दिन प्रति, स्यादवाद साधन अधिकाइ॥
जे केवल प्रतीत मारग मुख, चिते चरन राखे ठहराइ।
ते प्रवीन करि छिन्न मोहबल. अविचल होइ परम पद पाइ॥

चाकसो फिरत जाको संसार निकट आयो,
पायो जिनि सम्यक मिथ्यात नाश करिके॥
निरदुन्द मनसा सुभूमि साधिलीनी जिजि,
कीनी मोक्ष कारन अवस्था ध्यान धरिके॥
सोई शुद्ध अनुभौ अभ्यासी अविनाशी भयो,
गयो ताको करम भरम रोग गरिके॥

मिथ्यामति आपनो सरूप न पिछाने तामे,
डोले जगजाल मे अनन्तकाल भरिके ॥

अर्थात्—जिनके हृदय मे ज्ञान की दृष्टि प्रकट हो गयी है तथा जिन्हें गुण पर्याय सहित सभी द्रव्यो का वोध हो गया है, स्याद्वाद के द्वारा जो वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कर रहे है तथा जिनके हृदय मे तत्वो की प्रतीति हो चुकी है और जो मोक्ष मार्ग के पथिक बन गये हैं, वे अपनी चतुराई से मोह को नष्ट कर परमपद को प्राप्त करते हैं।

चक्र के समान घूमता हुआ जिनका ससार निकट आ गया है तथा मिथ्यात्व को नाशकर जिन्होने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है तथा जिन्होने पूर्ण रूप से मन को शुद्ध कर लिया है और ध्यान करने का अभ्यास जिन्हें हो गया है, वे शुद्ध आत्मानुभव के अभ्यासी समस्त कर्मों के जाल को नाश करने वाले होते हैं। अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन के उत्पन्न हो जाने से इस जीव को ससार से छुटकारा मिल जाता है तथा अविनाशी सुख को प्राप्त कर लेता है। मिथ्यात्व के कारण यह जीव अनन्त काल से सुख से वचित है।

अतएव भगवान की भक्ति, स्तुति, अर्चा, दान, स्वाध्याय आदि से सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करना चाहिए। क्योकि यह आत्मा का गुण प्रभु भक्ति करने से प्रकट होता है।

सासारिक कामो मे प्रमाद नही आता, किन्तु
भगवान की भक्ति के समय प्रमाद आता है।

गेडेगोंडाडुव ळोकवार्तॆगळाळॆन्नंगायतं तुंबिदा।
कोडदंतिपुंडु निम्म मंत्रजपमंमाळ्पागंळुमोर्दक-
ण्विडुनीर् मेय्मुरिवागुळिक्केगळिवे दुष्कर्मबंधं सडि-
ल्दोडॆदे सौर्दपुदेंबुदं नुडियवे रत्नाकराधीश्वरा!।११४।

हे रत्नाकराधीश्वर !

स्नेह के साथ ससार के समाचार पर बातचीत करते समय मेरे शरीर की दशा भरे हुए घडे की तरह रहती है । किन्तु जब आपके नामाक्षर रूप मत्र का जाप किया जाता है उस समय आँखो से पानी चलना, अँग मोडना आदि आलस्य के चिन्ह दिखायी पडने लग जाते हैं। पाप रूपी बन्धन से बधाते हुए डोरी ढीली होकर, टूट कर गिरते हुए पानी को क्या इन आंखों का पानी नही कहते हैं ?

इस श्लोक मे कवि ने भगवान की महिमा को बताया है कि जब तक यह जीव भगवान के नामस्मरण, उनके मत्र की जाप तथा श्रद्धानपूर्वक भक्ति नही करता है तब तक ससार रूपी अग्नि में भ्रमण करता है। जो आपके नाम का श्रद्धापूर्वक स्मरण करता है, वह इस ससार रूपी समुद्र मे शीघ्र ही पार हो जाता है । जैसे वादिराज ने कहा है कि—

प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः ।
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यम् ॥
क सन्देहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वम् ।
जल्पञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम् ॥

जब आपकी भक्ति कुत्ता जैसे पापी प्राणी का भी उद्धार करने मे समर्थ है, उसे तिर्यञ्च गति के दुखों से छुडा कर स्वर्ग सुख का अनुभव कराती है उस भक्ति से यदि इन्द्र-सम्पत्ति की प्राप्ति हो तो इसमे क्या आश्चर्य है ।

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा ।
भक्तिर्नो चेदनवधिसुखावञ्चिका कुञ्चिकेयम् ॥
शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो ।
मुक्तिद्वारं परिदृढमहामोहमुद्राकपाटम् ॥

कोई उत्तम ज्ञानी है, निरतिचार चारित्र का पालन भी करता है, परन्तु वह श्री वीतराग देव की सच्ची भक्ति से रहित है अर्थात् उसकी जिनदेव, जिनगुरु और जिनोपदिष्ट जीवादि पदार्थों मे दृढ श्रद्धा नही है, तो उसे मुक्ति के दरवाजे का मोह रूपी ताला खोलना अत्यन्त कठिन ही नहीं, अशक्य है। उस ताले के खोलने के लिए भगवान वीत-राग सर्वज्ञ देव के विषय मे दृढ श्रद्धा ही कारण है।

ससार के वन्धनों में डालने वाल ी वातो में जीव का मन विशेष लगता है। यह जीव रागवर्धक चर्चाए प्रेम से करता है तथा इस प्रकार की चर्चाए करते समय इसे तनिक भी आलस्य या कष्ट नही होता है। विषय कषायो की वातों से यह कभी अघाता नही है, इसकी रुचि इनकी ओर अपने आप हो जाती है। परन्तु भगवान के गुणो का स्मरण या चिन्तन करने से ही शरीर मे आलस्य आता है, मन शिथिल हो जाता है, आँखो से पानी गिरने लगता है। यह सब कर्म-बधन की महिमा है। कर्मों के कारण इस जीव मे कितना विकार आ गया है जिससे यह अपने उत्थान की ओर ध्यान भी नही देता है अथवा उत्थान की ओर दृष्टिपात करते ही उत्साह समाप्त हो जाता है, यह कितने वड़े आश्चर्य की वात है।

मनीषी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा अपने मन को समस्त विषयो से रहित और समस्त विकल्पो से वर्जित करने का प्रयत्न करते हैं। राग-भाव ही इस जीव को विषय की ओर खीचता है, तथा यही प्राणी को ससार के पदार्थो से स्नेह कराता है।

मोह के कारण ही जीव अपने मन के विरुद्ध वात या कार्य कर क्रोध करता है, द्वेष करता है, राग करता है तथा नाना प्रकार के सवध स्थापित करता है, पर जब मोह घट जाता है तो जीव अपने स्वरूप मे अवस्थित होने का प्रयत्न करता है। मोह रूपी वीज से राग द्वेष रूप वृक्ष की उत्पत्ति होती है, इसी के फल सुख दु ख रूप हैं, जिनका आस्वा-दन जीव अहर्निश करता रहता है। ससार की विषय कषाय की वातें

इस जीव को राग द्वेष और मोह के कारण ही तो अच्छी लगती हैं तथा यह जीव पांच इन्द्रियां, चार विकथायें, चार कषायें, निद्रा और प्रणय— इन पन्द्रह प्रमादों के आधीन हो जाता है ।

यदि गहराई में प्रवेश कर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि जीव का कल्याण अपने स्वरूप में अवस्थित होने पर ही हो सकता है। राग-द्वेष और मोह के निकलने पर ही जीव में साम्यभाव आ सकता है, तथा यह साम्यभाव ही समस्त पदार्थों मे समता उत्पन्न करने वाला है। साम्यभाव के आ जाने से आशाएँ आकाक्षाए तत्काल दूर हो जाती हैं तथा चचल मन जो सर्प के समान सर्वत्र विचरण करता था, शान्त हो जाता है।

ससार और विषय भोगो से विरक्ति, शारीरिक आवश्यकताओं मे आसक्ति एव विकार और कषायों की पूर्ति करने की वाछा साम्यभावना के द्वारा ही दूर की जा सकती है । अत प्रत्येक व्यक्ति का विकार और कषायो को जीतने का अवश्य प्रयत्न होना चाहिए । इनके जीते विना आत्मोत्थान के मार्ग मे प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

णमोकार मन्त्र का जाप

वणिजं पंचसरंगळं पिडिदु मुक्ताजालमं तां परी-
क्षणे गेय्वंतिरे पंच पंत्रदोळाडंवट्टक्षरत्रातमं ।
पणेयोळ्जाणिसि चर्मदृष्टिमुगिल्सुज्ञानसदृष्टियि-
देणिसुत्तांगळेकाण्वनेरिसियला रत्नाकराधीश्वरा!।११५।

हे रत्नाकराधीश्वर !

जिस प्रकार जौहरी मोती की केवल पाच लड़ियों को देखकर समूचे मोती समूह की परीक्षा कर लेता है उसी प्रकार पाच मत्र मे सम्बन्ध रखने वाले अक्षर समूह को श्रेष्ठ मुनि ललाट मे ध्यान करके अपने चर्मचक्षुओं से देखकर पुन ज्ञान चक्षु से देखते हैं । इस समय

उनको अपने स्वरूप का दर्शन होता है।

कवि ने इस श्लोक मे णमोकार मत्र का महत्व वतलाया है। इस श्लोक मे यह वतलाया है कि जैसे जौहरी जवाहरात को हाथ मे रत्न की माला लेकर परीक्षा करता है उसी प्रकार साधु पच नमस्कार मत्र को अपने ललाट मे रख करके धीरे-धीरे स्मरण करके बीज रूप आत्म-स्वरूप का अभ्यास करता है। वह अभ्यास करते-करते पच णमोकार अक्षर रूप पद का ध्यान करता है, वह पदस्थ ध्यान कहलाता है। उस पदस्थ के वाद पिण्डस्थ और पिण्डस्थ से रूपस्थ मे पहुँच जाता है। जव रूपस्थ मे पहुँचता है तो वह आत्म प्राप्ति के साधन ध्यान मे रत होकर सम्पूर्ण कर्म की निर्जरा करके मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस-लिए भगवान का स्मरण करने वाले भव्य प्राणी को ससार का वन्धन तोड कर मोक्ष जाने मे क्या देर लगती है ? और व्यवहार मे भी णमो-कार मत्र का महत्व वहुत है । इस मत्र का जाप जो ससारी मानव करते हैं, उनको इष्ट कार्य की सिद्धि होती है।

मूल णमोकार मत्र

णमो अरिहताण।

णमो सिद्धाण।

णमो आयरियाणं

णमो उवज्झायाणं ॥

णमो लोए सव्वसाहूण।

यह मत्रराज नवकार मंत्र है। इससे वढकर तीन लोक मे कोई भी मत्र नहीं है। पूर्व या उत्तर दिशा को मुख करके पवित्र भाव से एक माला प्रतिदिन फेरने से सव प्रकार का आनन्द मंगल रहता है, सव सकट दूर हो जाते हैं।

नवाक्षरी मन्त्र

ॐ ह्रीं अर्हम् नम. क्षी स्वाहा ।

पहले नौ बार नवकार मन्त्र पढकर बाद मे इस मन्त्र की नौ मालायें फेरे। निरन्तर २१ दिन तक जाप करने से सब प्रकार का राज सम्बन्धी या अन्य भय सकट दूर हो जाता है ।

प्रेमभाव वर्द्धक मन्त्र

ॐ ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूण ।

पूर्व दिशा की ओर मुख करके इस मन्त्र का जाप करे। एक बार मन्त्र का जाप करे और नये कपडे में एक गाठ लगा दे। इस प्रकार एक सौ आठ बार जाप करे और नये कपडे मे एक सौ आठ गांठ लगा दे। ऐसा करने से घर मे, परिवार मे किसी के साथ कलह या अनबन हो तो सब क्लेश शान्त हो जाता है, आपस मे प्रेम भाव बढ़ जाता है।

रोग निवारण मन्त्र

ॐ नमो सव्वोसहि-पत्ताणं, ॐ नमो खेलोसहि
पत्ताण, ॐ नमो जलो सहि पत्ताण,
ॐ नमो सव्वो सहि पत्ताणं स्वाहा ।

इस मन्त्र की प्रति दिन एक माला फेरने से सब प्रकार के रोगों की पीडा शान्त हो जाती है, रोगी का कष्ट कम हो जाता है।

ग्रहपीडा नाशक मन्त्र

सूर्य और मगल की पीड़ा हो तो—ॐ ह्रीं नमो सिद्धाणं, चन्द्रमा और शुक्र की पीड़ा हो तो—ॐ ह्रीं नमो अरिहताणं, बुध की पीडा हो तो—ॐ ह्रीं नमो उवज्झायाणं, गुरु-बृहस्पति की पीडा हो तो—ॐ ह्रीं नमो आयरियाण, तथा शनि, राहु और केतु की पीडा हो तो—ॐ ह्रीं नमो लोए सव्व साहूणं, मन्त्र का जाप करना चाहिए। जितने दिनो तक ग्रह पीड़ा के रूप

में रहे, उतने दिन तक प्रति दिन ऊपर लिखे मन्त्रो का एक हजार जाप करना उचित है। इन मंत्रो के जाप से किसी भी प्रकार से ग्रह पीडा हानि नही पहुँचाएगी।

परिवार रक्षा मन्त्र

ॐ अरिहय सर्वं रक्ष रक्ष हु फट् स्वाहा ।

इस मन्त्र के द्वारा परिवार की रक्षा के लिए ध्यान करना चाहिए। परिवार पर आए सब आपत्ति संकट दूर हो जाते है। एक माला प्रात काल और एक सायकाल फेरनी चाहिए ।

ऐश्वर्यदायक मन्त्र

ॐ ह्री वरे सुवरे अ सि आ उ सा नम.

इस मन्त्र का एकान्त स्थान मे प्रतिदिन सुवह, दुपहर और शाम को एक सौ आठ वार जाप करने से अर्थात् तीनो काल मे एक-एक माला करके तीन माला फेरने से सव प्रकार की सम्पत्ति, लक्ष्मी और ऐश्वर्य प्रभाव की प्राप्ति होती है। किसी भी पद आदि की उन्नति के लिए इसका जाप किया जा सकता है।

मगल मन्त्र

ॐ अ–सि–आ–उ–सा नम.

इस मन्त्र का सूर्योदय के समय सूर्य की ओर मुख करके १०८ बार जाप करने से गृह कलह दूर हो, शान्ति हो और धन सम्पत्ति की प्राप्ति हो।

द्रव्य प्राप्ति मन्त्र

ॐ ह्री नमो अरिहताण सिद्धाण आयरियाणं उवज्झायाण साहूण मम ऋद्धि वृद्धि समीहित कुरु कुरु स्वाहा।

इस मन्त्र का नित्य प्रति प्रात काल मध्यान्ह और सायकाल को प्रत्येक समय मे वत्तीस वार मन मे ही ध्यान करे। सब प्रकार की सुख समृद्धि धन का लाभ और कल्याण हो।

सप्ताक्षरी मंत्र

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः ।

यह बहुत प्राचीन और प्रभावशाली मंत्र है। सब प्रकार के सुख सम्पत्ति सम्बन्धी मनोरथ इससे पूर्ण हो जाते हैं।

हृदय जप

जहा हृदय है वहां मन के सकल्प से ही पाच पंखुडी का कमल बनाना चाहिए। पहली पखुडी सफेद रंग की, दूसरी लाल रग की, तीसरे पीले रग की, चौथी हरे रग की, और पांचवी काले रग की। कमल के बीच मे अर्हम् का ध्यान करे और ऊपर लिखी पंखुडियो मे क्रमश नमो अरिहंताण आदि पांच पदो का मन से ही जाप करे। इस प्रकार नौ वार नवकार मंत्र का जाप करने से आध्यात्मिक फल बढ़ता है।

ॐ का जप

ॐ नवकार मत्र के पाच पद का वाचक है। पिछले हृदय जप मे बताये गये सफेद लाल आदि पाचों रगों मे ॐ का क्रमश ध्यान करना चाहिए।

अ सि आ उ सा के मत्र मे भी ॐ रहा हुआ है। अत नाभिकमल में अ, मस्तक कमल मे सि, मुख कमल में आ, हृदय कमल में उ, और कण्ठ कमल मे सा अक्षर का ध्यान करने से सब प्रकार से आनन्द मगल रहता है।

अर्हम् का ध्यान

सुवर्ण कमल जिसके सब ओर निर्मल सुनहरी किरणें निकलती हो, उसके बीच मे श्वेत रग मे अर्हम् का ध्यान करना चाहिए । यह ऊचे आकाश मे चमकता हुआ विचार करे । बाद मे मुख मे प्रवेश करता हुआ, भ्रकुटि मे भ्रमण करता हुआ, अन्त मे भाल मण्डल मे स्थिर होता हुआ सोचे ।

नवपद का ध्यान

आठ पखुडी का कमल बनाना, चार पखुडी चार दिशाओ मे और चार पखुडी चार विदिशाओ मे । बीच मे नमो अरिहताण का ध्यान करना । फिर चार दिशाओ वाली पखुडियो पर क्रम से नमो सिद्धाण, नमो आयरियाण, नमो उवज्झायाण, नमो लोए सव्वसाहूण का ध्यान करना । इसके बाद चार विदिशाओ वाली पखुडियो पर क्रमश नमो नाणस्स, नमो दसणस्स, नमो चरित्तस्स, नमो तवस्स का ध्यान करना चाहिए । दिशाएँ पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर का क्रम है । और विदिशाएँ ईशान, अग्नि कोण आदि का क्रम है ।

भावार्थ—इस मत्र का महत्व यही है कि इस मत्र के द्वारा अपने आत्म-स्वरूप को प्राप्त करनेवाला यह सबसे बडा ध्यान है । ध्यान करने के अनेक नियम है तथा अनेक प्रकार से ध्यान किया जाता है । सबसे सरल और साध्य नियम तो यह है कि पद्मासन लगाकर वीतरागी प्रभु की मूर्ति के सामने बैठ जाय और एकटक दृष्टि से उस मूर्ति को जितनी देर देख सके, देखता रहे, पश्चात् आखो को अर्द्धोन्मीलित (आधी खुली और आधी बन्द) कर नासाग्र दृष्टि कर भीतर उस मूर्ति का दर्शन करे । जब ध्यान भीतरी मूर्ति के दर्शन से इधर-उधर उचटे तो पुन सामने की मूर्ति पर अपने ध्यान को स्थिर करे । इस प्रकार कुछ दिन तक ध्यान करने से स्थिरता आयेगी ।

स्थिरता प्राप्त होने पर निराकार ज्ञान दर्शन रूप आत्मा का ध्यान करे तथा आत्मानन्द निर्झर जिसका प्रवाह भीतर तक बह रहा है, उसमे

डुबकियाँ लगावे। आत्मानन्द का पान करने से अद्भुत तृप्ति होती है तथा ध्यान करने की शक्ति भी आती है। जो प्रारम्भिक साधना करना चाहते हैं, उन्हें तो केवल एकात मे बैठकर कुछ समय तक आत्मानन्द का पान करने का अभ्यास करना चाहिए तथा अपने को सभी द्रव्यों से स्वतन्त्र अनुभव करना चाहिए। ध्यान करने की विशेष विधि का निरूपण प्रथम भाग मे किया गया है, यहाँ पर सिर्फ णमोकार मंत्र का ध्यान कैसे करना चाहिए तथा इसके करने से क्या लाभ होगा, बताया जायगा।

स्फुरायमान निर्मल चन्द्रमा की कान्ति समान हृदयस्थ आठ पत्रो से सुशोभित कमल की कर्णिका पर 'णमो अरहंताणं' पद का चिन्तन करे। उस कर्णिका के बाहर के आठ पत्रो में से दिशाओ के चार दलो पर क्रमश 'णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं' इन चार मन्त्र पदो का चिन्तन करे तथा विदिशाओं के चार पत्रो पर 'सम्यग्दर्शनाय नम, सम्यग्ज्ञानाय नम, सम्यक्चारित्राय नम', सम्यक्तपसे नम' इन चार मन्त्रो का ध्यान करे। इस प्रकार अष्ट दल कमल और कर्णिका मे नव मंत्रों का स्थापन कर चिन्तन करे। णमोकार मन्त्र के ध्यान करने की यह विधि सर्वसाधारण के लिए उपयोगी है। इस विधि से मन स्थिर हो जाता है।

इस मन्त्र के ध्यान से समस्त पाप दूर हो जाते हैं, आत्मा पवित्र हो जाती है और मोक्ष लक्ष्मी के प्राप्त करने मे विलम्ब नही होता है। इस णमोकार मंत्र मे ऐसी ही विचित्र शक्ति है, ससार का बडे से बडा काम इसके स्मरण मात्र से सिद्ध हो जाता है। जो व्यक्ति भक्तिभाव पूर्वक प्रतिदिन इस मंत्र का जाप करते हैं, उनको ऐहिक सुखों के साथ पारलौकिक सुख भी प्राप्त होते हैं। ससार का परिभ्रमण चक्र इससे समाप्त होता है और आत्म स्वतन्त्रता की प्रेरणा होती है। इस मन्त्र की अचिन्त्य महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है—

प्रभावमस्य निःशेषं योगिनामप्यगोचरम् ।
अनभिज्ञो जनोब्रूते य स मन्त्रेऽनिलार्दित ॥

अर्थात्—इस मत्र का प्रभाव मुनीश्वरो के भी अगोचर है, उनके द्वारा भी इसके प्रभाव का वर्णन नही हो सकता है, अनभिज्ञ जन जो इसके प्रभाव का वर्णन करते हैं, वे सन्निपात से पीडित होकर ही ऐसा करते हैं।

पुन. इसी मत्र को बतलाते हैं—

मूवत्तैदु शुभाक्षरं तुदिगे वंदोकारमोंदादिगं-
लो वर्णक्तदे मूलमंत्रबदु तानेळंगवाय्ता दोडे-
ल्ला वोंदे असिआउसायेनलिदे पंचाक्षरं भाविसल् ।
कैवल्यांगनेकूडि केय्विडियळे रत्नाकराधीश्वरा! ॥११६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पैंतीस मगल कारक अक्षर हैं और एक ओंकार है जिसे पहले आना चाहिए। इस अक्षर से कहा हुआ पैंतीस अक्षरो का एक मूल मत्र है जो सात विभागो मे विभक्त है (१) णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण, अरहत, सिद्ध आइरिया, (२) उवज्झाया, साहू (३) अरिहंत, सि सा, (४) अ सि आ उ सा, (५) असि साहू, (६) असा, (७) ऊ। अर्ह यह सब मिलकर एकार्थवाचक है। अ सि आ उ सा ऐसा कहने से भी पचाक्षर मत्र होता है। इसके स्मरण से मोक्ष रूपी लक्ष्मी भक्त का हाथ पकड लेती है अर्थात् उसे अगीकृत कर लेती है।

ॐ और पैंतीस अक्षरो का णमोकार मत्र, इस प्रकार कुल छत्तीस अक्षरो का ध्यान, स्मरण, मनन एव चिन्तन करने से जीव को सभी सुख सामग्रिया प्राप्त होती हैं। आगम मे वर्णमातृका के चिन्तन का विधान किया है, क्योकि समस्त शब्दो की रचना इसी से हुई है। ध्यान

करने वाला व्यक्ति नाभिमण्डल पर स्थित सोलह दल (पत्तो) के कमल मे प्रत्येक दल पर क्रम से अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ए ऐ, ओ औ, अं अः इन अक्षरों का चिन्तन करे। पश्चात् वह हृदय स्थान पर कणिका सहित चौबीस पत्तो का कमल विचारे और उसकी कणिका तथा पत्तों मे क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म—इन पच्चीस अक्षरो का ध्यान करे।

पश्चात् आठ पत्तो के मुख कमल के प्रत्येक पत्ते पर भ्रमण करते हुए य र ल व श ष स ह इन आठ वर्णों का ध्यान करे। इस प्रकार वर्णमातृका का निरन्तर ध्यान करने से योगी समस्त श्रुतज्ञान का पारगामी होता है। इस वर्णमातृका का विधिपूर्वक ध्यान करने से क्षयरोग, अरुचिपना, अग्निमन्दता, कुष्ठ, उदर रोग, कास श्वास आदि रोग दूर हो जाते हैं। वचन सिद्धि हो जाती है, जिससे जो मुंह से निकलता है, अवश्य पूरा हो जाता है।

जैनागम मे अर्हं को मन्त्रराज बताया गया है। इस मंत्रराज का ध्यान करने वाला योगी कुंभक प्राणायाम से मोह की लताओ में स्फुरायमान होता हुआ, मुख कमल मे प्रवेश करता हुआ, तालु के छिद्र से गमन करता हुआ एव अमृत मय जल से झरता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् नेत्र के पलकों पर स्फुरायमान होता हुआ, ज्योतिषियो के समूह में भ्रमण करता हुआ एव चन्द्रमा के साथ स्पर्द्धा करता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् दिशाओं मे सचरण करता हुआ, आकाश मे उछलता हुआ, मस्तक के समूह को छेदता हुआ, केशों में स्थिति करता हुआ, संसार के भ्रम को दूर करता हुआ, परम स्थान को प्राप्त हुआ एवं मोक्ष लक्ष्मी से मिलाप करता हुआ ध्यान करे। इस मन्त्रराज को उच्चारण के लिए अर्हं पद से कहा जाता है। इस मंत्र का ध्यान एकाग्रता के साथ करने से बड़ी ही अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस मन्त्र के ध्यान करने की विधि और भी तरह से ग्रन्थान्तरों में दी गयी है। परन्तु व्यवहार में [illegible] विधि यही है कि एकान्त स्थान में बैठकर ललाट को

मध्य मे—भौंहो के बीच मे इसका चिन्तन करे। मन जितनी देर इस पर ठहर सके, रहने दे। यदि जल्दी ही मन ऊब जाता हो तो हृदय मे कमल की कर्णिका के मध्य मे इसका ध्यान करे। इस मन्त्र के ध्यान से सभी प्रकार से सुख मिलते हैं।

नळिनीनाळके मूलदिं तुदिवरं संपूर्णदिं स्वच्छदिं–
दोळगेंतिर्पु दु तंतुवंते नरगं केवज्जेयिं नेत्तिमु–
ट्टळेतं तप्पदे मूर्ति तुंबि पळुकिं गेय्सिर्द निर्म्मोदु नि–
र्मळविंबोपमनात्मनिर्द पनला रत्नाकराधीश्वरा! ॥११७॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

कमल के डण्ठल मे नीचे से लेकर ऊपर तक जिस प्रकार सर्वांगीण रूप से निर्मल तन्तु व्याप्त रहते है, उसी प्रकार मनुष्य के अंगूठे से लेकर मस्तक तक समस्त शरीर में आत्मा व्याप्त है। स्फटिक मणि की मूर्ति को जैसे स्थापित किया गया हो, उसी प्रकार निर्मल आत्मा समस्त शरीर में व्याप्त है।

आत्मा का अस्तित्व समस्त शरीर मे है, शरीर का ऐसा कोई भी भाग नही है, जिसमें आत्मा न हो। यह आत्मा अखण्ड, अविनाशी, निराकार, चिदानन्द स्वरूप है। इसमे सकोच और विस्तार की शक्ति है, जिससे यह जैसे छोटे या वडे शरीर मे पहुँचती है, उसी के प्रमाण हो जाती है। आत्मा को जैनाचार्यो ने इसीलिए शरीर प्रमाण माना है, वह व्यापक या अणुमात्र नही है। इसमे अनेक शक्तियो के साथ शरीर प्रमाण रहने की शक्ति भी है।

स्वभाव से आत्मा निर्मल और शाश्वत है, इसमे किसी भी प्रकार का मल नही लगा है। अनादिकाल से कर्मो के वन्धन में पड़ जाने के कारण आत्मा विकृत हो गयी है, परन्तु मूल स्वभाव इसका शुद्ध ही है, उसमे किसी भी प्रकार का विकार नही आया है। वात यह है कि शुद्धात्मानुभूति के अभाव के होने पर यह आत्मा शुभ अशुभ उपायो मे

परिणमन करके जीवन, मरण, शुभ अशुभ कर्म वन्ध को करती है और शुद्धात्मानुभूति के प्रकट होने पर शुद्धोपयोग से परिणत होकर मोक्ष को प्राप्त करती है तो भी शुद्ध पारिणामिक स्वस्वभाव ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से न वन्ध की कर्त्ता है और न मोक्ष की। शुद्धात्मा चेतन स्वभाव है, जड रूप नहीं है उपाधि रूप नही है। काम क्रोध प्रभृति विकार पर हैं, अपने नहीं हैं। यद्यपि ससारावस्था मे अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से यह आत्मा काम, क्रोध रूप हो गयी है पर शुद्ध निश्चय नये की अपेक्षा अभी भी निज भाव को नहीं छोड़ती। रागादि विभाव परिणाम औपाधिक हैं, पर के सम्वन्ध से हैं, निज भाव नहीं हैं, इसलिए आत्मा कभी रागादि रूप नही होती।

परमात्मप्रकाश मे जीव की शुद्धाशुद्ध अवस्थाओ का निरूपण करते हुए वताया गया है कि यह जीव इन्द्रियजनित सुख को अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से अपना मानता है, वस्तुत. अतीन्द्रिय सुख ही जीव का अपना सुख है। जितनी पर्यायें विकार भाव से उत्पन्न होती हैं, वे सव अशुद्ध हैं, आत्मा की अपनी वस्तु नहीं। आत्मा वीतराग निर्विकल्प समाधि मे स्थिर होने पर ही अपने वस्तु रूप को पहचानता है। "अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिक-वीतरागसौख्यात् प्रतिकूल सासारिकसुखदु:खं यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन जीवजनितं तथापि शुद्धनिश्चयनयेन कर्मजनित भवति। आत्मा पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थ: सन् वस्तु वस्तुरूपेण पश्यति जानाति च, न च रागादिकं करोति। अत्र पारमार्थिकसुखाद्विपरीतं सांसारिकसुखदु:खविकल्पजालं हेयम्। अर्थात् आकुलतारहित पारमार्थिक वीतराग सुख से पराङ्मुख संसार के सुख दुःख यद्यपि अशुद्ध निश्चय नय से जीव सम्बन्धी हैं, किन्तु शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से जीव से उत्पन्न नहीं किये हैं, इसलिए जीव के नहीं हैं। कर्म संयोग से उत्पन्न हुए हैं और आत्मा तो वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर हुई वस्तु

णमोकार मन्त्र के प्रभाव से अंजन चोर का विद्या-साधन

को वस्तुरूप से देखती है, जानती है, रागादि रूप नही होती, उपयोग रूप है, ज्ञाता-दृष्टा है, परम आनन्द रूप है। पारमार्थिक सुख से विपरीत इन्द्रियजनित सांसारिक सुख त्यागने योग्य है। यह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नही है। अत प्रत्येक व्यक्ति को रत्नत्रय रूप आत्मा का श्रद्धान करना चाहिए।

आत्मा शुद्ध निर्मल स्फटिक मणि के समान है

नररात्मं स्फटिकोपमंगडमदेनाकारमुं स्वच्छमा-
गिरदेंबर्मिगे केळिमा स्फटिकमेतैवण्णमुं सोंके या-
परियोळ्तोरुगुवंतेमेय्योतोर्वुदुं कपोगे तां-।
करियं कॆंपनेनिप्पनेंदरुपिदै रत्नाकराधीश्वरा ! ॥११८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मनुष्य की आत्मा स्फटिक मणि के समान निर्मल है। विभिन्न रगो के साथ उसका सम्बन्ध होने पर जिस प्रकार स्फटिक भी विभिन्न रग का दिखाई पडता है उसी प्रकार काले पीले शरीर के चमडे के कारण लोग आत्मा को भी लाल पीला कहने लग जाते हैं।

आत्मा स्वभाव से निर्मल, विशुद्ध, नित्य, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य स्वरूप है। अनादि कर्म कालिमा के कारण यह आत्मा अशुद्ध हो रही है तथा नाना प्रकार के शरीरो को इसे धारण करना पडता है। इस आत्मा का कोई रूप रग नहीं है और न इसकी कोई जाति ही है, यह तो स्वभाव से निराकार है, इसमे शरीर के निमित्त से भेद किये जाते हैं। जैसे शरीर के आवरण मे यह रहती है, इसका व्यवहार भी वैसा ही हो जाता है। कविवर बनारसीदास ने नाटक समयसार में आत्मा की शुद्धता और उसके रूप का सुन्दर वर्णन किया है—

जैसे बनवारी मे कुधातु के मिलाप हेत,
नाना भाति भयो पै तथापि एक नाम है।

कसिकै कसौटी लीक निरखै सराफ ताही,
बानके प्रमान करि लेतु देतु दाम है ॥
तैसे ही अनादि पुद्गलसो सयोगी जीव,
नवतत्वरूप मे अरूपी महाधाम है।
दीसे उनमानसो उद्योतवान ठौर-ठौर,
दूसरौ न और एक आतमाहि राम है ॥
जैसे रविमंडल के उदै महिमडल मे,
आतप अटल तम पटल विलातु है।
तैसे परमातमा को अनुभौ रहत जो लो,
तो लो कहूँ दुविधा न कहूँ पक्षपातु है ॥
नय को न लेश परमान को न परवेश,
निछेप के वस को विधस होतु जातु है।
जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहा वाधक हैं,
वाकी रागदोप की दशा की कौन वातु है ॥

अर्थात्—सोने के साथ नाना वस्तुओ के मिला देने से सोना एक रूप मे होते हुए भी भिन्न-भिन्न रूप मे हो जाता है, फिर भी उसका नाम सोना ही माना जाता है तथा सर्राफ कसौटी पर कस कर उस सोने का, उसकी अच्छाई और बुराई के आधार पर मूल्य निश्चित कर देता है। उसी प्रकार अनादि काल मे यह आत्मा भी पुद्गल के साथ बधी हुई चली आ रही है, फिर भी नौ पदार्थों में यही चेतन, ज्ञाता दृष्टा के रूप मे मानी जाती है। समस्त प्राणियो मे यह आत्माराम दिखलायी पड़ता है। अभिप्राय यह है कि कर्म सयोग होने के कारण यह आत्मा नर, नारकादि पर्यायो मे दिखायी पड़ रही है, पर वास्तव में यह शुद्ध नित्य और चैतन्य है। कर्म की उपाधि के कारण इसमे भेद हो गया है।

जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है और सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है इसी प्रकार आत्मा रूप परमात्मा का अनुभव हो जाने से संशय, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि सब नष्ट हो जाते हैं। नय, प्रमाण, निक्षेप आदि के द्वारा होने वाली भेद चर्चा भी लुप्त हो जाती है, ऐसी अवस्था मे राग-द्वेष की बात ही क्या। अर्थात् जब तक भेद-विज्ञान उत्पन्न नही होता है तब तक इस जीव मे औपाधिक भेद दिखलायी पड़ते हैं, भेद-विज्ञान द्वारा आत्मा और कर्म का यथार्थ ज्ञान होते ही शुद्ध आत्मा की प्रतीति होने लगती है।

कवि ने इस श्लोक में शुद्धात्मा के स्थान की तरफ आत्मा को झुकाया है। प्रत्येक आत्मा मानव के सम्पूर्ण शरीर मे तिल और तेल के समान व्याप्त है। यह अनुभवगम्य है जब ज्ञानी जीव पर वस्तु से भिन्न अपने को और पर वस्तु को अलग करके देखता है और उसमे लीन होता है तब इन्द्रिय विषयो को पूर्णतया भूल जाता है। हर एक बुद्धिमान मानव स्वाधीनता प्रिय होता है और सुख व शाति को चाहता है। आत्मा और कर्म पुद्गल इन दोनो के परस्पर सहवास से आत्मा की शक्तियाँ पूर्ण विकसित नही हो पाती है तथा आत्मा को अपने वर्तन मे बहुत-सी बाधाएं उठानी पडती है। ससार मे इष्ट का वियोग व अनिष्ट का सयोग होना कर्मो की ही पराधीनता का कारण है। क्रोधादि भावो का झलकना व पूर्ण ज्ञान का न होना कर्मों के उदय का ही कार्य है। जन्म-जन्म मे भ्रमण करना, जरा व मरण के कष्ट उठाना कर्मो की ही देन है। इसलिए हर एक मानव का यह दृढ उद्देश्य होना चाहिए कि वह कर्मों की सगति से छूटकर स्वाधीन हो जावे। कर्मों की सगति राग-द्वेष मोह से हुआ करती है। इसलिए हमे इन भावो को दूर करके वीतरागतामय आत्मज्ञान के पाने का उद्योग करना चाहिए और उसके बल से आत्मा का ध्यान करना चाहिए। आत्मध्यान को हर एक साधु व श्रद्धावान गृहस्थ कर सकता है। आत्मध्यान मे जैन सिद्धान्त के मुख्य सात तत्वो का जानना व श्रद्धान करना और विचारना जरूरी बताया

है। वे तत्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष।

व्यवहार नय से मुनि के या श्रावक के व्रतो को पालना सम्यक्चारित्र है। निश्चय नय से अपने ही शुद्ध स्वरूप में एकतान हो जाना सम्यक्चारित्र है। निश्चय नय से आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप एक मोक्ष का मार्ग है।

मुनि निश्चय तथा व्यवहार दोनो ही प्रकार के मोक्ष के मार्ग को आत्म ध्यान मे पा लेते हैं। इसलिए तुम लोग दत्तचित्त होकर ध्यान का भले प्रकार अभ्यास करो। जब आत्मध्यान में एकता होती है तब निश्चय रत्नत्रय मे एकता हो ही रही है। उसी समय व्यवहार रत्नत्रय भी पल ही रहा है क्योकि उसके भीतर सात तत्वो का सार ज्ञान व श्रद्धान भरा हुआ है तथा वह आत्मध्यानी हिंसादि पाचो पापो से ध्यान के समय विरक्त है।

आगे कहा है कि जो आत्मा तप का साधन करता है, शास्त्र का ज्ञाता है, व व्रती है, वही ध्यान रूपी रथ को चला सकता है। इसलिए तप, शास्त्र, व व्रत इन तीनो में सदा लीन रहना चाहिए। जो आत्मध्यान करना चाहे उसको तप का प्रेमी होना चाहिए, ससार विषयो की कामनाए मेंट कर निज सुख के रमण का प्रेमी होना चाहिए। जो इन्द्रियो के विषयो के लोलुपी हैं उनका ध्यान बडी कठिनता से जमता है। जैसे-जैसे चित्त बाहरी भोग उपभोगो की तरफ से हटेगा, वैसे-वैसे आत्मध्यान कर सकेगा। ध्यान के अभ्यासी को शास्त्रो का ज्ञान व उनका निरन्तर मनन करना चाहिए। शास्त्रो के द्वारा मन को कुज्ञान से बचकर सुज्ञान मे दृढता प्राप्त होती है। जितना साफ व अधिक तत्वो का ज्ञान होगा, उतना ही अधिक निर्मल ध्यान का अभ्यास होगा। इसी तरह ध्यान के अभ्यासी को व्रती भी होना चाहिए। या तो पूर्ण त्यागी साधु हो या एकदेशत्यागी श्रावक हो। व्रती नियमानुसार सर्व कार्य करते हैं। इसलिए ध्यान के लिए अवश्य समय को निकाल लेते हैं।

निर्मल आत्मा शरीर के बन्धन मे कैसे फसा ?

स्वच्छाकारद जीवनी तनुविनोदळ्तानेके सिळ्किर्दपं? ।
स्वेच्छामार्गदे तानुपार्जिसिद कर्माधीनदिं कर्ममु ॥
तुच्छं क्रोधदेमानमायेगळिना लोभर्थदि बन्दुदे ।
म्लेच्छाकार कषायमं सुडे सुखं रत्नाकराधीश्वरा ! ।११६।

हे रत्नाकराधीश्वर !

निर्मल जीवात्मा शरीर के बन्धन मे क्यो फँसा ? अपनी इच्छा के अनुसार किये हुए कार्य के फल स्वरूप ही उसको ऐसा बन्धन प्राप्त हुआ। नीच कर्म, राग, अहकार और कपट से ही यह परिणाम हुआ। दुष्टो की क्रूरता के समान सभी हेय कषायो को जब तक भस्मसात नही किया जाय तब तक बन्धन से मुक्ति तथा सुख की प्राप्ति नही हो सकती।

इस श्लोक मे कवि ने बताया है कि हे आत्मा ! अनादि काल से शरीर के बन्धन मे पडकर बन्धन को ही अपना मान कर बैठा हुआ है इसलिए अनादि काल से इस जड पदार्थ के मोह से इस ससार मे परि-भ्रमण कर रहा है। इसलिए जब यह जीव स्व और पर का ज्ञान कर लेता है तब वह ससार के बाह्य विषयो से मुख मोड करके अपने निज स्वरूप को तरफ झुक जाता है तब ससार सम्बन्धी विषय-वासना को दूर कर साधु व्रत धारण करता है। तब वह स्व पर ज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को ठीक तरह से पहचानता है। तब वह मन मे विचार करता है कि रागरहित अनादि अनन्त एक वीतराग अवस्था ही मेरा स्वरूप है। ऐसा जिस समय भाव करता है तब संसार से मुक्त होने की सामग्री जुटा लेता है। तब अपने पुरुषार्थ के द्वारा सम्पूर्ण कर्मो को उग्र तपश्चर्या और सयम के द्वारा आत्म बल से या ध्यान के बल से सम्पूर्ण कर्म को जला देता है। इसलिए वीतराग तपस्वी हुए बिना कर्म की निर्जरा नहीं हो सकती है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती

है। कहा भी है कि—

स्वात्मारोपितशीलसंयमभरास्त्यक्तान्यसाहाय्यका।
कायेनापि विलक्षमाणहृदया साहाय्यकं कुर्वता॥
तप्यते परदुष्करं गुरुतपस्तत्रापि ये निस्पृहा।
जन्मारण्यमतीत्य भूरिभयदं गच्छंति ते निर्वृतिम्॥

आत्मा अपने निज शुद्ध रूप का अनुभव करने लगता है।

आत्मा का कर्मों के साथ वन्ध अशुद्ध अवस्था मे हुआ है। यह अशुद्धि अनादि काल से चली आ रही है। यदि कर्म वन्ध के पहले आत्मा को शुद्ध माना जाय तो वन्ध नही हो सकता है, क्योकि वन्ध अशुद्ध परिणामो मे होता है। अनादिकालीन अशुद्धता माने बिना वन्ध हो नही सकता है। यदि शुद्ध अवस्था मे वन्ध माना जाय तो मुक्तात्माओ को भी कर्मवन्ध का प्रसग आयेगा और ससारी तथा मुक्त जीव मे अन्तर ही नही रहेगा। वन्ध कार्य है, इसके लिए अशुद्धता रूपी कारण की आवश्यकता है, तथा अशुद्धता रूपी कार्य के लिए पूर्व वन्ध रूपी कारण की आवश्यकता है, अत वीज और वृक्ष के अनादि सम्वन्ध के समान वन्ध और अशुद्धता का भी अनादि सम्वन्ध चला आ रहा है।

कर्मवन्धके कारण आत्मा मे राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, जिससे कर्म-वन्ध होता है। कर्मवन्ध से शरीर और इन्द्रिया प्राप्त होती है इन्द्रियो से विपय ग्रहण करने से अशुद्धि आती है इस प्रकार कनकोपल के समान यह आत्मा अनादि काल से अशुद्ध चली आ रही है। अभिप्राय यह है कि आत्मा और कर्मों का वन्ध, केवल दोनो के सम्वन्ध मात्र से नही होता है, वल्कि दोनो के अशुद्ध भावो से होता है तथा दोनो की परस्पर अपेक्षा भी रखता है।

वन्ध दो तरह का होता है। एक तो वह है जो वस्तुओ के मेल हो जाने से ही होता है। जैसे पत्थरो का पत्थरो के साथ सम्वन्ध होने से होता है, यह वन्ध घनिष्ठ नही है। क्योकि सूक्ष्म पत्थर अपने सजातीय सूक्ष्म पत्थर के साथ तादात्म्य रूप से सम्बद्ध नही है। कर्म और आत्मा का यह वन्ध नही होता। दूसरा वन्ध चूने के लगाने से पत्थरो का जो आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, जिसमे सभी पत्थर एक रूप मे हो जाते हैं, प्रदेशात्मक है। जीव और कर्मों का यही प्रदेशात्मक वन्ध होता है।

जीव मे वैभाविक शक्ति रहने के कारण वन्धने की शक्ति है तथा

पुद्‌गल रूप कार्माण वर्गणाओ मे जीव को बांधने की शक्ति वर्तमान है। जीव और कर्म इन दोनो में बंधने और बाधने की शक्ति होने के कारण ही आत्मक्षेत्र में बन्ध हो जाता है। कारण स्पष्ट है कि जीव और पुद्‌गल इन दोनो मे वैभाविकी शक्ति वर्तमान है, जिससे इन दोनो का ही प्रदेशात्मक बन्ध होता है, अन्य द्रव्यो का नही।

आगम मे बन्ध के तीन भेद बताये हैं—भावबन्ध, द्रव्यबन्ध और उभयबन्ध। आत्मा का राग-द्वेष रूप परिणाम भावबन्ध और बन्धने की शक्ति रखने वाली पुद्‌गल वर्गणाएँ द्रव्यबन्ध कहलाता है। भावबन्ध के निमित्त से पौद्‌गलिक कर्म और जीव प्रदेशो का एक रूप मे मिल जाना उभयबन्ध है। जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा इस कर्मबन्ध तो तोड़ने पर ही स्वतन्त्र होता है।

समवशरण मे भगवान आसन से चार अगुल ऊपर विराजमान हैं—

नेलदिं मेलोगे वैडुसासिरधनुः प्रामाण्यदोळ्कांचनो-
ज्ज्वलरत्नंगळिनाद मंडपद मध्यस्थानदोळ्सिंहदा।
तलेयोळ्तोर्परुणाब्जकर्णिकेगे चातुष्कांगुलोद्देशदो-
ळ्गेलवांतिदे रवींदुकोटिकिरणा रत्नाकराधीश्वरा!

हे रत्नाकराधीश्वर!

आप करोड़ो सूर्य और चन्द्र के प्रकाश को धारण करने वाले हैं। आपने इस पृथ्वी के ऊपर पाच हजार धनुष के आकार मे सोने और रत्नो के प्रकाश में निर्मित लक्ष्मी-मण्डप के मध्य भाग में स्वर्णमयी कमल की कणिका से चार अगुल के उन्नत प्रदेश मे, जय को प्राप्त किया था।

कवि ने इस श्लोक मे भगवान के समवशरण की रचना का वर्णन करते हुए अरहन्त का स्वरूप कहा है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अरहन्त का

स्वरूप इस प्रकार कहा हैं कि—

णामे ठवणे हि य सदव्वे भावे हि सगुणपज्जाया ।
चउणागदि सपदिमे भावा भावंति अरहंत ॥

नाम स्थापना द्रव्य भाव से चार भाव कहिये कदार्थ है ते अरहंतकूं जनावे हैं बहुरि सगुणपर्याया कहिये अरहंत के गुण पर्यायनिसहित बहुरि चउणा कहिये च्यवन अरआगति बहुरि सम्पदा ऐसे ये भाव अरहंतक जनावे है ।

दसण अणत णाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मवधेण ।
णिरुवम गुणमारूढो अरहंतो एरिसो होई ॥

जौकै दर्शन अर ज्ञान ये तौ अनत हैं घातियाकर्म के नाशतै सर्व ज्ञेय पदार्थनिकूं देखना जानना जाकै है, बहुरि नष्ट भया जो अष्ट कर्म-निका वध ताकरि जाकै मोक्ष है, इहा सत्व की अर उदय की विवक्षा लेनी केवली कै आठोही कर्म का वन्ध नाही यद्यपि साता वेदनीय का वन्ध सिद्धान्त मे कह्या है तथापि स्थिति अनुभागरूप नाही तातै अवध-तुल्य ही है ऐसा आठूंही कर्म वन्ध के अभाव की अपेक्षा भावमोक्ष कहिये, बहुरि उपमारहित गुणनिकरि आरूढ है सहित है ऐसे गुण छद्मस्थमैं कहूँही नाही तातै उपमामारहित गुण जामैं है ऐसा अरहंत होय ।

जरवाहिजम्ममरण चऊगइगमण च पुण्ण पाव च ।
हतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥

जरा कहिये बुढापा अर व्याधि कहिये रोग अर जन्म मरण च्यार गतिनिविषै गमन पुण्य बहुरि पाप बहुरि दोषनिका उपजावनेंवाला कर्म तिनि का नाशकरि अर केवलज्ञानमयी अरहंत हुवा होय सो अरहंत है ।

गुणठाणमग्गणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं ।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स ॥

गुणस्थान मार्गणास्थान पर्याप्ति प्राण बहुरि जीवस्थान इनि पाच

प्रकार करि अरहंत पुरुष की स्थापनां प्राप्त करनी अथवा ताकूं प्रणाम करनां।

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो।
चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठ पडिहारा॥

गुणस्थान चौदह कहे हैं तिनिमैं सयोगकेवली नाम तेरहमा गुणस्थान है तिसविषैं योगनिकी प्रवृत्ति सहित केवलज्ञानकरि सहित सयोगकेवली अरहंत होय है, बहुरि चौंतीस अतिशय ते हैं गुण जाकैं बहुरि ताके आठ प्रातिहार्य होय है ऐसा तौ गुणस्थानकरि स्थापना अरहंत कहिये।

प्रयत्न करने पर कोई भी व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है। तीर्थंकरों ने भी समवशरण में जीवों को मोक्ष मार्ग का उपदेश देकर ध्यान द्वारा अघातिया कर्मों को नष्ट कर निर्वाण प्राप्त किया है। उनकी जय निर्वाण प्राप्ति ही है, क्योंकि संसार अवस्था में जय नहीं, जय स्वतन्त्र होने पर ही हो सकती है। मोक्ष का मार्ग रत्नत्रय है इसकी प्राप्ति के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता।

पूर्ति तेरहवे गुणस्थान के अन्त मे होती है। यद्यपि स्वरूपाचरण चारित्र सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने पर प्राप्त हो जाता है, पर क्रिया रूप चारित्र पाचवें गुणस्थान मे होता है। यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति बारहवें गुणस्थान मे हो जाती है। तेरहवें गुणस्थान मे योग के रहने के कारण चारित्र निर्दोष नही माना जाता है, क्योकि कर्म को ग्रहण करनेवाला योग मौजूद रहता है। यद्यपि यहा कर्मो का आस्रव चारित्र को अशुद्ध नहीं बनाता है, फिर भी आत्मा को अशुद्ध करने के समान यहा चारित्र भी अशुद्ध माना गया है। इसी कारण यथाख्यात चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान मे बतायी गयी है। रत्नत्रय के पूर्ण हो जाने पर उत्तर क्षण मे मोक्ष की प्राप्ति हो ही जाती है। योगशक्ति वैभाविक दशा से शुद्धावस्था मे यही आती है, अत निर्वाण प्राप्ति भी रत्नत्रय की पूर्णता मे होती है।

आत्मा को शुद्ध करने के इस रत्नत्रय के मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को आत्म विश्वास, आत्म ज्ञान और सदाचार रूप आत्माचरण का पालन करना आवश्यक है। तीर्थंकर भगवान् ने भी इस रत्नत्रय मार्ग का अनुसरण कर ही जय प्राप्त की है।

शरीर आत्मा का स्वरूप नही है—

जोन्नंवोल् नयनक्के तोरि करदिदं मुट्टलिल्लाद सं-
पन्नाकारदोळिर्दपं चिमलसिद्धक्षेत्रदोळ्सिद्धन ।
च्छिन्नज्ञानसमेतनष्टगुणगांभीर्यात्मनंदिच्छेयिं ।
निन्न ध्यानिसुवंगे मुक्तयरिदे रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सम्पूर्ण ज्ञान के साथ रहने वाले, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व इन आठ गुणो से युक्त तथा गम्भीर स्वरूप वाले, जिस प्रकार चन्द्र-ज्योत्स्ना आंखों द्वारा

देखी जाती है, उसी प्रकार ज्ञानादि सम्पत्ति से युक्त निर्मल और सिद्ध अवस्था मे रहने वाले और प्रेम से आपका ध्यान करने वाले को क्या मोक्ष असाध्य है।

समस्त कर्मों को नाश कर मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष प्राप्त कर लेने पर आत्मा मे स्वाभाविक आठ गुण प्रकट हो जाते हैं। परम सुख, शान्ति और पूर्ण स्वतन्त्रता इस मोक्ष में ही वर्तमान है। इसकी प्राप्ति के लिए ही जीव अनादि काल से जब तब प्रयत्न करता चला आ रहा है। मोक्ष की प्राप्ति रत्नत्रय की पूर्णता होने पर ही होती है तथा इसके लिए मुनिपद धारण करना पडता है। गृहस्थावस्था मे रह-कर कोई भी व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए तैयारी कर सकता है। भेद-विज्ञान द्वारा अपने स्वरूप का विचार करना तथा निरन्तर आत्मद्रव्य को ससार के समस्त पदार्थों से भिन्न, अलौकिक शक्तिधारी सोचना और तदनुकूल आचरण करना ही गृहस्थावस्था का पुरुषार्थ है। शरीर और भोगो से परम उदासीनता धारण करना एवं परिणामो मे विरक्ति लाना गृहस्थ जीवन मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए साधन है।

ज्ञानी अपनी आत्मा को सदा देखता है कि यह समस्त कर्म बन्धनो से रहित है, किसी से मिली नही है, शुद्ध है, आकाश की तरह निर्मल और परिग्रह से रहित है। अतीन्द्रिय सुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य की मूर्ति है। वह सोचता है कि इन्द्रिय सुख अनित्य है, इसमें एक क्षण के लिए भी शान्ति नही। यह सुखाभास है, कालान्तर मे दुःख रूप ही परिणमन करता है। आत्मद्रव्य कभी भी अन्य द्रव्य रूप परिणत नहीं हो सकता है। यह नियम अटल है कि कोई भी पदार्थ किसी भी दूसरे पदार्थ के साथ कभी भी तन्मय नहीं होता है। प्रत्येक वस्तु अपनी पृथक् सत्ता को धारण किये है। अत अमूर्तिक आत्मा अपने स्वरूप और आकार को भी नही छोडती है। शरीर के साथ मिलने पर भी यह आत्मा मूर्तिक नही हो सकती है। यद्यपि शरीर के साथ बन्धी हुई यह आत्मा मालूम पडती है, पर वह इसका स्वरूप नहीं। शरीर

पुद्गल है, जड है और न उसमें चेतन क्रिया पायी जाती है।

आत्मा का स्वरूप चेतन है, जानने देखने की शक्ति आत्मा मे ही पायी जाती है, उसी के निमित्त से कार्य होते हैं। अत आत्मा कभी भी शरीर रूप नही हो सकती है और न शरीर ही कभी आत्मरूप हो सकता है। गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन मे इसी का स्पष्टीकरण किया है —

न कोप्यन्योन्येन व्रजति समवाय गुणवता,
गुणी केनापि त्व समुपगतवान् रूपभिरमा।
न ते रूप ते यानुपव्रजसि तेषा गतमति-
स्ततश्छेद्यो भेद्यो भवसि वहुदु खे भववने॥

अर्थात्—कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव को छोडकर अन्य द्रव्य के स्वभाव को नही प्राप्त होता है, शरीर इस आत्मा का स्वरूप नही है, जो भ्रमवश इस शरीर को अपना मान रहा है, इसी से छेदन, भेदन, आदि नाना प्रकार के कष्ट भोग रहा है। अत प्रत्येक व्यक्ति को पर द्रव्यो से भिन्न अपने को स्वतन्त्र समझना चाहिए।

क्षमे माळ्पंते विरोध में कुडुवदेसंतोषमंतत्व शा-स्त्रमे माळ्पंतेकुशास्त्रमें कुडुवदे सुज्ञानमं मोक्ष रा-ज्यमे माळ्पंते चतुःस्थळं कुडुवदेसिद्धत्वमं निम्म ध-र्ममे कावंतेनगन्यरें पोरेवरे रत्नाकराधीश्वरा !॥१२२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सहनशीलता से विजय प्राप्त करने मे आनन्द आता है। यह आनन्द राग-द्वेष मे प्राप्त नही हो सकता। वस्तु स्वरूप का यथार्थ विवेचन करने वाले शास्त्र ही ज्ञान को उत्पन्न कर सकते हैं। मिथ्या शास्त्र ज्ञान नही दे सकते। जिस प्रकार मोक्ष स्थान ही सिद्ध स्वरूप को उत्पन्न करता है उस प्रकार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार गतिया सिद्धस्वरूप को उत्पन्न नही कर सकती। अत जिस प्रकार आपका धर्म मेरी रक्षा

कर सकता है क्या उस प्रकार कोई अन्य वस्तु मेरी रक्षा कर सकती है ?

कषाय और विकारों के जीतने से ही वास्तविक आनन्द की प्राप्ति की जा सकती है। इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान होता है, वह असयम या अकल्याणकारी नहीं किन्तु इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध होने पर जो राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं, वे ही असयम करने वाले और अकल्याणकारी हैं। राग-द्वेप रूप परिणामो को रोकना ही कल्याण मार्ग का पथिक बनना है। ससार से छुटकारा पाने के लिए संयम को धारण करना आवश्यक है, क्योकि राग-द्वेप रूप प्रवृत्ति को सयम ही रोक सकता है।

सयम के दो भेद हैं—इन्द्रिय संयम और प्राणी सयम। इन दोनो सयमो मे पहले इन्द्रिय सयम धारण करना चाहिए, क्योकि इन्द्रियो के वश हो जाने पर प्राणियों की रक्षा अपने आप हो जाती है। इन्द्रिय सम्बन्धी लालसाओ का रुक जाना ही इन्द्रिय सयम कहलाता है। षट्-काय के—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति-कायिक और त्रसकायिक जीवों की रक्षा करना प्राणी सयम है।

इन्द्रियों की लालसा के बढने से ही नाना प्रकार के अनर्थ होते हैं। इन्द्रियाधीन होकर ही मनुष्य अभक्ष्य भक्षण करता है, निन्द्य पदार्थों का सेवन करता है। जान-बूझ कर भी इन्द्रियों के आधीन होकर व्यसन सेवन करता है, जिससे भयकर रोगों का शिकार होता है तथा धन सम्पत्ति बर्बाद कर समाज में कष्ट पाता है, अपकीर्ति होती है। अतः इन्द्रिय और मन को स्वाधीन करना चाहिए। अनर्थ की जड़ इन्द्रियाधीनता को रोकने के लिए सत् शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि [illegible] विषय-वासनाओं को शान्त करने के लिए शास्त्र के समान [illegible] इससे और भी सभी वासनाएँ और व्याधियां नष्ट हो जाती हैं।

[illegible] से ज्ञान और [illegible] से राग-द्वेष का शमन और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की ओर [illegible] जाता है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] करता है। [illegible] [illegible]

सच्चे शास्त्र का स्वाध्याय व श्रवण न करने वाले का सुन्दर वर्णन किया है।

ताको मनुज जनम सब निष्फल, मन निष्फल निष्फल जुग कान
गुण अरु दोष विचार भेद विधि, ताहि महा दुर्लभ है ज्ञान ॥
ताको सुगम नरक दुःख संकट, अगमपंथ पदवी निर्वान।
जिनमत वचन दयारस गर्भित जे न सुनत सिद्धान्त बखान ॥

अर्थात्—उसका मनुष्य जन्म निष्फल है, मन और दोनों कान भी निष्फल है तथा वह गुण और दोषों का भी विचार नहीं कर सकता है, समस्त दुःख और संकट भी वह सहन करता है जो दया गर्भित जिनागम का स्वाध्याय नहीं करता।

जिस शास्त्र से जीव की इह लोक और परलोक की गति सुधरे ऐसे शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। वह शास्त्र भी सर्वज्ञ वीतराग भगवान के द्वारा कहा हुआ निदोष होना चाहिए अर्थात् १८ दोष रहित भगवान वीतराग के मुख से निकली हुई जो वाणी है उसी को शास्त्र आगम या जिनवाणी कहते हैं। ये शास्त्र चार प्रकार के अनुयोग के रूप में विभाजित किये गये है। वे इस प्रकार हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग। मनुष्य की बुरी आदत या अशुभ कर्म को रोकने के लिए सबसे पहले प्रथमानुयोग शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। प्रथमानुयोग शास्त्र मे पुण्य पुरुषो की कथाएँ, उनके विचार तथा जीवन चरित्र, सच्चे आचरण होते है। उनके पवित्र जीवन पढना चाहिए। इसके पढने से मनुष्य के अन्दर सदाचार वृत्ति जागृत हो कर पाप की वृत्ति रुक जाती है। इसके बाद इन्द्रिय विषय की वासना घट जाती है तब वही संयम के प्रति झुक जाता (चरणानुयोग) है। फिर पाप पुण्य का भली भाँति विचार करके लोक की परिस्थिति, लोक का स्वरूप तथा व्यवस्था विचार करने के लिए करणानुयोग की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार जब लोक की स्थिति समझ लेता है तो वह जगत मे रहने

वाले जितने भी पदार्थ हैं, वे मेरे आत्मा से भिन्न हैं ऐसी उसकी विचार-धारा मजबूत हो जाती है। इसलिए प्राणी संयम की तरफ इसकी मनोवृत्ति झुक जाती है। तब जीव लोक की स्थिति अच्छी तरह समझने के बाद स्व और पर को जानकर अपने आत्मस्वरूप की तरफ झुकने लगता है और पाप और पुण्य की प्रवृत्ति को हेय समझ कर अपनी आत्मा में रत होकर सम्पूर्ण कर्म की निर्जरा करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। (द्रव्यानुयोग)

जो भगवान का ध्यान करता है उसको सब ही अपना देशी मालूम होता है

निन्नं चिंतिसुतिर्पवंगे परदेशं तन्नदेशं परर् ।
तन्निप्टर् पगेगळ्भरदोंरेगलात्मस्नेहि तर्किप्टु आ ।
वन्नं व्याधि सुखं विषं सुधेयनिक्कुं नोडे नीनिर्दुंसा ।
निन्नांदक्केळसिर्पनेकथकटा रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जो आपका ध्यान करता है उसको दूसरा देश भी अपना ही देश सा जान पड़ता है। अन्य लोक आत्म इष्ट-सा दीख पड़ता है। युद्ध करने वाला शत्रु राजा मित्र बन जाता है, अग्नि चन्दन सी शीतल हो जाती है। विष अमृत के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। इतना महिमान्वित जानकर भी आपको छोड कर मनुष्य इधर-उधर क्यों भटकता फिरता है।

तीर्थंकर प्रभु की अपार महिमा होती है। उनकी सेवा और स्मरण से असंभव कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं। यद्यपि सभी भव्य आत्माओ में निर्वाण प्राप्त करने की शक्ति वर्तमान है, पर जो रत्नत्रय मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे कभी न कभी निर्वाण को प्राप्त कर ही लेते हैं।

संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं, और इस सुख के लिए निरंतर प्रयत्न करते रहते है। परन्तु यह सुख तब तक नहीं प्राप्त हो सकता

माला फेरता हुआ एक श्रावक

है, जब तक जीव सुखबाधक अनिष्ट कर्म को नष्ट न कर दे। अनिष्ट कर्मों का नाश एकमात्र सच्चे चारित्र से होता है। तथा यह चारित्र भी बिना ज्ञान के प्राप्त नहीं हो सकता है। ज्ञान भी तभी सच्चा माना जायगा जब आत्म विश्वास उत्पन्न हो जाय और अनात्मिक भावनाएँ जीव से पृथक् हो जायें। जब कोई भी व्यक्ति अपने स्वरूप का विश्वास कर लेता है, अपनी आत्मा को ससार के पदार्थों से भिन्न और स्वतन्त्र अनुभव करता है, उस समय उसे अपूर्व शान्ति मिलती है। कविवर बनारसीदास ने इस बात को स्पष्ट करते हुए बताया है कि —

करम के चक्र मे फिरत जगवासी जीव
ह्वै रह्यो बहिर मुख व्यापत विपमता।
अन्तर सुमति आई विमल बढाई पाई
पुद्गल सो प्रीति टूटी छूटी माया ममता॥
शुद्ध नै निवास कीन्हो अनुभौ अभ्यास लीन्हो,
भ्रमभाव छाडि दीनो भीनो चित समता।
अनादि अनन्त अविकल्प अचल ऐसो,
पद अवलम्बी अवलोके राम रमता॥

अर्थात्—कर्म के चक्र के कारण यह जीव बहिर्मुख होकर ससार मे जन्म-मरण के दु ख उठा रहा है। जब इसके अन्तरंग मे सुबुद्धि आ जाती है, तो यह बडप्पन को प्राप्त होता हुआ पुद्गल से माया-ममता को छोड देता है। आत्मानुभूति के आ जाने से यह शुद्ध हो जाता है और समस्त भ्रम भाव दूर हो जाते हैं तथा समता इसके हृदय मे उत्पन्न हो जाती है। जिस दृष्टि की विपमता ने जीव को इतना दुखी बनाया था, जिससे वह अपने स्वरूप को भी नही देख सकता था, वह विपमता निकल जाती है। तथा अनादि, अनन्त, अचल और अविनश्वर अपने स्वरूप मे रमण करता है।

इसमे भेदविज्ञान के आ जाने से राग-द्वेप, मोह, जिनके कारण

आस्रव हो रहा था, की उत्पत्ति नहीं होती है। चित्तभूमि निर्मल, स्वच्छ और विकाररहित हो जाती है। कर्मचेतना और कर्मफल चेतना इन दोनो का अभाव हो जाता है तथा जीव ज्ञानचेतना का अनुभवी बन जाता है। ज्ञान-चेतना के प्रकट होते ही भ्रम बुद्धि निकल जाती है, जिससे मिथ्यात्व, मोह, अज्ञान आदि दूर हो जाते हैं। जैसे दीपक काजल को अपने मे से बाहर करता हुआ प्रकाश को फैलाता है, उसी प्रकार भेदविज्ञानी कर्मरूप कालिमा को अपने से बाहर निकालता हुआ स्व-पर ज्ञान का विस्तार करता है। चारित्र, ज्ञान और श्रद्धा ये तीनो ही समुदित अवस्था मे जीव के अनात्मीय भावो का परिष्कार कर उसे स्वावलम्बी बनाते हैं। अतएव रत्नत्रयधारी जीवों का आश्रय लेने से व्यक्ति अपना उद्धार करने मे समर्थ होता है।

उपरोक्त श्लोक मे कवि ने बताया है कि जो मनुष्य अपने आत्मा को अपने आत्मा मे स्थिर करता है, वही अपने आपका मित्र है व जो ऐसा नहीं करता है वह अपने आत्मा का शत्रु है—

व्यापार परिमुच्य सर्वमपर रत्नत्रय निर्मलम्।
कुर्वाणो भृशमात्मन सुहृदभावात्मप्रवृत्तोऽन्यथा॥
वैरी दु:सहजन्मगोनभवने क्षिप्त्वा सदा पातय-
त्यानोऽस्मेति स तत्र जन्मचकिनै कार्यं स्थिर. सोचिदै ॥

को भले प्रकार पालता हुआ अपने आत्मा के ध्यान मे लय पाता है वह अपने आत्मा का मित्र है। क्योकि ध्यान के वल से वह कर्मो का नाश करता है, आत्मा मे सुख-शाति तथा वल को वढाता है और मोक्ष के मार्ग को तय करता जाता है । ऐसा जानकर जो कुछ भी वुद्धि रखते हैं, उनका कर्तव्य है कि रागद्वेष भूलकर सर्व ही व्यापारो को छोडकर ऐसा उपाय करें जिससे अपने आत्मा मे स्थिरता पावें और फिर मुक्त हो जावें ।

वुद्धिमानो को आत्मघाती होना वडा भारी पाप है । जो अपने आत्मा की रक्षा करता है वह आत्मा का सच्चा मित्र है ।

सुभाषितरत्नसदोह मे स्वामी अमितगतिजी कहते है :—

यद्वच्चित्त करोषि स्मरशरनिहत कामिनीसगसौख्य ।
तद्वत्त्व चेज्जिनेन्द्रप्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे विदध्या· ॥
किं कि सौख्य न यासि प्रगतनवजरामृत्युदु खप्रपच ।
सचिन्त्यैवं विधिस्त्व स्थिरपरमधिया तत्र चित्तास्थिरत्वम् ॥

जिस प्रकार तू कामदेव के वाण से वीधा हुआ स्त्री-भोग के सुख मे अपना मन लगाता है उसी तरह यदि तू श्री जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए मोक्ष के मार्ग मे चित्त को जोड दे तो तू जन्म जरा मरण के दु खो के प्रपच से रहित क्या-क्या सुख को न प्राप्त करे ? ऐसा विचार कर अपनी वुद्धि को उत्तम रूप से स्थिर करके उसी धर्म मे स्थिरता रखनी चाहिए ।

सम्यग्ज्ञान का हो जाना ही पर्याप्त है—

नीनानेंवरिवागे साकु सिरियें दारिद्र्यमे ग्राममें ।
काने पालुणिसें कदन्नदुनिसें निवंधमें राज्यमें ॥
ई नानाविधियेल्लवु कनसिवं कोडेनो निन्नेन्न सं-
धानं नित्यसुकैकविन्नुळिदुवं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

आप ही 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होना इतना ही पर्याप्त है फिर बाह्य ऐश्वर्य क्या, दरिद्रता क्या, नगर क्या, मलाई का आहार क्या, अच्छा भोजन क्या, कारागार क्या, राज ऐश्वर्य क्या, अनेक प्रकार के व्यवहार क्या, ये सभी स्वप्न के समान हैं । आप जो हैं वही मैं हूँ इसका ज्ञान होने के बाद ये सब चीजें स्वीकार करने से क्या प्रयोजन है। आप और मेरा एक होना ही मुख्य सुख है । शेष क्या प्रयोजन है अर्थात् सब चीजें निष्प्रयोजन हैं।

कवि ने इस श्लोक मे बताया है कि ज्ञानी आत्मा को स्व और पर का ज्ञान हो जाता है तब वह विचार करता है कि हे भगवन् ! आपका जो स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है । इतना ज्ञान होने के बाद संसार के अनेक भोग सम्बन्धी पर वस्तु क्या, अमृतमयी भोजन क्या, श्मशान क्या, राज्य क्या, ऐश्वर्य क्या, ये सभी स्वप्न के समान ही मालूम होते हैं। इसलिए आपका स्वरूप और मेरा स्वरूप ये दोनों एक होने के बाद अन्य व्यावहारिक सुख का प्रयोजन क्या। इसी तरह से ध्यान करने से पर वस्तु का संयोग मिट जाता है और आत्मा पर श्रद्धान होने के बाद कर्म की निर्जरा होने लगती है । मुक्ति सुख के प्राप्त करने की भी उसकी इच्छा नहीं होती है। ये ही ज्ञानी जीव का कर्तव्य है।

धीनता का अपहरण करते हैं। सच्चा ज्ञान वास्तव मे नित्यानन्द अखण्ड स्वभाव शुद्धात्मा को शुद्ध और दु ख के कारण शरीर से भिन्न पहचानना है।

दुक्खु वि सुक्खु सहसुजिय णाणिउ झाणणिलीणु।
कम्मएँ णिज्जर हेउतउ बुच्च इसग विहीणु ॥

हे जीव ! वीतराग स्वसवेदन ज्ञानी आत्मध्यान मे लीन दु ख और सुख को सम भावो से सहता है। अभेद नय से यह शुभ अशुभ कर्मो की निर्जरा का कारण है, ऐसा भगवान ने कहा है, और वाह्य और आभ्यतर परिग्रह रहित, परद्रव्य की इच्छा के निरोधरूप वाह्य-आभ्यतर अनशनादि वारह प्रकार के तप करने वाला भी ज्ञानी है।

व्यवहार नय की दृष्टि से यह मानव शरीर भले ही उपयोगी दिखलायी पडे, पर वास्तव मे इसमे कुछ भी सार नही है। तिर्यचो का शरीर मनुष्य के शरीर की अपेक्षा उपकारी है, उनके अग प्रत्यग मरने पर भी काम मे आते हैं। जानवरो के मरने पर उनकी खाल जूतो, वैंगो, फीतो आदि के काम मे लाई जाती है, सीगो से कघे वनते हैं, हड्डी का खाद बनता है; नस, मास, रुधिर, पूंछ सभी विभिन्न कामो मे आते हैं। आज कल तो कई जानवरो की खालो के कपडे, वालो की टोपियाँ, बच्चो के कोट, चमर आदि भी वनने लगे है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जानवर जिन्दा रहे तो काम आते हैं और मर जाएँ तो काम आते हैं। किन्तु मनुष्य का शरीर जीवित अवस्था में विषय-भोगो के काम मे लाया जाता है और मरने पर घर वाले भी अधिक देर तक घर मे नही रहने देते। फौरन जला देते हैं या गाढ देते हैं। लेकिन अगर विचार किया जाय तो इस शरीर से धर्म-साधन किया जा सकता है, यही इसका सार है। जिस प्रकार घुना हुआ गन्ना चूसने के काम मे नहीं आता, पर उसका वीज वोया जा सकता है और आगे की फसल उत्पन्न की जा सकती है। इसी प्रकार इस शरीर से वीतराग, परमानन्द शुद्धात्म स्वभाव के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय की

भावना से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। सम्यग्ज्ञान यही है कि इस मानव शरीर को प्राप्त कर परलोक सुधारा जाय, इससे जितना बने उतना धर्म का काम लिया जाय। शुद्धोपयोगी विवेकी व्यक्ति शीलादि गुणो से युक्त होकर आत्मशोधन के मार्ग मे प्रवृत्त होता है।

राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति के होने पर आत्मज्ञान की उपलब्धि नही होती है। स्वसवेदन रूप ज्ञान की अनुभूति तभी होती है जव ससार के पदार्थों से ममत्व वुद्धि दूर की जाय। जीवन-मरण, लाभ-अलाभ मे समाव रहना एव पर पदार्थों से अपने को पृथक् समझना आवश्यक है। पर पदार्थों के सम्वन्ध से चिन्ता उत्पन्न होती है, उससे शरीर मे दाह उत्पन्न होता है, जिससे राग-द्वेष रूपी कल्लोलें रत्नत्रय को दूषित करती है। अभिप्राय यह है कि वीतराग निर्विकल्प परम समाधि की भावना से विपरीत रागादि अशुद्ध परिणाम परद्रव्य हैं, इनका त्याग ही सच्चा विवेक है, इसी के द्वारा जीव अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि करता है। यो तो परद्रव्य आत्मा के लिए भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म हैं, क्योकि आत्मस्वरूप को ये विकृत करते हैं। आत्मा जव इन कर्मों से मुक्त हो जाता है, तभी स्वतन्त्र होता है। जिनेन्द्र प्रभु ने आत्मस्वतन्त्रता को प्राप्त कर लिया है तथा हमारी आत्मा मे शक्ति की अपेक्षा से स्वतन्त्रता वर्तमान है। अत हम भी कालान्तर मे अपने पुरुपार्थ द्वारा भगवान् हो सकते हैं। सभी भव्य आत्माएँ शक्ति की अपेक्षा भगवान हैं।

हे भगवन्! मैंने मन्द वुद्धि से जैसा मन मे आया, वैसा कहा

नडेदें चित्तके वंदवोलनुडिदे नां वाय्गिच्छे बंदते सं-
गेडेदें दु.खसमुद्रद ळ्पडेनंथं कणगळं पेत्तवोल् ।
विडेनिम्मंघ्रिगळंविडें विडेनुदारं नीनहो ! वल्लेने-
न्नोडेया रक्षिसु रक्षिसा तळुविदें रत्नाकराधीश्वरा! ॥१२५॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

जैसा मन मे आया वैसा मैंने निवेदन किया। कष्ट के समुद्र मे धैर्य

बच गया। जिस प्रकार अन्धे को आँख मिलती है, मैंने भी आपको वैसे ही प्राप्त किया है। आपके चरण को नही छोड़ूँगा, कदापि नही छोड़ूँगा। हे प्रभो ! मैं आपको श्रेष्ठ समझता हूँ। देरी न करो, रक्षा करो, रक्षा करो, प्रभो !

ससार के दुःख से पीडित भक्त भगवान से प्रार्थना करता है कि हे वीतरागी भगवन् ! आप राग द्वेष से रहित हैं, फिर भी आपके गुणो के चिन्तन से मुझे अपने गुणो का आभास हो जाता है, मैं अपने गुणो को प्राप्त कर लेता हूँ। भगवान को कर्त्ता धर्त्ता मानकर उनकी स्तुति करना मिथ्यात्व का कारण है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव भगवान की अर्चा, उनका गुणानुवाद पुत्र-प्राप्ति की इच्छा, धन-लाभ की कामना स्वर्गादि सुखो को पाने की लालसा से करता है। किन्तु उसका यह धार्मिक क्रियाकाण्ड नाना प्रकार के कष्टो को देने वाला एव ससार-भ्रमण का कारण होता है। सम्यग्दृष्टि जीव का प्रत्येक धर्माचरण कषायो और मन, वचन और काय के व्यापार को रोकने मे सहायक होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन निमित्तो से होने वाले आस्रव को रोक कर, नित्यानन्द सुखामृत स्वरूप अपने निज रूप को प्राप्त करता है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह भेदरूप सज्ञाएँ तथा अन्य प्रकार के समस्त विभावो को अपने से अलग करता हुआ जन्म-मरण तृषा क्षुधा आदि अठारह दोषो से रहित परमात्मा का ध्यान करता है। यह परमात्मा शुद्धात्मा से भिन्न कोई विलक्षण शक्तिधारी नही है, बल्कि अपने शुद्धात्मस्वरूप ही है।

भव नही जो इसने न पाया हो। अत. अब मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यग्दर्शन को ग्रहण करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि का आचरण सर्वदा आत्मोन्मुख रहता है, वह आत्मरुचि रखता हुआ प्रत्येक कार्य मे प्रवृत्त होता है। जो सहजानन्द ज्ञान स्वभाव रूप आत्मस्वरूप से विपरीत आचरण करता है, वह नरक, तिर्यंच गति को प्राप्त होकर दु:ख पाता है। परमात्मप्रकाश मे कहा गया है —

"सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावात्परमात्मन. सकाशाद्विपरीतेन छेदनादिनारकतिर्यग्गतिदु:खदानसमर्थेन पापकर्मोदयेन नारकतिर्यग्गतिभाजनो भवति जीव.। तस्मादेव शुद्धात्मनो विलक्षणेन पुण्योदयेन देवो भवति। तस्मादेव शुद्धात्मनो विपरीतेन पुण्यपापद्वयेन मनुष्यो भवति। तस्यैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन मुक्तो भवति।

अर्थात् - यह जीव सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव जो परमात्मा है, उससे विपरीत जो पाप कर्म उसके उदय से नरक और तिर्यंच गति का पात्र होता है। आत्मस्वरूप से विपरीत शुभ कर्मों के उदय से देव होता है और पुण्य पाप कर्म के मिश्रित उदय से मनुष्य होता है। ज्ञानानन्द रूप शुद्धात्मा के अनुभव से यह जीव निर्वाण को प्राप्त करता है। यही इसका वास्तविक रूप है।

भगवान से प्रार्थना

त्रिजगत्स्वामि जिनेन्द्रं सिद्ध[illegible] [illegible] जगन्नाथ [illegible] [illegible] [illegible] जिनेन्द्र [illegible] [illegible] [illegible]! ।६८।

हे रत्नाकराधीश्वर !

तीनो लोक के स्वामी, जिनेश्वर, सिद्धि को प्राप्त, सिद्ध क्षेत्र मे रहने वाले पूज्य, सभी विषयों के ज्ञाता, सुख के आदि स्थान, लोक के पितामह, कर्मों को नष्ट करने वाले, ज्ञान रूपी सम्पत्ति के अधिपति, केवलज्ञान के धारी, ज्ञान द्वारा व्यापक, काम रूपी शत्रु के विजेता, कर्म का नाश करने वाले अधिपति, पश्चिमी समुद्र के अधिपति, हे रत्नाकराधीश्वर ! शीघ्रतापूर्वक यथार्थ रूप को आप बता दें, हे दयाशील ! इसमे देरी क्यो ?

कवि अपने भगवान से प्रार्थना करता है कि हे भगवन् ! हे तीन लोक के नाथ, दीनदयाल, हे परमात्मा, हे निरजनस्वरूप ! सम्पूर्ण सुख के आदि स्थान आप ही हैं। मैं आपसे यही चाहता हूँ कि मुझे न चक्र-वर्ती का पद चाहिए, न इन्द्रिय-भोग सम्बन्धी सामग्री चाहिए, मेरी कोई लालसा नही है। मेरी यही प्रार्थना है कि मुझे इस संसार रूपी बन्धन से मुक्त होने का मार्ग आपसे मिल जाय। आपके सिवाय ससार मे मेरा कोई नही है। नाथ ! आप दीन दुखियो के उद्धारक हैं, आपके सिवाय मैं और किसी को नही जानता। आप त्रिलोकीनाथ हैं, सम्पूर्ण जीवो का कल्याण करने वाले हैं, इसलिए हे प्रभु ! मेरे पर कृपा करो, मुझे शीघ्र ही शान्ति का मार्ग बतलाओ, देर मत करो। कवि ने कहा है कि—

इति स्तुतिं देव ! विधाय दैन्याद्-
वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ॥
छाया-तरुं सश्रयत. स्वत. स्यात् ।
कश्छाययायाचितयात्मलाभ ॥

वीतराग देव की स्तुति से अयाचित फल की प्राप्ति होती है। वृक्ष का आश्रय करने वाले को छाया न मागने पर भी मिलती है। कारण जहाँ पर राग और द्वेष रूप प्रवृत्ति होती है, अनुकूल और प्रतिकूल प्रार्थना वही पर उपयोगी पडती है। फिर भी उन प्रार्थना मे फल

मिलना निश्चित नही है। परन्तु आप तो वीतराग हैं, परम उपेक्षा भाव]
से विभूपित है इसलिए आप स्वय किसी को कुछ देते भी नही और
ग्रहण भी नही करते । परन्तु जो आपका आश्रय करता है, उसको
स्वयमेव फल मिल जाता है।

त्राहि त्रैभुवनद्र मस्तकमणिव्रातार्चितांघ्रिद्वया।
त्राहि श्रीरमणीनटन्नटनरंगश्रीपादाब्जोभया ॥
त्राहि त्राहि महेशमां पुनरपि त्राहीति रत्नत्रया।
देहि त्वं मम दीयतां जयजया रत्नाकराधीश्वरा! ।१२७।

हे रत्नाकराधीश्वर !

अधो, मध्य, ऊर्ध्वलोक के अधिपति के मस्तिष्क के किरीट मे रहने वाले रत्न समूह के पूजनीय चरण वाले हे रत्नाकराधीश्वर ! मेरी रक्षा करो, लक्ष्मी रूपी नर्तकी के नर्तन के रगस्थल और शोभायुक्त ऐसे चरण करने वाले रत्नाकराधीश्वर ! मेरी निरन्तर रक्षा करो । आप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त रत्नत्रय के धारी हैं । हे प्रभो ! आप मेरी रक्षा करें। आप कृपया मुझे रत्नत्रय को दे देवें। आप सर्व-श्रेष्ठ होकर सदा विद्यमान रहें।

भगवान् के १००८ नाम हैं। भक्त भक्ति के आवेश मे आकर विभिन्न नामो के द्वारा वीतरागी प्रभु की वदना करता है, उनसे व्यावहारिक दृष्टि से अपने उद्धार की आकाक्षा करता है, वास्तव मे भगवान कुछ करने धरने वाले नही हैं। भक्त अपनी भावनाओं की पवित्रता से ही स्वय अपना कल्याण करता है। स्वय अपने भावो का कर्त्ता है तथा अपने उदय मे आने वाले कर्मफल एव ज्ञानादि चैतन्य भावो का भोक्ता है। भगवान को करुणासागर और कृपा-निधान इसीलिए कहा गया है कि उन्होने अपने जीवन मे अहिंसा को पूर्णरूप से उतार लिया है, जिससे उनके द्वारा किसी भी प्राणी का अहित नही होता है। वे सभी प्राणियो का हित चाहते हैं, और अपनी वीतरागता से छोटे से छोटे प्राणी का

भी अहित नही होने देते हैं।

शंकर, विष्णु और ब्रह्मा भी भगवान जिनेन्द्र के नाम बताये गये हैं। क्योंकि ससार का कल्याण करने के कारण ही शकर कहलाते है। प्रभु की दिव्य ध्वनि से चराचर सभी जीव अपना हित साधन करते है। ससार के दु खो से छुटकारा पाने का उपाय रत्नत्रय मार्ग ही है, इसका उपदेश भगवान जिनेन्द्र ने दिया है, अत वे शकर और विष्णु हैं। समवशरण मे उनका चारो ओर मुख दिखलायी पडता है अत वे चतुर्मु खी ब्रह्मा हैं। मुक्ति पद को प्राप्त करने के कारण ही जिनेन्द्र प्रभु ब्रह्मा कहलाते है।

त्रिभुवन स्वामी, शीलसिन्धु, अमल, अविनाशी, पु डरीक, निराकार, लोकप्रमाण, रमापति, रमाविराम, कृपासिन्धु, करुणाधाम, परमदेव, ज्ञानगर्भ, नित्यानन्द, अजर, अजीत, अवपु, विपयातीत, धर्मधुरधर, धर्मनिधान, चिन्तामणि, परमक्षेम, चिन्मूर्ति, चिद्विलास, चिन्मय, चूडामणि, चारित्रधाम, निर्भोग, निरास्रव, अनक्षर, मेधापति, व्रजभूषण, विश्वम्भर, दयानिधि, गुणपु ज, गुणाकर, सुखसागर, जगद्‌वन्धु, जगत्पति, जगवन्दन, गुणकदम्व, वन्धविनाशक आदि नामों से भगवान का स्मरण किया गया है। ये सभी नाम सार्थक हैं। भगवान मे कर्म वन्धन नष्ट होने से इस प्रकार के अनन्तगुण वर्तमान हैं, जिससे उनके अनन्तानन्त नाम रखे जा सकते है।

शुद्धात्मा भगवान का स्मरण करने से जीव का उद्धार होता है, वह अपने उद्धार का मार्ग निकाल लेता है तथा स्वावलम्बी वन जाता है। गुणो के स्मरण और चिन्तन से जीव को अपनी दशा का परिज्ञान होता है तथा द्रव्यो के स्वरुप को समझकर अपने आत्मद्रव्य को पृथक्-अनुभव करता हुआ आत्मविकास के मार्ग मे वढता है। भेदविज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है, जिनसे द्रव्यो की स्वतन्त्र सत्ता का वोध हो जाने से व्यक्ति को वड़ी भारी शान्ति मिलती है। आकुलता समाप्त हो जाती है तथा अहकार और ममकार की भावनाए जीव से अलग हो जाती है,

विकार और वासनाए भस्म होकर आत्मा निर्मल निकल आती है।

धर्म स्थिति के कारणभूत आदि जिनेन्द्र व श्रेयांस राजा का स्मरण—

आद्यो जिनो नृप. श्रेयान् व्रतदानादिपूरुषौ ।
एतदन्योन्यसंबन्धे धर्मस्थितिरभूदिह ॥१॥

अर्थ—आद्य जिन अर्थात् ऋषभ जिनेन्द्र तथा श्रेयान्स राजा ये दोनो क्रम से व्रत विधि और दान विधि के आदि प्रवर्तक पुरुष है, अर्थात् व्रतो का प्रचार सर्व प्रथम ऋषभ जिनेन्द्र के द्वारा प्रारम्भ हुआ तथा दान विधि का प्रचार राजा श्रेयान्स से प्रारम्भ हुआ। इनका परस्पर सम्बन्ध होने पर यहाँ भरत क्षेत्र में धर्म की स्थिति हुई।

धर्म का स्वरूप—

सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते ।
मुक्ते. पन्था. स एव स्यात् प्रमाणपरिनिष्ठित. ॥२॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को धर्म कहा जाता है तथा वही मुक्ति का मार्ग है जो प्रमाण से सिद्ध है।

दीर्घ ससार किनका है ?

रत्नत्रयात्मके मार्गे सचरन्ति न ये जना. ।
तेषा मोक्षपद दूर भवेद्दीर्घतरो भव. ॥३॥

अर्थ—जो जीव रत्नत्रयस्वरूप इस मोक्ष-मार्ग मे सचार नहीं करते हैं, उनके लिए मोक्ष स्थान तो दूर तथा ससार अतिशय लम्बा हो जाता है।

धर्म के दो भेद और उनके स्वामी—

सपूर्णदेशभेदाभ्या स च धर्मो द्विधा भवेत् ।
आद्ये भेदे च निर्ग्रन्था द्वितीये गृहिण स्थिता. ॥४॥

अर्थ—वह धर्म सम्पूर्ण धर्म और देश धर्म के भेद से दो प्रकार का

है। इनमे से प्रथम भेद में दिगम्बर मुनि और द्वितीय भेद में गृहस्थ स्थित होते हैं।

गृहस्थ धर्म के हेतु क्यो माने जाते है—

सम्प्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना।
तेन तेऽपि च गण्यन्ते गृहस्था धर्महेतव ॥५॥

अर्थ—वर्तमान मे भी उस रत्नत्रय स्वरूप धर्म की प्रवृत्ति उसी मार्ग से अर्थात् पूर्ण धर्म और देश धर्म स्वरूप से हो रही है। इसीलिए वे गृहस्थ भी धर्म के कारण माने जाते है।

कलिकाल में जिनालय, मनुष्यो की स्थिति और दान धर्म के मूल कारण श्रावक है—

सम्प्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थिति.।
धर्मश्च दानमित्येषा श्रावका मूलकारणम् ॥६॥

अर्थ—इस समय यहां इस कलिकाल अर्थात् पचम काल में मुनियो का निवास जिनालय में हो रहा है और उन्ही के निमित्त से धर्म एवं दान की प्रवृत्ति है। इस प्रकार मुनियो की स्थिति, धर्म और दान इन तीनों के मूल कारण गृहस्थ श्रावक हैं।

गृहस्थों के षट् धर्म—

देवपूजा गुरूपास्ति. स्वाध्याय. संयमस्तप.।
दानं चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने ॥७॥

अर्थ—जिन पूजा, गुरु की सेवा, स्वाध्याय, सयम और तप ये छह कर्म गृहस्थों के लिए प्रतिदिन करने के योग्य हैं अर्थात् वे उनके आवश्यक कार्य हैं।

सामायिक व्रत का स्वरूप—

समता सर्वभूतेषु सयमे शुभभावना।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥८॥

अर्थ—सब प्राणियों के विषय में समता भाव धारण करना, संयम

के विषय मे शुभ विचार रखना तथा आर्त एवं रौद्र ध्यानो का त्याग करना, इसे सामायिक व्रत माना जाता है।

सामायिक के लिए सात व्यसनो का त्याग आवश्यक है—

सामायिक न जायेत व्यसनम्लानचेतस. ।
श्रावकेन तत साक्षात्त्याज्यं व्यसनसप्तकम् ॥९॥

अर्थ—जिसका चित्त द्यूतादि व्यसनो द्वारा मलिन हो रहा है उसके उपर्युक्त सामायिक की सम्भावना नही है। इसलिए श्रावक को साक्षात् उन सात व्यसनो का परित्याग अवश्य करना चाहिए।

व्यसनी के धर्मान्वेषण की योग्यता नहीं होती है—

द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपरागना' ।
महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥१०॥

अर्थ—द्यूत, मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री—ये सातो ही व्यसन महापाप स्वरूप है। विवेकी जन को इनका त्याग करना चाहिए।

धर्माथिनोऽपि लोकस्य चेदस्ति व्यसनाश्रयः ।
जायते न तत. नापि धर्मान्वेषणयोग्यता ॥११॥

अर्थ—धर्माभिलाषी जन भी यदि इन व्यसनो का आश्रय लेता है तो इससे उनके यह धर्म के खोजने की योग्यता भी नहीं उत्पन्न होती है। सात नरको ने अपनी समृद्धि के लिए मानो एक एक व्यसन को नियुक्त किया—

धर्मशत्रुविनाशार्थं पापाख्यकुपतेरिह ।
सप्तांग बलवद्राज्यं सप्तभिर्व्यसनैः कृतम् ॥१३॥

अर्थ—इन सात व्यसनों ने मानो धर्म रूपी शत्रु को नष्ट करने के लिए पाप नाम से प्रसिद्ध निकृष्ट राजा के सात राज्यांगों (राजा, मंत्री, मित्र, खजाना, देश, दुर्ग और सैन्य) से युक्त राज्य को बलवान किया है।

विशेषार्थ—अभिप्राय इसका यह है कि इन व्यसनों के निमित्त से धर्म का तो ह्रास होता है और पाप बढ़ता है। इस पर ग्रन्थकर्ता के द्वारा यह उत्प्रेक्षा की गई है कि मानो पाप रूपी राजा ने अपने धर्म रूपी शत्रु को नष्ट करने के लिए अपने राज्य को इन सात व्यसनों रूप भागों में बांट दिया है। जो स्तुति किया करते हैं वे तीनों लोकों में स्वयं ही दर्शन, पूजन, और स्तुति के योग्य बन जाते हैं। अभिप्राय यह है कि वे स्वयं भी परमात्मा बन जाते हैं।

भक्ति से जिनदर्शन आदि करने वाला स्वयं वन्दनीय हो जाता है—

प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम् ।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः ॥१६॥

अर्थ—श्रावको को प्रात काल उठ करके भक्ति से जिनेन्द्रदेव तथा निर्ग्रन्थ गुरु का दर्शन और उनकी वन्दना करके धर्म-श्रवण करना चाहिए।

ज्ञान लोचन की प्राप्ति के कारणभूत गुरुओ की उपासना—

पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधैः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्म प्रकीर्तित ॥१७॥

अर्थ—तत्पश्चात् अन्य कार्यो को करना चाहिए, क्योकि विद्वान् पुरुषो ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थो मे धर्म को प्रथम वतलाया है।

गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम् ।
समस्त दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुपम् ॥१८॥

अर्थ—गुरु की ही प्रसन्नता से वह ज्ञान (केवलज्ञान) रूपी नेत्र प्राप्त होता है कि जिसके द्वारा समस्त जगत् हाथ की रेखा के समान स्पष्ट देखा जाता है।

ये गुरु नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते ।
अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ॥१९॥

बाह्य पदार्थों के अवलोकन मे सहायक हो सकता है, न कि आत्माव-लोकन मे। आत्मावलोकन मे तो केवल गुरु के निमित्त से प्राप्त हुआ अध्यात्म ज्ञान ही सहायक होता है।

चक्षु और कानो से युक्त होकर भी अन्धे और बहरे कौन है—

ये पठन्ति न सच्छास्त्र सद्गुरुप्रकटीकृतम्।
तेऽन्धाः सचक्षुषोऽपीह सभाव्यन्ते मनीषिभि ॥२०॥

अर्थ—जो जन उत्तम गुरु के द्वारा प्ररूपित समीचीन शास्त्र को नही पढते है उन्हे बुद्धिमान् मनुष्य दोनो नेत्रो से युक्त होने पर भी अन्धा समझते है।

देशव्रत सफल कब हो जाता है—

मन्ये त प्रायशस्तेषा कर्णाश्च हृदयानि च।
यैरभ्यासे गुरो शास्त्र न श्रुत नावधारितम् ॥२१॥

अर्थ—जिन्होने गुरु के समीप मे न शास्त्र को सुना है और न उसको हृदय में धारण ही किया है उनके प्राय करके न तो कान है और न हृदय ही है, ऐसा मैं समझता हूँ।

विशेषार्थ—कानों का सदुपयोग इसी मे है कि उनके द्वारा शास्त्रो का श्रवण किया जाय—उनके सदुपदेश को सुना जाय। तथा मन के लाभ का भी यही सदुपयोग है कि उसके द्वारा सुने हुए शास्त्र का चिंतन किया जाय—उसके रहस्य को धारण किया जाय। इसीलिए जो प्राणी कान और मन को पा करके भी उन्हें शास्त्र के विषय मे उपयुक्त नही करते है उनके वे कान और मन निष्फल ही हैं।

देशव्रतानुसारेण सयमोऽपि निषेव्यते।
गृहस्थैर्येन तैनैव जायते फलवद्व्रतम् ॥२२॥

अर्थ—श्रावक यदि देशव्रत के अनुसार इन्द्रियो के निग्रह और प्राणी-दया रूप संयम का भी सेवन करते हैं तो इससे उनका वह व्रत (देशव्रत) सफल हो जाता है। अभिप्राय यह है कि देशव्रत के परिपालन

की सफलता इसी मे है कि तत्पश्चात् पूर्ण सयम को भी धारण किया जाय ।

आठ मूलगुण और बारह उत्तर गुणों का निर्देश—

त्याज्यं मासं च मद्य च मधूदुम्बरपचकम् ।

अष्टौ मूलगुणा. प्रोक्ता. गृहिणो दृष्टिपूर्वका: ॥२३॥

अर्थ—मास, मद्य, शहद और पांच उदम्बर फलो (ऊमर, कठूमर, पाकर, बड़ और पीपल) का त्याग करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के साथ ये श्रावक के आठ मूलगुण कहे गये हैं ।

विशेषार्थ—मूल शब्द का अर्थ जड होता है। जिस वृक्ष की जडें गहरी और बलिष्ठ होती हैं उसकी स्थिति बहुत समय तक रहती है। किन्तु जिसकी जडें अधिक गहरी और बलिष्ठ नहीं होती उसकी स्थिति बहुत काल तक नहीं रह सकती—वह आधी आदि के द्वारा शीघ्र ही उखाड दिया जाता है। ठीक इसी प्रकार से चूकि इन गुणों के बिना श्रावक के उत्तर गुणों (अणुव्रतादि) की स्थिति भी दृढ नही रहती है; इसीलिए ये श्रावक के मूलगुण कहे जाते हैं। इनके भी प्रारम्भ में सम्यग्दर्शन अवश्य होना चाहिए, क्योकि उसके बिना आय व्रत आदि सब निरर्थक ही रहते हैं।

अणुव्रतानि पचैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।

शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते ॥२४॥

अर्थ—गृहिव्रत अर्थात् देशव्रत में पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार ये बारह व्रत होते हैं ।

भावार्थ—हिंसा, असत्य वचन, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाच स्थूल पापों का परित्याग करना, इसे अणुव्रत कहा जाता है। वह पाच प्रकार मे हैं—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत। मन, वचन और काय के द्वारा कृत, कारित तथ अनुमोदना रूप से (नौ प्रकार से) जो सकल्पपूर्वक त्रस जीवों की

हिंसा का परित्याग किया जाता है उसे अहिंसाणुव्रत कहते है । स्थूल असत्य वचन को न स्वय बोलना और न इसके लिए दूसरे को प्रेरित करना तथा जिस सत्य वचन से दूसरा विपत्ति मे पडता हो ऐसे सत्य वचन को भी न बोलना, इसे सत्याणुव्रत कहा जाता है । रखे हुए, गिरे हुए अथवा भूले हुए परधन को विना दिये ग्रहण न करना अचौर्याणुव्रत कहलाता है । परस्त्री से न तो स्वय ही सम्बन्ध रखना और न दूसरे को भी उसके लिए प्रेरित करना, इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत अथवा स्वदारसन्तोष कहा जाता है । धन धान्यादि परिग्रह परिमाण करके उससे अधिक की इच्छा न करना, इसे परिग्रहपरिमाणाणुव्रत कहते है । गुणव्रत तीन है—दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण । पूर्वादिक दस दिशाओ में प्रसिद्ध किन्हीं समुद्र, नदी, वन और पर्वत आदि की मर्यादा करके उसके बाहर जाने का मरण पर्यन्त नियम कर लेने को 'दिग्व्रत कहा जाता है । जिन कामो से किसी प्रकार का लाभ न होकर केवल पाप ही उत्पन्न होता है वे अनर्थदण्ड कहलाते हैं और उसके त्याग को अनर्थदण्ड व्रत कहा जाता है । जो वस्तु एक ही वार भोगने में आती है वह भोग कहलाती है—जैसे भोजनादि । तथा जो वस्तु एक वार भोगी जाकर भी दुवारा भोगने में आती है उसे उपभोग कहा जाता है—जैसे वस्त्रादि । इन भोग और उपभोग रूप इन्द्रिय विषयो का परिमाण करके अधिक की इच्छा नही करना, इसे भोगोपभोग-परिमाण कहते हैं । ये तीनो व्रत चूंकि मूलगुणो की वृद्धि के कारण हैं, अत इनको गुणव्रत कहा गया है । देशावकाशिक, सामायिक, प्रोपधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत हैं । दिग्व्रत मे की गई मर्यादा के भीतर भी कुछ समय के लिए किसी गृह, गाँव, एव नगर आदि की मर्यादा करके उसके भीतर ही रहने का नियम करना देशावकाशिकव्रत कहा जाता है । नियत समय तक पाचो पापो का पूर्ण रूप से त्याग कर देने को सामायिक कहते हैं । यह सामायिक जिन चैत्यालयादि रूप किसी निर्वाध एकान्त स्थान मे की जाती है । सामायिक मे स्थित होकर यह विचार करना चाहिए कि

जिस ससार मे मैं रह रहा हूं वह अशरण है, अशुभ है, अनित्य है, दुःख स्वरूप है, तथा आत्मस्वरूप से भिन्न है। किन्तु इनके विपरीत मोक्ष शरण है, शुभ है, नित्य है, निराकुल सुख स्वरूप है, और आत्मस्वरूप से अभिन्न है, इत्यादि । अष्टमी एव चतुर्दशी आदि को अन्न, पान (दूध आदि) खाद्य (लड्डू-पेडा आदि) और लेह्य (चाटने योग्य रबडी आदि) इन चार प्रकार के आहारों का परित्याग करना, इसे प्रोपधोपवास कहा जाता है। प्रोपधोपवास यह पद प्रोपध और उपवास इन दो शब्दो के समास से निष्पन्न हुआ है । इनमे प्रोपध शब्द का अर्थ एक बार भोजन (एकाशन) तथा उपवास शब्द का अर्थ चारों प्रकार के आहार का छोड़ना है। अभिप्राय यह है कि एकाशनपूर्वक जो उपवास किया जाता है वह प्रोपधोपवास कहलाता है। जैसे—यदि अष्टमी का प्रोपधोपवास करना है तो सप्तमी और नवमी को एकाशन तथा अष्टमी को उपवास करना चाहिए। इस प्रकार प्रोपधोपवास मे सोलह पहर के लिए आहार का त्याग किया जाता है। प्रोपधोपवास के दिन पांच पाप, स्नान, अलकार तथा सब प्रकार के आरम्भ को छोड़कर ध्यानाध्ययनादि मे ही समय को विताना चाहिए। किसी प्रत्युपकार आदि की अभिलाषा न करके जो मुनि आदि सत्पात्रो के लिए दान दिया जाता है, इसे वैयावृत्य कहते हैं। इस वैयावृत्य मे दान के अतिरिक्त संयमी जनों की यथायोग्य सेवा शुश्रूपा करके उनके कष्ट को भी दूर करना चाहिए। किन्हीं आचार्यों के मतानुसार देशावकाशिक व्रत को गुणव्रत के अन्तर्गत तथा भोगोपभोगपरिमाणव्रत को शिक्षाव्रत के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है।

पर्वस्वथ यथाशक्ति मुक्तित्यागादिकं तप ।
वस्त्रपूत पिबेत्तोयं रात्रिभोजनवर्जनम् ॥२५॥

अर्थ—श्रावक को पर्व दिनों (अष्टमी एवं चतुर्दशी आदि) में अपनी शक्ति के अनुसार भोजन के परित्याग आदि रूप (अनशनादि)

तपों को करना चाहिए। इसके साथ ही उन्हें रात्रि भोजन को छोडकर वस्त्र से छना हुआ जल भी पीना चाहिए।

त देश तं नर तत्स्व तत्कर्माणि च नाशयेत् ।
मलिनं दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम् ॥२६॥

अर्थ—जिस देशादि के निमित्त से सम्यग्दर्शन मलिन होता हो तथा व्रतो का नाश होता हो ऐसे उस देश का, उस मनुष्य का, उस द्रव्य का तथा उन क्रियाओ का भी परित्याग कर देना चाहिए।

भोगोपभोगसंख्यान विधेय विधिवत्सदा ।
व्रतशून्या न कर्तव्या काचित् कालकला बुधै· ॥२७॥

अर्थ—विद्वान् मनुष्यो को नियमानुसार सदा भोग और उपभोग सब वस्तुओ का प्रमाण कर लेना चाहिए। उनका थोडा-सा भी समय व्रतो से रहित नही जाना चाहिए।

भावार्थ—जो वस्तु एक ही बार उपयोग मे आया करती है उसे भोग कहा जाता है—जैसे भोज्य पदार्थ एव माला आदि। इन दोनो ही प्रकार के पदार्थों का प्रमाण करके श्रावक को उससे अधिक की इच्छा नही करनी चाहिए।

रत्नत्रयाश्रय कार्यस्तथा भव्यैरतन्द्रितै ।
जन्मान्तरेऽपि तच्छ्द्धा यथा सवर्धतेतराम् ॥२८॥

अर्थ—भव्य जीवों को आलस्य छोडकर रत्नत्रय का आश्रय इस प्रकार से करना चाहिए कि जिस प्रकार से उनका उक्त रत्नत्रयविषयक श्रद्धान (दृढता) दूसरे जन्म में भी अतिशय वृद्धिगत होता रहे।

विनयश्च यथायोग्य कर्तव्य. परमेष्ठिषु ।
दृष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितै ॥२९॥

अर्थ—इसके अतिरिक्त श्रावकों को जिनमत के आश्रित होकर अर्हदादि पांच परमेष्ठियों, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा

इन सम्यग्दर्शनादि को धारण करने वाले जीवो की भी यथायोग्य विनय करनी चाहिए।

दर्शनज्ञानचारित्रतप.प्रभृति सिध्यति।
विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते ॥३०॥

अर्थ—उस विनय के द्वारा चूंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तप आदि की सिद्धि होती है अतएव उसे मोक्ष का द्वार कहा जाता है।

सत्पात्रेषु यथाशक्ति दान देय गृहस्थितै.।
दानहीना भवेत्तेषा निष्फलैव गृहस्थता ॥३१॥

अर्थ—गृह मे स्थित रहने वाले श्रावको को शक्ति के अनुसार उत्तम पात्रो के लिए दान देना चाहिए, क्योकि दान के बिना उनका गृहस्थाश्रम (श्रावकपना) निष्फल ही होता है।

दान ये न प्रयच्छन्ति निर्ग्रन्थेषु चतुर्विधम्।
पाशा एव गृहास्तेषां बन्धनायैव निर्मिताः ॥३२॥

अर्थ—जो गृहस्थ दिगम्बर मुनियों के लिए चार प्रकार का दान नहीं देते हैं उनको बन्धन मे रखने के लिए वे गृह मानो जाल ही बनाये गये हैं।

भावार्थ—अभिप्राय यह है कि श्रावक घर में रह कर जिन असि-मसि आदि रूप कर्मों को करता है उनसे उसके अनेक प्रकार के पाप कर्म का संचय होता है। उससे छुटकारा पाने का उपाय केवल दान है। सो यदि वह उस पात्रदान को नहीं करता है तो फिर वह उक्त संचित पाप के द्वारा संसार में ही परिभ्रमण करने वाला है। इस प्रकार से उक्त दानहीन श्रावक के लिए वे घर बन्धन के ही कारण बन जाते हैं।

अभयाहारभैषज्यशास्त्रदाने हि यत्कृते।
ऋषीणा जायते सौख्यं गृही श्लाघ्यः कथं न सः ॥३३॥

अर्थ—जिसके द्वारा अभय, आहार, औषध और शास्त्र का दान

करने पर मुनियो को सुख उत्पन्न होता है वह गृहस्थ कैसे प्रशसा के योग्य न होगा ? अवश्य होगा ।

समर्थोऽपि न यो दद्याद्यतीना दानमादरात् ।
छिनत्ति स स्वयं मूढ परत्र सुखमात्मनः ॥३४॥

अर्थ—जो मनुष्य दान देने के योग्य हो करके भी मुनियो के लिए भक्तिपूर्वक दान नही देता है वह मूर्ख परलोक मे अपने सुख को स्वय ही नष्ट करता है ।

दृषन्नावसमो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रमः ।
तदारूढो भवाम्भोधौ मज्जत्येव न सशय. ॥३५॥

अर्थ—दान से रहित गृहस्थाश्रम को पत्थर की नाव के समान समझना चाहिए । उस गृहस्थाश्रम रूपी पत्थर की नाव पर बैठा हुआ मनुष्य ससार रूपी समुद्र मे डूबता ही है, इसमे सन्देह नही है ।

समयस्थेषु वात्सल्य स्वशक्त्या ये न कुर्वते ।
बहुपापवृतात्मानस्ते धर्मस्य पराङ्मुखा ॥३६॥

अर्थ—जो गृहस्थ अपनी शक्ति के अनुसार साधर्मी जनो से प्रेम नहीं करते हैं वे धर्म से विमुख होकर अपने को बहुत पाप से आच्छादित करते हैं ।

येषा जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते ।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषा धर्म कुतो भवेत् ॥३७॥

अर्थ—जिन भगवान के उपदेश से दयालुता रूप अमृत से परिपूर्ण जिन श्रावको के हृदय मे प्राणिदया आविर्भूत नही होती है उनके धर्म कहाँ से हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता ।

विशेषार्थ—इसका अभिप्राय यह है कि जिन गृहस्थों का हृदय जिनागम का अभ्यास करने के कारण दया से ओतप्रोत हो चुका है वे ही गृहस्थ वास्तव मे धर्मात्मा हैं । किन्तु इसके विपरीत जिनका चित्त दया से आर्द्र नही हुआ है वे कभी भी धर्मात्मा नही हो सकते । कारण कि

धर्म का मूल तो वह दया ही है।

मूल धर्मतरोराद्या व्रताना धाम संपदाम्।
गुणाना निधिरित्यंगिदया कार्या विवेकिभि ॥३८॥

अर्थ—प्राणी—दया धर्म रूपी वृक्ष की जड़ है, व्रतो मे मुख्य है, सम्पत्तियों का स्थान है, और गुणों का भण्डार है। इसलिए उसे विवेकी जनों को अवश्य करना चाहिए।

सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे।
सूत्राधारा प्रसूनाना हाराणा च सरा इव ॥३९॥

अर्थ—मनुष्य मे सब ही गुण जीव-दया के आश्रय से इस प्रकार रहते हैं जिस प्रकार कि पुष्पो की लड़ियां सूत के आश्रय से रहती हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार फूलो के हारों की लड़िया धागे के आश्रय से स्थिर रहती हैं उसी प्रकार समस्त गुणो का समुदाय प्राणि-दया के आश्रय से स्थिर रहता है। यदि माला के मध्य का धागा टूट जाता है तो जिस प्रकार उसके सब फूल बिखर जाते हैं उसी प्रकार निर्दयी मनुष्य के वे सब गुण भी दया के अभाव मे बिखर जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं। अतएवं सम्यग्दर्शनादि गुणों के अभिलाषी श्रावक को प्राणियों के विषय मे दयालु अवश्य होना चाहिए।

यतीना श्रावकाणा च व्रतानि सकलान्यपि।
एकाहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं कथितानि जिनेश्वरैः ॥४०॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव ने मुनियों और श्रावको के सब ही व्रत एक-मात्र अहिंसा धर्म की ही सिद्धि के लिए बतलाये हैं।

जीवहिंसादिसकल्पैरात्मन्यपि हि दूषिते।
पाप भवति जीवस्य न पर परपीडनात् ॥४१॥

अर्थ—जीव के केवल दूसरे प्राणियो को कष्ट देने से ही पाप नही होता, बल्कि प्राणी की हिंसा आदि के विचारमात्र मे भी आत्मा के

दूषित होने पर वह पाप होता है।

द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभि ।
तद्भावना भवत्येव कर्मण क्षयकारणम् ॥४२॥

अर्थ—महात्मा पुरुषों को निरन्तर बारह अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन करना चाहिए। कारण यह है कि उनकी भावना (चिन्तन) कर्म के क्षय का कारण होती है।

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च ।
अन्यत्वमशुचित्व च तथैवास्रवसवरौ ॥४३॥
निर्जरा च तथा लोको बोधिदुर्लभधर्मता ।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपु गवै ॥४४॥

अर्थ—अध्रुव अर्थात् अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, उसी प्रकार आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्म ये जिनेन्द्र भगवान के द्वारा बारह अनुप्रेक्षायें कही गई हैं।

अध्रुवाणि समस्तानि शरीरादीनि देहिनाम् ।
तन्नाशेऽपि न कर्तव्य शोको दुष्कर्मकारणम् ॥४५॥

अर्थ—प्राणियो के शरीर आदि सब ही नश्वर हैं। इसलिए उक्त शरीर आदि के नष्ट हो जाने पर भी शोक नहीं करना चाहिए, क्योकि वह शोक पाप-बन्ध का कारण है। इस प्रकार से बार-बार विचार करने का नाम अनित्य भावना है।

व्याघ्रेणाघ्रातकायस्य मृगशावस्य निर्जने ।
यथा न शरणं जन्तो ससारे न तथापदि ॥४६॥

अर्थ—जिस प्रकार निर्जन वन मे सिह के द्वारा पकडे गये मृग के बच्चे की रक्षा करने वाला कोई नही है, उसी प्रकार आपत्ति (मरण आदि) के प्राप्त होने पर उससे जीव की रक्षा करने वाला भी ससार मे कोई नही है। इस प्रकार विचार करना अशरण भावना कही जाती है।

यत्सुख तत्सुखाभासं यद्दु:ख तत्सदाञ्जसा ।
भवे लोका सुख सत्य मोक्ष एव स साध्यताम् ॥४७॥

अर्थ—ससार मे जो सुख है वह सुख का आभास है—यथार्थ सुख नही है, परन्तु जो दु ख है वह वास्तविक है और सदा रहने वाला है। सच्चा सुख मोक्ष मे ही है। इसलिए हे भव्यजनो! उसे ही सिद्ध करना चाहिए। इस प्रकार ससार के स्वरूप का चिन्तन करना, यह ससार भावना है।

स्वजनो वा परो वापि नो कश्चित्परमार्थंत ।
केवल स्वार्जित कर्म जीवेनैकेन भुज्यते ॥४८॥

अर्थ—कोई भी प्राणी वास्तव मे न तो स्वजन (स्वकीय माता-पिता आदि) है और न पर भी है। जीव के द्वारा जो कर्म बांधा गया है उसको ही केवल भोगने वाला है। इस प्रकार वार-वार विचार करना इसे एकत्व भावना कहते है।

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनो ।
भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा ॥४९॥

अर्थ—जव दूध और पानी के समान एक ही स्थान मे रहने वाले शरीर और जीव मे भी भेद है तव प्रत्यक्ष मे ही अपने से भिन्न दिखने वाले स्त्री-पुत्र आदि के विपय मे भला क्या कहा जावे? अर्थात् वे तो जीव से भिन्न हैं ही। इस प्रकार विचार करने का नाम अन्यत्व भावना है।

तथाशुचिरय काय कृमिधातुमलान्वित ।
यथा तस्यैव सपर्कादन्यत्राप्यपवित्रता ॥५०॥

अर्थ—क्षुद्र कीडो, रस रुधिरादि धातुओं तथा मल से सयुक्त यह शरीर ऐसा अपवित्र है कि उसके ही सम्बन्ध से दूसरी (पुष्पमाला आदि) भी वस्तुएं अपवित्र हो जाती हैं। इस प्रकार से शरीर के स्वरूप का

विचार करना, यह अशुचि भावना है।

जीवपोतोभवाम्भोधौ मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान् ।
आस्रवति विनाशार्थं कर्माम्भ. सुचिर भ्रमात् ॥५१॥

अर्थ—ससार रूपी समुद्र मे मिथ्यात्वादि रूप छेदो से सयुक्त जीव रूपी नाव भ्रम (अज्ञान व परिभ्रमण) के कारण वहुत काल से आत्म-विनाश के लिए कर्म रूपी जल को ग्रहण करती है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार छिद्रयुक्त नाव घूमकर उक्त छिद्र के द्वारा जल को ग्रहण करती हुई अन्त मे समुद्र मे डूबकर अपने को नष्ट कर देती है उसी प्रकार यह जीव भी ससार मे परिभ्रमण करता हुआ मिथ्यात्वादि के द्वारा कर्मो का आस्रव करके इसी दु खमय ससार मे घूमता रहता है। तात्पर्य यह है कि दु ख का कारण यह कर्मों का आस्रव ही है, इसीलिए उसे छोड़ना चाहिए। इस प्रकार के विचार का नाम आस्रव भावना है।

कर्मास्रवनिरोधोऽत्र संवरो भवति ध्रुवम् ।
साक्षादेतदनुष्ठान मनोवाक्कायसवृति ॥५२॥

अर्थ—कर्मो के आस्रव को रोकना, यह निश्चय से सवर कहलाता है। इस सवर का साक्षात् अनुष्ठान मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति को रोक देना है।

विशेषार्थ—जिन मिथ्यात्व एव अविरति आदि परिणामो के द्वारा कर्म आते है उन्हे आस्रव तथा उनके निरोध को सवर कहा जाता है। आस्रव जहाँ ससार का कारण है वहाँ सवर मोक्ष का कारण है। इसीलिए आस्रव हेय और सवर उपादेय है। इस प्रकार सवर के स्वरूप का विचार करना, यह सवर भावना कही जाती है।

निर्जरा शातन प्रोक्ता पूर्वोपार्जितकर्मणाम् ।
तपोभिर्बहुभि· सा स्याद्वैराग्याश्रितचेष्टितैः ॥५३॥

अर्थ—पूर्व सचित कर्मों को धीरे-धीरे नष्ट करना, यह निर्जरा

कही गई है। वह वैराग्य के आलम्बन से प्रवृत्त होने वाले बहुत से तपों के द्वारा होती है। इस प्रकार निर्जरा के स्वरूप का विचार करना यह निर्जरा भावना है।

लोकः सर्वोऽपि सर्वत्र सापायस्थितिरध्रुवः ।
दुःखकारीति कर्तव्या मोक्ष एव मतिः सताम् ॥५४॥

अर्थ—यह सब लोक सर्वत्र विनाशयुक्त स्थिति से सहित, अनित्य तथा दुःखदायी है। इसीलिए विवेकी जनों की अपनी बुद्धि मोक्ष के विषय मे ही लगानी चाहिए।

विशेषार्थ—यह चौदह राजु ऊँचा लोक अनादि निधन है, इसका कोई कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है। जीव अपने कर्म के अनुसार इस लोक मे परिभ्रमण करता हुआ कभी नारकी, कभी तिर्यंच, कभी देव और कभी मनुष्य होता है। इसमें परिभ्रमण करते हुए जीव को कभी निराकुल सुख प्राप्त नहीं होता। वह निराकुल सुख मोक्ष प्राप्त होने पर ही उत्पन्न होता है। इसीलिए विवेकी जन को उक्त मोक्ष की प्राप्ति का ही प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार लोक के स्वभाव का विचार करना, यह लोक भावना कहलाती है।

रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः सातीव दुर्लभा ।
लब्धा कथं कथंचिच्चेत् कार्यो यत्नो महानिह ॥५५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय की प्राप्ति का नाम बोधि है। वह बहुत ही दुर्लभ है। यदि वह जिस किसी प्रकार से प्राप्त हो जाती है तो फिर उसके विषय में महान् प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार रत्नत्रय स्वरूप बोधि की प्राप्ति की दुर्लभता का विचार करना, यह बोधिदुर्लभ भावना है।

जिनधर्मो[illegible] सुदुर्लभो [illegible] ।
[illegible] ॥५६॥

अर्थ—अनादि [illegible] दुर्लभ [illegible]

गया है। उक्त धर्म को इस प्रकार से ग्रहण करना चाहिए कि वह साक्षात् मोक्ष के प्राप्त होने तक साथ मे ही जावे।

दु.खग्राहगणाकीर्णे ससारक्षारसागरे।
धर्मपोत पर प्राहुस्तारणार्थं मनीषिण ॥५७॥

अर्थ—विद्वान् पुरुष दु खरूपी हिंसक जलजन्तुओ के समूह से व्याप्त इस ससार रूपी खारे समुद्र मे उससे पार होने के लिए धर्म रूपी नाव को उत्कृष्ट बतलाते हैं। इस प्रकार धर्म के स्वरूप का विचार करना धर्म भावना कही जाती है।

अनुप्रेक्षा इमा सद्‌भि सर्वदा हृदये धृता.।
कुर्वते तत्पर पुण्य हेतुर्यत्स्वर्गमोक्षयो ॥५८॥

अर्थ—सज्जनो के द्वारा सदा हृदय मे धारण की गई ये बारह अनुप्रेक्षाये उस उत्कृष्ट पुण्य को देती हैं जो कि स्वर्ग और मोक्ष का कारण होता है।

आद्योत्तमक्षमा यत्र यो धर्मो दशभेदभाक्।
श्रावकैरपि सेव्योऽसौ यथाशक्ति यथागमम् ॥५९॥

अर्थ—जिस धर्म मे उत्तम क्षमा सबसे पहिले है तथा जो दस भेदो से सयुक्त है, श्रावको को भी अपनी शक्ति और आगम के अनुसार उस धर्म का सेवन करना चाहिए।

अन्तस्तत्वं विशुद्धात्मा बहिस्तत्व दयागिषु।
द्वयो सम्मिलने मोक्षस्तस्माद् द्वितयमाश्रयेत् ॥६०॥

अर्थ—आभ्यन्तर तत्व कर्म कलक से रहित विशुद्ध आत्मा तथा बाह्य तत्व प्राणियों के विषय मे दयाभाव है। इन दोनो के मिलने पर मोक्ष होता है। इसलिए इन दोनो का आश्रय करना चाहिए।

कर्मभ्य. कर्मकार्येभ्य पृथग्भूत चिदात्मकम्।
आत्मानं भावयेन्नित्य नित्यानन्दपदप्रदम् ॥६१॥

अर्थ—जो चैतन्य स्वरूप आत्मा कर्मों तथा उनके कार्यभूत रागादि विभावों और शरीर आदि से भिन्न है उस शाश्वतिक आनन्द स्वरूप पद को अर्थात् मोक्ष को प्रदान करने वाली आत्मा का सदा विचार करना चाहिए।

इत्युपासकसंस्कारः कृतः श्रीपद्मनन्दिना ।
येषामेतदनुष्ठानं तेषां धर्मोऽतिनिर्मल. ॥६२॥

अर्थ—इस प्रकार यह उपासक संस्कार अर्थात् श्रावक का चारित्र श्री पद्मनन्दी मुनि के द्वारा रचा गया है। जो जन इसका आचरण करते हैं उनके अत्यन्त निर्मल धर्म होता है।

देशव्रतोद्योतन

बाह्याभ्यन्तरसंगवर्जनतया ध्यानेन शुक्लेन यः ।
कृत्वा कर्मचतुष्टयक्षयमगात् सर्वज्ञतां निश्चितम् ॥
तेनोक्तानि वचांसि धर्मकथने सत्यानि नान्यानि तत् ।
भ्राम्यत्यत्र मतिस्तु यस्य स महापापी न भव्योऽथवा ॥१॥

अर्थ—जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह को छोड़ करके तथा शुक्ल ध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मों को नष्ट करके निश्चय से सर्वज्ञता को प्राप्त हो चुका है उसके द्वारा धर्म के व्याख्यान में कहे गये वचन सत्य हैं, इससे भिन्न राग द्वेष से दूषित हृदय वाले किसी अल्पज्ञ के वचन सत्य नहीं हैं। इसीलिए जिस जीव की बुद्धि उक्त सर्वज्ञ के वचनों में भ्रम को प्राप्त होती है वह अतिशय पापी है, अथवा वह भव्य नहीं है।

एकोऽप्यत्र करोति यः स्थितिमतिप्रीतः शुचौ दर्शने ।
स श्लाघ्यः खलु दुःखितोऽप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणभृत् ॥
अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैरत्यन्तदूरीकृत-
स्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैर्मिथ्यापथे प्रस्थितैः ॥२॥

अर्थ—एक भी जो भव्य प्राणी अत्यन्त प्रसन्नता से यहाँ निर्मल सम्यग्दर्शन के विषय मे स्थिति को करता हैं वह पाप कर्म के उदय से दुःखित होकर भी निश्चय से प्रशसनीय है। इसके विपरीत जो मिथ्या मार्ग मे प्रवृत्त होकर महान् सुख को प्रदान करने वाले मोक्ष के मार्ग से बहुत दूर हैं वे यदि सख्या मे अधिक तथा सुखी भी हो तो भी उनसे कुछ प्रयोजन नही है।

विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि यदि निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव एक भी हो तो वह प्रशसा के योग्य है। किन्तु मिथ्या मार्ग मे प्रवृत्त हुए प्राणी सख्या मे यदि अधिक भी हो तो भी वे प्रशसनीय नही है—निन्दनीय ही हैं। निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव का पाप कर्म के उदय से वर्तमान मे दुःखी रहना भी उतना हानिकारक नही है, जितना कि मिथ्यादृष्टि जीव का पुण्य कर्म के उदय से वर्तमान मे सुख मे स्थित रहना भी हानिकारक है।

बीज मोक्षतरोर्दृश भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिना ।
प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरल यत्नो विधेयो बुधै ॥
ससारे बहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृत ।
क्व प्राणी लभते महत्यपि गले काले हिता तामिह ॥३॥

अर्थ—जिन भगवान सम्यग्दर्शन को मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज तथा मिथ्यादर्शन को ससार रूपी वृक्ष का बीज बतलाते हैं। इसलिए उस सम्यग्दर्शन के प्राप्त हो जाने पर मोक्षाभिलाषी विद्वज्जनों को उसके सरक्षण आदि के विषय मे महान् प्रयत्न करना चाहिए। कारण यह है कि पाप कर्म से आच्छन्न होकर बहुत-सी (चौरासी लाख) योनियो के समूह से जटिल इस संसार में परिभ्रमण करने वाला प्राणी दीर्घ काल के बीतने पर भी हितकारक उस सम्यग्दर्शन को कहाँ मे प्राप्त कर सकता है। अर्थात् नही प्राप्त कर सकता है।

संप्राप्तेऽत्र भवे कथं कथमपि द्राघीयसानेहसा ।
मानुष्ये शुचिदर्शने च महतां कार्यं तपो मोक्षदम् ॥
नो चेल्लोकनिषेधतोऽथ महतो मोहादशक्तैरथो ।
संपद्येत न तत्तदा गृहवतां षट्कर्मयोग्यं व्रतम् ॥४॥

अर्थ—यहा ससार मे यदि किसी प्रकार से अतिशय दीर्घ काल मे मनुष्य भव और निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है तो फिर महापुरुष को मोक्षदायक तप का आचरण करना चाहिए । परन्तु यदि कुटुम्बी जनो आदि के रोकने से, महा मोह से अथवा अशक्ति के कारण वह तपश्चरण नही किया जा सकता है तो फिर गृहस्थ श्रावको के छह आवश्यक (देव पूजा आदि) क्रियाओ के योग्य व्रत का परिपालन तो करना ही चाहिए ।

दृढमूलव्रतमष्टधा तदनु च स्यात्पंचधाणुव्रतं ।
शीलास्त्र च गुणव्रतत्रयमत. शिक्षाश्चतस्र परा: ॥
रात्री भोजनवर्जनं शुचिपटात् पेय पय. शक्तितो ।
मौनादिव्रतमप्यनुष्ठितमिद पुण्याय भव्यात्मनाम् ॥५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन के साथ आठ मूलगुण, तत्पश्चात् पांच अणुव्रत, तथा तीन गुणव्रत एव चार शिक्षाव्रत इस प्रकार ये सात शीलव्रत, रात्रि मे भोजन का परित्याग, पवित्र वस्त्र से छाने गये जल का पीना तथा शक्ति के अनुसार मौनव्रत आदि यह सब आचरण भव्य जीवों के लिए पुण्य का कारण होता है ।

हन्ति स्थावरदेहिन स्वविपये सर्वा स्त्रसान् रक्षति ।
ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमवला शुद्धा निजा सेवते ॥
दिग्देशव्रतदण्डवर्जनमत. सामायिक प्रोषधं ।
दान भोगयुगप्रमाणमुररीकुर्याद्गृहीति व्रती ॥६॥

अर्थ—व्रती श्रावक अपने प्रयोजन के वश स्थावर प्राणियो का घात

धन का सदुपयोग । एक दानी महानुभाव का मन्दिर-निर्माण के लिये दान ।

करता हुआ भी सब त्रस जीवो की रक्षा करता है, सत्य वचन बोलता है, चौर्यवृत्ति (चोरी) का परित्याग करता है, सिर्फ अपनी ही स्त्री का सेवन करता है, दिग्व्रत और देशव्रत का पालन करता है, अनर्थदण्डो (पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दु श्रुति और प्रमादचर्या) का परित्याग करता है, तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, दान (अतिथिसविभाग) और भोगोपभोग परिमाण को स्वीकार करता है।

देवाराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु सत्-
पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं सजायमानेष्वपि ॥
संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत् ।
तद्देशव्रतधारिणो धनवतो दान प्रकृष्टो गुण: ॥७॥

अर्थ—देशव्रती धनवान श्रावक के प्रतिदिन उत्तम पुण्योपार्जन के कारणभूत देवाराधना एव जिनपूजनादि रूप बहुत कार्यों के होने पर भी ससार रूपी समुद्र के पार होने मे नौका का काम करने वाला जो सत्पात्र दान है वह उसका महान् गुण है। अभिप्राय यह है कि श्रावक के समस्त कार्यों में मुख्य कार्य सत्पात्रदान है।

सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्ष एव स्फुट ।
दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम् ॥
तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकै ।
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते ॥८॥

अर्थ—सब प्राणी सुख की ही इच्छा करते हैं, वह सुख स्पष्टतया मोक्ष मे ही है, वह मोक्ष सम्यग्दर्शनादि स्वरूप रत्नत्रय के होने पर ही सिद्ध होता है, वह रत्नत्रय दिगम्बर साधु के ही होता है, उक्त साधु की स्थिति शरीर के निमित्त से होती है, उस शरीर की स्थिति भोजन के निमित्त से होती है, और वह भोजन श्रावको के द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लेशयुक्त काल मे भी मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति प्राय. उन श्रावको के निमित्त से ही हो रही है।

स्वच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते ।
साधूना तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण संभाव्यते ॥
कुर्यादौपधपथ्यवारिभिरिदं चारित्रभारक्षम ।
यत्तास्मादिह वर्तते प्रशमिना धर्मो गृहस्थोत्तमात् ॥९॥

अर्थ—शरीर इच्छानुसार भोजन, गमन और संभापण से नीरोग रहता है। परन्तु इस प्रकार की इच्छानुसार प्रवृत्ति साधुओं के सम्भव नहीं है। इसलिए उनका शरीर प्राय अस्वस्थ हो जाता है। ऐसी अवस्था मे चूंकि श्रावक उस शरीर को औपध, पथ्य भोजन और बल के द्वारा व्रत परिपालन के योग्य करता है अतएव यहाँ उन मुनियो का धर्म उत्तम श्रावक के निमित्त से ही चलता है।

व्याख्यां पुस्तकदानमुन्नतधिया पाठाय भव्यात्मनां ।
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधा. ॥
सिद्धेऽस्मिन् जननान्तरेपु कतिषु त्रैलोक्यलोकोत्सव-
श्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत्कैवल्यभाजो जना. ॥१०॥

अर्थ—उन्नत बुद्धि के धारक भव्य जीवो को पढने के लिए जो भक्ति से पुस्तक का दान किया जाता है, अथवा उनके लिए तत्व का व्याख्यान किया जाता है, इसे विद्वज्जन श्रुतदान (ज्ञानदान) कहते हैं। इस ज्ञानदान के सिद्ध हो जाने पर कुछ थोडे से ही भवों में मनुष्य उस केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व साक्षात् देखा जाता है तथा जिसके प्रगट होने पर तीनों लोको के प्राणी उत्सव की शोभा करते हैं ॥१०॥

सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिना ।
दान स्यादभयादि तेन रहित दानत्रयं निष्फलम् ॥
आहारौपधशास्त्रदानविधिभि क्षुद्रोगजाड्याद्भयं ।
यत्तात्पात्रजने विनश्यति ततो दान तदेकं परम् ॥११॥

अर्थ—दयालु पुरुषो के द्वारा जो सब प्राणियों के लिए अभय दिया जाता है, अर्थात् उनके भय को दूर किया जाता है, वह अभयदान कहलाता है। उससे रहित शेष तीन प्रकार का दान व्यर्थ होता है। चूंकि आहार, औषध और शास्त्र के दान की विधि से पात्र जन का क्रम से क्षुधा का भय, रोग का भय और अज्ञानता का भय नष्ट होता है अतएव एक वह अभयदान ही श्रेष्ठ है।

भावार्थ—अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त चार दानो मे यह अभयदान मुख्य है। कारण कि शेष आहारादि दानों की सफलता इस अभय दान के ही ऊपर अवलबित है। इसके अतिरिक्त यदि विचार किया जाय तो वे आहारादि के दान स्वरूप शेष तीन दान भी इस अभयदान के ही अन्तर्गत हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि अभयदान का अर्थ है प्राणी के सब प्रकार के भय को दूर करके उसे निर्भय करना। सो आहार दान के द्वारा प्राणी की क्षुधा के भय को, औषधदान के द्वारा रोग के भय को, और शास्त्र दान के द्वारा उसकी अज्ञानता के भय को ही दूर किया जाता है॥११॥

आहारात् सुखितौषधादतितरा नीरोगता जायते।
शास्त्रात् पात्रनिवेदितात् परभवे पाण्डित्यमत्यद्भुतम्॥
एतत्सर्वगुणप्रभापरिकर. पुंसोऽभयाद्दानत।
पर्यन्ते पुनरुन्नतोन्नतपदप्राप्तिर्विमुक्तिस्तत.॥१२॥

अर्थ—पात्र के लिए दिये गये आहार के निमित्त से दूसरे जन्म मे सुख, औषध के निमित्त से अतिशय नीरोगता, और शास्त्र के निमित्त से आश्चर्यजनक विद्वत्ता प्राप्त होती है। सो अभयदान से पुरुष को इन सब ही गुणो का समुदाय प्राप्त होता है तथा अन्त मे उन्नत उन्नत पदो (इन्द्र एव चक्रवर्ती आदि) की प्राप्ति पूर्वक मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।

कृत्वा कार्यशतानि पापबहुलान्याश्रित्य खेदं परं ।
भ्रान्त्वा वारिधिमेखलां वसुमतीं दुःखेन यच्चार्जितम् ॥
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धनं प्रेयोऽस्य पन्थाः शुभो ।
दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्सद्गतिः ॥१३॥

अर्थ—जो धन अतिशय खेद का अनुभव करके, पाप प्रचुर सैकड़ों दुष्कार्यों को करके तथा समुद्र रूप करधनी से सहित अर्थात् समुद्र पर्यन्त पृथिवी का परिभ्रमण करके बहुत दुःख से कमाया गया है, वह धन मनुष्य को अपने पुत्र एव प्राणों से भी अधिक प्यारा होता है। इसके व्यय का उत्तम मार्ग दान है। इसलिए कष्ट से प्राप्त उस धन का दान करना चाहिए। इसके विपरीत दूसरे मार्ग (दुर्व्यसनादि) से अपव्यय किये जाने पर उसका सुयोग फिर से नहीं प्राप्त हो सकता है।

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्योतिका ।
सैव स्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वंसकृत् ॥
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते ।
तन्नाशाय शशाङ्कशुभ्रयशसे दानं च नान्यत्परम् ॥१४॥

अर्थ—दान के द्वारा ही गुणयुक्त गृहस्थाश्रम दोनो लोको को प्रकाशित करता है, अर्थात् जीव को दान के निमित्त से ही इस भव और परभव दोनो मे सुख प्राप्त होता है। इसके विपरीत उक्त दान के बिना धनवान मनुष्य का वह गृहस्थाश्रम दोनों लोकों को नष्ट कर देता है। सैकडों दुष्ट व्यापारो मे प्रवृत्त होने पर गृहस्थ के जो पाप उत्पन्न होता है उसको नष्ट करने का तथा चन्द्रमा के समान धवल यश की प्राप्ति का कारण वह दान ही है, उसको छोडकर पाप नाश और यश की प्राप्ति का और कोई दूसरा कारण नही हो सकता है।

पात्राणामुपयोगि यत्किल धनं तद्धीमतां मन्यते ।
येनानन्तगुणं परत्र सुखदं व्यावर्तते तत्पुनः ॥

यद्भोगाय गत पुनर्धनवतस्तन्नष्टमेव ध्रुव ।
सर्वासामिति सपदा गृहवता दाने प्रधान फलम् ॥१५॥

अर्थ—जो धन पात्रो के उपयोग मे आता है उसी को बुद्धिमान मनुष्य श्रेष्ठ मानते है, क्योकि, वह अनन्तगुणे सुख का देने वाला होकर परलोक मे फिर से भी प्राप्त हो जाता है । किन्तु इसके विपरीत जो धनवान का धन भोग के निमित से नष्ट होता है वह निश्चय से नष्ट ही हो जाता है, अर्थात् दानजनित पुण्य के अभाव मे वह फिर कभी नही प्राप्त होता । अतएव गृहस्थो को समस्त सम्पत्तियो के लाभ का उत्कृष्ट फल दान मे ही प्राप्त होता है ।

पुत्रे राज्यमशेषमर्थिषु धन दत्वाभय प्राणिषु ।
प्राप्ता नित्यसुखास्पद सुतपसा मोक्ष पुरा पार्थिवा ॥
मोक्षस्यापि भवेत्तत प्रथमतो दानं निदान बुधै ।
शक्त्या देयमिदं सदातिचपले द्रव्ये तथा जीविते ॥१६॥

अर्थ—पूर्व काल मे अनेक राजा पुत्र को समस्त राज्य देकर, याचक जनो को धन देकर, तथा प्राणियो को अभय देकर उत्कृष्ट तपश्चरण के द्वारा अविनश्वर सुख के स्थानभत मोक्ष को प्राप्त हुए है । इस प्रकार से वह दान मोक्ष का भी प्रधान कारण है । इसीलिए सम्पत्ति और जीवित के अतिशय चपल अर्थात् नश्वर होने पर विद्वान् पुरुषो को शक्ति के अनुसार सर्वदा उस दान को अवश्य देना चाहिए ।

ये मोक्ष प्रति नोद्यता सुनृभवे लब्धेऽपि दुर्बुद्धय ।
ते तिष्ठन्ति गृहे न दानमिह चेत्तन्मोहपाशो दृढ. ॥
मत्वेद गृहिणा यथर्द्धि विविध दान सदा दीयता ।
तत्ससारसरित्पतिप्रतरणे पोतायते निश्चितम् ॥१७॥

अर्थ—उत्तम मनुष्य भव को पा करके भी जो दुर्बुद्धि पुरुष मोक्ष के विषय मे उद्यम नही करते हैं वे यदि घर मे रहते हुए भी दान नही देते हैं तो उनके लिए वह घर मोह के द्वारा निर्मित्त दृढ जाल जैसा ही

है, ऐसा समझ कर गृहस्थ श्रावक को अपनी सम्पत्ति के अनुसार सर्वदा अनेक प्रकार का दान देना चाहिए। कारण यह कि वह दान निश्चय से संसार रूपी समुद्र के पार होने मे नाव का काम करने वाला है।

यैर्नित्य न विलोक्यते जिनपतिर्न स्मर्यते नार्च्यते।
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम्॥
सामर्थ्ये सति तद्गृहाश्रमपद पाषाणनावा समं।
तत्रस्था भवसागरेऽतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च॥१८॥

अर्थ—जो जन प्रतिदिन जिनेन्द्र देव का न तो दर्शन करते हैं, न स्मरण करते हैं, न पूजन करते हैं, न स्तुति करते हैं, और न समर्थ होकर भी भक्ति से मुनिजन के लिए उत्तम दान ही देते हैं, उनका गृहस्थाश्रम पद पत्थर की नाव के समान है। उसके ऊपर स्थित होकर वे मनुष्य अत्यन्त भयानक ससार रूपी समुद्र मे गोता खाते हुए नष्ट ही होने वाले हैं।

चिन्तारत्नसुरद्रुकामसुरभिस्पर्शोपलाद्या भुवि।
ख्याता एव परोपकारकरणे दृष्टा न ते केनचित्॥
तैरत्रोपकृतं न केषुचिदपि प्रायो न सभाव्यते।
तत्कार्याणि पुन. सदैव विदधद्दाता परं दृश्यते॥१९॥

अर्थ—चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु और पारस पत्थर आदि पृथ्वी पर परोपकार के करने में केवल प्रसिद्ध हा हैं। उनको न तो किसी ने परोपकार करते हुए देखा है और न उन्होंने यहाँ किसी का उपकार किया ही है, तथा वैसी सम्भावना भी प्रायः नहीं है। परन्तु उनके कार्यों (परोपकारादि) को सदा ही करता हुआ केवल दाता श्रावक अवश्य देखा जाता है। तात्पर्य यह है कि दानी मनुष्य उन प्रसिद्ध चिन्तामणि आदि से भी अतिशय श्रेष्ठ है।

यत्र श्रावकलोक एष वसति स्यात्तत्र चैत्यालयो ।
यस्मिन् सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैर्वर्तते ॥
धर्मे सत्यघसञ्चयो विघटते स्वर्गापवर्गाश्रिय ।
सौख्यं भावि नृणा ततो गुणवता स्यु श्रावका: संमता ॥२०॥

अर्थ—जिस गांव मे श्रावक जन रहते हैं वहां चैत्यालय होता है और जहां पर चैत्यालय है वहां पर मुनिजन रहते हैं, उन मुनियो के द्वारा धर्म की प्रवृत्ति होती है, तथा धर्म के होने पर पाप के समूह का नाश होकर स्वर्ग मोक्ष का सुख प्राप्त होता है । इसलिए गुणवान मनुष्यों को श्रावक अभीष्ट हैं ।

भावार्थ—अभिप्राय यह है कि जिन जिनभवनो मे स्थित होकर मुनिजन स्वर्ग मोक्ष के साधनभूत धर्म का प्रचार करते हैं वे जिनभवन श्रावको के द्वारा ही निर्मापित कराये जाते हैं । अतएव जब वे श्रावक ही परम्परा से उस सुख के साधन हैं तब गुणी जनो को उन श्रावको का यथायोग्य सन्मान करना चाहिए ।

काले दु खमसज्ञके जिनपतेर्धर्मे गते क्षीणता ।
तुच्छे सामयिके जने वहुतरे मिथ्यान्धकारे सति ॥
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो य· सोऽपि नो दृश्यते ।
यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्य. स वन्द्य सताम् ॥२१॥

अर्थ—इस दुखमा नाम के पचम काल मे जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्ररूपित धर्म क्षीण हो चुका है । इसमे जैनागम अथवा जैनधर्म का आश्रय लेने वाले जन थोडे और अज्ञान रूप अन्धकार का प्रचार वहुत अधिक है । ऐसी अवस्था मे जो मनुष्य जिन प्रतिमा और जिनगृह के विषय मे भक्ति रखता हो वह भी नही देखने मे आता । फिर भी जो भव्य विधि पूर्वक उक्त जिन प्रतिमा और जिन गृह का निर्माण करता है वह सज्जन पुरुषो द्वारा वन्दनीय है ।

विम्वादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या ।
येकारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च ॥
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता ।
स्तोतु परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ॥२२॥

अर्थ—जो भव्य जीव भक्ति से कुंदुरु के पत्ते के बराबर जिनालय तथा जौ के बराबर जिनप्रतिमा का निर्माण कराते हैं उनके पुण्य का वर्णन करने के लिए यहाँ वाणी (सरस्वती) भी समर्थ नही है। फिर भी जो भव्य जीव उन (जिनालय एवं जिनप्रतिमा) दोनो का ही निर्माण कराता है उसके विषय मे क्या कहा जाय ? अर्थात् वह तो अतिशय पुण्यशाली ही है।

विशेषार्थ—इसका अभिप्राय यह है कि जो भव्य प्राणी छोटे से छोटे भी जिनमन्दिर का अथवा जिनप्रतिमा का निर्माण कराता है वह बहुत ही पुण्यशाली होता है। फिर जो भव्य प्राणी विशाल जिनभवन का निर्माण कराकर उसमे मनोहर जिनप्रतिमा को प्रतिष्ठित कराता है उसको तो निःसन्देह अपरिमित पुण्य का लाभ होने वाला है।

यात्राभि. स्नपनैर्महोत्सवशतैः पूजाभिरुल्लोचकै. ।
नैवेद्यैर्वलिभिर्ध्वजैश्च कलशैस्तूर्यत्रिकैर्जागरै ॥
घण्टाचामरदर्पणादिभिरपि प्रस्तार्य शोभा परां ।
भव्याः पुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये ॥२३॥

अर्थ—संसार मे चैत्यालय के होने पर अनेक भव्य जीव यात्राओ (जलयात्रा आदि) अभिषेकों, सैकड़ो महान् उत्सवो, अनेक प्रकार के पूजाविधानो, चन्दोवो, नैवेद्यो, अन्य उपहारो ध्वजाओ, कलशों, तौर्यत्रिको (गीत, नृत्य, वादित्र), जागरणो तथा घण्टा, चामर और दर्पणादिकों के द्वारा उत्कृष्ट शोभा का विस्तार करके निरन्तर पुण्य का उपार्जन करते है।

ते चाणुव्रतधारिणोऽपि नियत यान्त्येव देवालय ।
तिष्ठन्त्येव महर्द्धिकामरपद तत्रैव लब्ध्वा चिरम् ॥
अत्रागत्य पुन. कुलेऽतिमहति प्राप्य प्रकृष्ट शुभा- ।
न्मानुष्यं च विरागता च सकलत्याग च मुक्तास्तत ॥२४॥

अर्थ—वे भव्य जीव यदि अणुव्रतो के भी धारक हो तो भी मरने के पश्चात् स्वर्ग लोक को ही जाते हैं और अणिमा आदि ऋद्धियो से सयुक्त देवपद को प्राप्त करके चिरकाल तक वहा (स्वर्ग मे) ही रहते हैं। तत्पश्चात् महान् पुण्य कर्म के उदय से मनुष्य लोक में आकर और अतिशय प्रशसनाय कुल मे उत्तम मनुष्य होकर वैराग्य को प्राप्त होते हुए वे समस्त परिग्रह को छोड़कर मुनि हो जाते हैं तथा इस क्रम से वे अन्त मे मुक्ति को भी प्राप्त कर लेते हैं।

पुंसोऽर्थेपु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्ष पर सत्सुख ।
शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरत ॥
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो संमत ।
यो भोगादिनिमित्तमेव स पुन पाप बुधैर्मन्यते ॥२५॥

अर्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थो मे केवल मोक्ष पुरुषार्थ ही समीचीन (बाधा रहित) सुख से युक्त होकर सदा स्थिर रहने वाला है। शेष तीन पुरुषार्थ उससे विपरीत (अस्थिर) स्वभाव वाले हैं। अतएव वे मुमुक्षु जन के लिए छोडने के योग्य हैं। इसीलिए जो धर्म पुरुषार्थ उपर्युक्त मोक्ष पुरुषार्थ का साधक होता है वह भी हमे अभीष्ट है, किन्तु जो धर्म केवल भोगादि का ही कारण होता है उसे विद्वज्जन पाप ही समझते हैं।

भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभि साध्योऽत्र मोक्ष पर ।
नान्यत्किचिदिहैव निश्चयनयाज्जीव सुखी जायते ॥
सर्वं तु व्रतजातमीदृशधिया साफल्यमेत्यन्यथा ।
ससाराश्रयकारण भवति यत्तद्दु खमेव स्फुटम् ॥२६॥

अर्थ—भव्य जीवो को अणुव्रतों अथवा महाव्रतों के द्वारा यहां पर केवल मोक्ष ही सिद्ध करने के योग्य है, अन्य कुछ भी सिद्ध करने के योग्य नहीं है। कारण यह है कि निश्चय नय से जीव उस मोक्ष मे ही स्थित होकर सुखी होता है। इसीलिए इस प्रकार की बुद्धि से जो सब व्रतो का परिपालन किया जाता है वह सफलता को प्राप्त होता है तथा इसके विपरीत वह केवल उस ससार का कारण होता है जो प्रत्यक्ष मे ही दुःखस्वरूप है।

यत्कल्याणपरपरार्पणपरं भव्यात्मना ससृतौ।
पर्यन्ते यदनन्तसौख्यसदनं मोक्षं ददाति ध्रुवम् ॥
तज्जीयादतिदुर्लभं सुनरतामुख्यैर्गुणै. प्रापितं।
श्रीमत्पकजनन्दिभिर्विरचितं देशव्रतोद्योतनम् ॥२७॥

अर्थ—श्रीमान् पद्मनन्दी मुनि के द्वारा रचा गया जो देशव्रतोद्योतन प्रकरण ससार मे भव्य जीवों के लिए कल्याण परम्परा के देने मे तत्पर है, अन्त मे जो निश्चय से अनन्त सुख के स्थानभूत मोक्ष को देता है, तथा जो उत्तम मनुष्य पर्याय आदि गुणो से प्राप्त कराया जाने वाला है, ऐसा वह दुर्लभ देशव्रतोद्योतन जयवन्त होवे।

इस प्रकरण में सामान्य रीति से अणुव्रत का और श्रावक धर्म का विवेचन किया गया है। क्योंकि आजकल बहुत से लोग क्रियाकाण्ड मे वंचित रहते हैं क्योंकि गृहस्थ के धार्मिक संस्कार छूट जाने के कारण आजकल हमारी परिणति धर्म के प्रति बहुत कम होती जा रही है। इसका कारण यह है कि परम्परया उपासका अध्ययन की परिपाटी छूटने के कारण केवल भावना के ऊपर सभी निर्भर है। इस प्रकार भावना में भी शंका पैदा हो जाती है कि इस कलिकाल मे केवली भगवान साक्षात् है ही नहीं। तब किसकी पूजा करें, किन पर श्रद्धा करें। ऐसी अनेक शंकाएँ होने से इन शंकाओं को दूर करने के लिए पद्मनन्दि आचार्य ने अपनी पंचविंशति में इस प्रकार खुलासा किया है कि—

संप्रत्यस्ति न केवली किल किलौ त्रैलोक्यचूडामणि. ।
तद्वाच: परमासते ऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिका ।।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासा समालम्बन ।
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमत साक्षाज्जिन पूजित ।।

अर्थ—इस समय इस कलिकाल (पचम काल) मे भरत क्षेत्र के भीतर यद्यपि तीनो लोको मे श्रेष्ठभूत केवली भगवान् विराजमान नही हैं फिर भी लोक को प्रकाशित करने वाले उनके वचन तो यहा विद्यमान हैं ही और उन वचनो के आश्रयभूत सम्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्-चारित्र रूप उत्तम रत्नत्रय के धारी श्रेष्ठ मुनिराज हैं। इसीलिए उक्त मुनियो की पूजा वास्तव मे जिन वचनो की ही पूजा है, और इससे प्रत्यक्ष मे जिन भगवान् की ही पूजा की गई है, ऐसा समझना चाहिए।

विशेषार्थ—इस पचम काल मे भरत और ऐरावत क्षेत्रों के भीतर साक्षात् केवली नही पाये जाते हैं, फिर भी जनो के अज्ञानान्धकार को हरने वाले उनके वचन (जिनागम) परम्परा से प्राप्त हैं ही। चूंकि उन वचनो के ज्ञाता श्रेष्ठ मुनिराज ही है अतएव वे पूजनीय हैं। इस प्रकार से की गई उक्त मुनियो की पूजा से जिनागम की पूजा और इससे साक्षात् जिन भगवान् की ही की गई पूजा समझना चाहिए।

स्पृष्टा यत्र मही तदङ्घ्रिकमलैस्तत्रैति सत्तीर्थता ।
तेभ्यस्तेऽपि सुरा' कृताञ्जलिपुटा नित्य नमस्कुर्वते ।।
तन्नामस्मृतिमात्रतोऽपि जनता निष्कल्मषा जायते ।
ये जैना यतयश्चिदात्मनि पर स्नेहं समातन्वते ।।

अर्थ—जो जैनमुनि ज्ञान-दर्शन-स्वरूप चैतन्यमय आत्मा मे उत्कृष्ट स्नेह को करते हैं उनके चरण कमलो के द्वारा जहाँ पृथिवी का स्पर्श किया जाता है वहाँ की वह पृथ्वी उत्तम तीर्थ बन जाती है, उनके लिए दोनों हाथों को जोड़कर वे देव भी नित्य नमस्कार करते है, तथा

उनके नाम के स्मरण मात्र से ही जनसमूह पाप से रहित हो जाता है।

सम्यग्दर्शनवोधवृत्तनिचित शान्त शिवैपी मुनि-
र्मन्दै स्यादवधीरितोऽपि विशद साम्यं यदालम्वते।
आत्मा तैर्विहतो यदत्र विपमध्वान्तश्रिते निश्चित।
मपातो भवितोग्रदु खनरके तेपामकल्याणिनाम् ॥७०॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र से सम्पन्न, शान्त और आत्मकल्याण (मोक्ष) का अभिलापी मुनि अज्ञानी जनो के द्वारा तिरस्कृत होकर भी चूकि समता (वीतरागता) का ही सहारा लेता है अतएव वह तो निर्मल ही रहता है। किन्तु वैसा करने से वे अज्ञानी जन ही अपनी आत्मा का घात करते हैं, क्योंकि, कल्याण मार्ग से भ्रष्ट हुए उन अज्ञानियो का गाढ अन्धकार से व्याप्त एव तीव्र दु खो से सयुक्त ऐसे नरक मे नियम से पतन होगा।

मानुष्य प्राप्य पुण्यात्प्रशममुपगमा रोगवद्भोगजात।
मत्वा गत्वा वनान्त दृगि विदि चरणे ये स्थिता. संगमुक्ता.॥
क स्तोता वाक्पथातिक्रमणपटुगुणैरञ्चितानां मुनीना।
स्तोतव्यास्ते महद्भिर्भुवि य इह तदङ्घ्रिद्वये भक्तिभाज ॥७१॥

अर्थ—जो मुनि पुण्य के प्रभाव से मनुष्य भव को पाकर शान्ति प्राप्त होते हुए इन्द्रिय जनित भोग समूह को रोग के समान कष्टदायक समझ लेते हैं और इसीलिए जो गृह से वन के मध्य मे जाकर समस्त परिग्रह से रहित होते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र मे स्थित हो जाते हैं, वचन के अगोचर ऐसे उत्तमोत्तम गुणो के आश्रयभूत उन मुनियो की स्तुति करने मे कौन-सा स्तोता समर्थ है? कोई भी नही। जो जन उक्त मुनियो के दोनो चरणो मे अनुराग करते हैं वें यहाँ पृथ्वी पर महापुरुषो के द्वारा स्तुति करने के योग्य हैं।

तत्त्वार्थाप्ततपोभृता यतिवरा: श्रद्धानमाहुर्दृग।
ज्ञान जानदनूनमप्रतिहतं स्वार्थविसदेहवत् ॥

चारित्र विरतिः प्रमादविलसत्कर्मास्रवाद्योगिना ।
एतन्मुक्तिपथस्त्रयं च परमो धर्मो भवच्छेदक ॥७२॥

अर्थ—इस प्रकार मुनि के आचार धर्म का निरूपण हुआ। सात तत्व, देव और गुरु का श्रद्धान करना, इसे मुनियो में श्रेष्ठ गणधर आदि सम्यग्दर्शन कहते हैं। स्व और पर पदार्थ दोनो को न्यूनता, बाधा एव सन्देह से रहित होकर जो जानना है इसे ज्ञान कहा जाता है। योगियो का प्रमाद से होने वाले कर्मास्रव से रहित हो जाने का नाम चारित्र है। ये तीनो मोक्ष के मार्ग हैं। इन्ही तीनो को ही उत्तम धर्म कहा जाता है जो ससार का विनाशक होता है।

हृदयभुवि दृगेक वीजमुप्त त्वशका
प्रभृतिगुणसदम्भः सारणी सिक्तमुचै ।
भवदवममशाखश्चारुचारित्रपुष्प-
स्तरुरमृतफलेन प्रीणय त्याशु भव्यम् ॥

अर्थ—हृदय रूपी पृथ्वी मे बोया गया एक सम्यग्दर्शन रूपी बीज नि शकित आदि आठ अ ग स्वरूप उत्तम जल से परिपूर्ण क्षुद्र नदी के द्वारा अतिशय सीचा जाकर उत्पन्न हुई सम्यग्ज्ञान रूपी शाखाओ और मनोहर सम्यक्चारित्र रूपी पुष्पो से सम्पन्न होता हुआ वृक्ष के रूप मे परिणत होता है, जो भव्य जीव को शीघ्र ही मोक्ष रूपी फल को देकर प्रसन्न करता है।

दृगवगमचरित्रालकृत सिद्धिपात्र
लघुरपि न गुरु स्यादन्यथात्वे कदाचित् ।
स्फुटमवगतमार्गो याति मन्दोऽपि गच्छ
न्नभिमतपदमन्यो नैव तूर्णोऽपि जन्तु ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से विभूषित पुरुष यदि तप आदि अन्य गुणों में मन्द भी हो तो भी वह सिद्धि का पात्र है,

अर्थात् उसे सिद्धि प्राप्त होती है। किन्तु इसके विपरीत यदि रत्नत्रय से रहित पुरुष अन्य गुणों मे महान् भी हो तो भी वह कभी भी सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता है। ठीक ही है—स्पष्टतया मार्ग से परिचित व्यक्ति यदि चलने मे मन्द भी हो तो भी वह धीरे धीरे चलकर अभीष्ट स्थान में पहुँच जाता है। किन्तु इसके विपरीत जो अन्य व्यक्ति मार्ग से अपरिचित है वह चलने मे शीघ्रगामी होकर भी अभीष्ट स्थान को नहीं प्राप्त हो सकता है।

वनशिखिनि मृतोऽन्ध संचरन् बाढमङ्घ्रि-
द्वितयविकलमूर्तिर्वीक्षमाणोऽपि खज. ।
अपि सनयनपादोऽश्रद्दधानश्च तस्माद्
दृगवगमचरित्रै. संयुतैरेव सिद्धि ॥

अर्थ—दावानल से जलते हुए वन मे शीघ्र गमन करने वाला अन्धा मर जाता है, इसी प्रकार दोनो पैरों से रहित शरीरवाला लगड़ा मनुष्य दावानल को देखता हुआ भी चलने में असमर्थ होने से जलकर मर जाता है, तथा अग्नि का विश्वास न करने वाला मनुष्य भी नेत्र एव पैरो से सयुक्त होकर भी उक्त दावानल मे भस्म हो जाता है। इसीलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनो की एकता को प्राप्त होने पर ही उनसे सिद्धि प्राप्त होती है, ऐसा निश्चित समझना चाहिए।

विशेषार्थ—जिस प्रकार उक्त तीनो मनुष्यों मे एक व्यक्ति तो आंखो से अग्नि को देखकर और भोगने मे समर्थ होकर भी केवल अविश्वास के कारण मरता है, दूसरा (अन्धा) व्यक्ति अग्नि का परिज्ञान न हो सकने से मृत्यु को प्राप्त होता है, तथा तीसरा (लंगड़ा) व्यक्ति अग्नि पर भरोसा रखकर और उसे जानकर भी चलने मे असमर्थ होने से ही मृत्यु के मुख मे प्रविष्ट होता है। उसी प्रकार ज्ञान और चारित्र से रहित जो प्राणी तत्वार्थ का केवल श्रद्धान करता है,

श्रद्धान और आचरण से रहित जिसको एकमात्र तत्वार्थ का परिज्ञान ही है, अथवा श्रद्धा और ज्ञान से रहित जो जीव केवल चारित्र का ही परिपालन करता है, इन तीनो मे से किसी को भी मुक्ति नही प्राप्त हो सकती। वह तो इन तीनो की एकता मे ही प्राप्त हो सकती है।

वहुभिरपि किमन्यै प्रस्तरै रत्नसज्ञैर्व-
पुषि जनितखेदैर्भारकारित्वयोगात् ।
हृतदुरिततमोभिश्चारुरत्नैरनर्घ्यै-
स्त्रिभिरपि कुरुतात्मालकृतिं दर्शनाद्यै ॥

अर्थ—रत्न सज्ञा को धारण करने वाले अन्य वहुत से पत्थरो से क्या लाभ है ? कारण कि भारयुक्त होने से उनके द्वारा केवल शरीर में खेद ही उत्पन्न होता है। इसलिए पाप रूप अन्धकार को नष्ट करने वाले सम्यग्दर्शनादि रूप अमूल्य तीनो ही सुन्दर रत्नो से अपनी आत्मा को विभूषित करना चाहिए।

जयति सुखनिधान मोक्षवृक्षैकबीज ।
सकलमलविमुक्त दर्शन यद्विना स्यात् ॥
मतिरपि कुमतिर्नु दुश्चरित्र चरित्र ।
भवति मनुजजन्म प्राप्तमप्राप्तमेव ॥७७॥

अर्थ—जिस सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र हुआ करता है वह सुख का स्थानभूत, मोक्ष रूपी वृक्ष का वीज स्वरूप तथा समस्त दोषो से रहित सम्यग्दर्शन जयवन्त होता है। उक्त सम्यग्दर्शन के विना प्राप्त हुआ मनुष्य जन्म भी अप्राप्त हुए के ही समान होता है (कारण कि मनुष्य जन्म की सफलता सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे ही हो सकती है, सो उसे प्राप्त किया नही है।

भवभुजगनागदमनी दु खमहादावशमनजलवृष्टिः ।
मुक्तिसुखामृतसरसी जयति दृगादित्रयी सम्यक् ॥७८॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्न ससार रूपी सर्प का दमन करने के लिए नागदमनी के समान हैं, दुःख रूपी दावानल को शान्त करने के लिए जलवृष्टि के समान हैं, तथा मोक्ष सुख रूप अमृत के तालाव के समान हैं, वे सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्न भले प्रकार जयवन्त होते हैं।

जैन सिद्धान्त में तीर्थंकर भगवान को देव कहा है। उनका जन्म क्षत्रियो के कुल मे होता है। और उनके माता-पिता के शरीर मल-मूत्र आदि से रहित रहते हैं। उनकी माता रजस्वला अर्थात् मासिक धर्म से रहित रहती हैं। कर्मभूमि सम्बन्धी स्त्री के एक ही पुत्र उत्पन्न होता है। उसके पीछे और कोई पुत्र उन माता के नहीं होता है। पुन उनके गर्भ में आने के ६ माह पूर्व भी और नव मास गर्भ मे रहने तक भी अर्थात् कुल १५ माह तक तीन वार १०॥ करोड रत्नों की वर्षा होती है। इसलिए तीन काल मे १०॥ करोड रत्नों की वर्षा होती है। ऐसी रत्न की वर्षा होने के पश्चात् तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भगवान् का जन्म होता है। जन्म के जो अतिशय होते हैं, वे इस प्रकार हैं— भगवान के शरीर मे पसीना नहीं आता। पुन भगवान के शरीर मे किसी प्रकार का मल-मूत्र नही होता तथा उनके नेत्र, कर्ण, जीभ, दात आदि मे किंचित मात्र भी मल नहीं रहता। यानी उनका शरीर सर्वथा परम निर्मल देदीप्यमान रहता है। उनके नख और केश भी इस प्रकार बढ़े नहीं होते जो कि कैंची या कतरनी से काटे जायें। यानी वे यथा-सम्भव जैसा चाहिए, उसी अवस्था में समान रहते हैं। उनके मुख मे दाढी मूंछ का सर्वथा ही अभाव रहता है। भगवान् के शरीर मे अत्यन्त सुगन्धि सदा वनी रहती है। उनके शरीर मे १००८ शुभ लक्षण होते हैं। उनका शरीर सम चतुरस्र संस्थान अर्थात् परम सुन्दर

आकार का रहता है और उसमे वज्र वृषभ नाराच सहनन, जो कि उत्तम महनन कहा गया है, मदा विद्यमान रहता है । उनका वचन परम मिष्ट हितमित होता है । भगवान के शरीर मे तीन लोक का वल रहता है ।

भावार्थ—भगवान के शरीर मे पसीना का अभाव, नीहार का अभाव रहता है, उनका शरीर सुगन्धमय १००८ लक्षणो सहित रहता है । उनके रुधिर का वर्ण क्षीर के समान श्वेत रहता है । उनमे सम-चतुरस्नमस्थान, वज्र वृषभ नाराच सहनन अत्यन्त सौन्दर्य, महा मिष्ट वचन, अतुल वल, यह दस अतिशय भगवान को जन्म होते ही प्रकट होते हैं ।

आगे केवलज्ञान के दस अतिशयों को कहते हैं—

भगवान को केवलज्ञान होते ही सर्व प्रथम दो योजन पर्यन्त दुर्भिक्ष (अकाल) नही पडता । केवली भगवान पृथ्वी के समान ऊपर आकाश मार्ग मे गमन करते हैं किन्तु उनके शरीर से किसी जीव को कोई वाधा नही पहुँचती । केवली भगवान को किसी प्रकार का उपसर्ग नही होता । केवली भगवान कवलाहार नही ग्रहण करते, क्योकि भोजन की इच्छा तो मोहनीय कर्म के उदय से होती है, किन्तु भगवान के मोहनीय कर्म का नाश हो जाने से अनन्त सुख प्रकट हो जाता है । इससे केवली भगवान को आहार का अभाव होता है । केवली भगवान समस्त विद्या के ईश्वर यानी स्वामी हैं । भगवान चतुर्मुखी कहलाते हैं । यद्यपि उनका मुख पूर्व दिशा या उत्तर दिशा इन दिशाओ की ओर रहता है, तथापि केवलज्ञान के अतिशय से १२ सभाओ के जितने भी जीव रहते हैं, उन सभी जीवों को चारो ओर से भगवान का मुख दिखाई देता है, अत चारो दिशाओ के जीव इस प्रकार समझते हैं कि भगवान का मुख तो हमारी तरफ है इसलिए ही वह चतुर्मुख कहलाते हैं । केवली भगवान के शरीर की छाया नही पडती । भगवान के नेत्रो की पलकें नहीं लगतीं । केवली भगवान के नख एव केश नही वढते । उनका

शरीर परम औदारिक निगोद जीवो से रहित रहता है, इसीलिए वे परमौदारिक कहे गये हैं।

इस प्रकार दस अतिशयों का वर्णन किया गया। आगे देवकृत चौदह अतिशयो को कहते हैं।

भगवान की दिव्य-ध्वनि सर्व प्रथम अर्धमागधी भाषा मे खिरती है। जिसे मण्डप के मध्य में विराजित समस्त द्वादश सभाओ के जीव अपनी भाषा मे भली-भाति समझ लेते हैं। यहा पर मागध का अर्थ देव है। उसमे बारह सभाओ के समस्त जीव भगवान की वाणी को एक योजन की दूरी तक अपनी-अपनी भाषाओ मे समझते रहते हैं ? इसलिए यह दिव्य ध्वनि देवकृत अतिशय समझनी चाहिए । इस प्रकार के जितने अतिशय हैं सभी देवकृत हैं। यहा पर इस प्रकार की शका नही करनी चाहिए कि जब यह समस्त अतिशय देवकृत हैं तो भगवान के गुणों की आच्छादना हुई। क्योंकि यह सारे अतिशय भगवान की महिमा के ही हैं। जिस प्रकार अक्षर के बिना शब्द का अर्थ नही होता, उसी प्रकार भगवान के प्रभाव से देव अतिशय को प्रकट करते हैं यानी भगवान के प्रभाव बिना अतिशय नहीं होता।

भावार्थ—उपर्युक्त समस्त अतिशय भगवान के ही हैं, किन्तु इन्हे देव अपनी भक्ति के वश प्रकट करते हैं। इसी आशय से इन अतिशयो को देवकृत अतिशय भी कहा गया है, और ऐसा कहने में यहा किसी प्रकार का विरोध भी नहीं उत्पन्न होता। भगवान की दिव्य ध्वनि मेघ के समान खिरती है। जैसे मेघ का जल सर्वत्र एकसार बरसता है, किन्तु विभिन्न भाति के वृक्षो मे अनेक रूप प्रकट होता है। अर्थात् जैसे मेघ का जल वृक्ष का निमित्त पाकर अनेक भेद रूप परिणमन करता है, वैसे ही अक्षर रहित (निरक्षरी) भगवान की वाणी श्रावको की विशेष तथा अल्प योग्यता के अनुसार अनेक प्रकार से प्रकट होती है। इस प्रकार समस्त जीव पृथक्-पृथक् भाषा में भगवान के उपदेश को धारण करते हैं। अथवा जिस प्रकार स्फटिक मणि का स्वरूप

एक ही है, किन्तु सान्निध्य मे ससार की जितनी रग-बिरगी वस्तुएँ पहुँच जाती हैं, वे सब उसी स्फटिक मणि के समान प्रतीत होने लगती हैं, उसी प्रकार भगवान की वीतराग वाणी भी एकरूप है किन्तु श्रोताओ के अनेक स्वरूप होने पर भी उसके निकट जो लोग रहते हैं उन्हें एक समान मालूम होती है। भगवान की दिव्य वाणी को—देव (१) मनुष्य (२) तथा तिर्यंच (३) ये समस्त जीव अपनी भाषा मे समझते हैं, इसी प्रकार अर्धमागधी भाषा का स्वरूप जानना चाहिए।

भगवान के समवशरण मे किसी भी जीव को किसी प्रकार का वैर-भाव नही होता। वहा पर सिंह-गाय, मोर-सर्प, मूसा-बिल्ली आदि जाति-विरोधी जीव अपने-अपने वैर भाव को छोडकर परस्पर मे मैत्री-भाव रखने हैं। जिस समय भगवान विहार करते हैं, उस समय समवशरण के नीचे की पृथ्वी को देव आरसी यानी दर्पण के समान परम निर्मल कर देते है। जहाँ पर भगवान का समवशरण विराजता है अथवा जिस मार्ग से विहार करते हैं, उस मार्ग के दोनो तरफ ६ ऋतुओ के फल-फूल लगे रहते है। अर्थात् वहाँ पर षट् ऋतु-वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर इन ६ ऋतुओ के फल फूल सदा लगे रहते है। सब ऋतुओ के फल फूल भगवान के अतिशय के प्रताप से एक काल में प्रकट हो जाते हैं। अनुकूल पवन का गमन अर्थात् पवन कुमार जाति के देव भगवान के समवशरण मे तथा विहार के समय ऐसी मन्द सुगन्ध पवन चलाते हैं, जो भगवान के सन्मुख नही आती है। जहाँ-जहाँ भगवान गमन करते हैं, वहाँ-वहाँ पवन भी उनके पीछे ही चली आती है। सर्व जीवो को सुख की प्राप्ति का होना कहा है। भगवान के समवशरण मे कोई भी जीव दुखी नही रहता है और वहाँ अन्धा पुरुष जाते ही देखने लगता है, लगडा पुरुष चलने लगता है, बहरा सुनने लगता है तथा वहाँ क्षुधा नही लगती, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि चार कषायें उत्पन्न नही होतीं तथा वहा खासी, श्वास इत्यादिक रोगो की वेदना

भी नही होती है। वहाँ जाने वाले जीव सभी उग्र वेदना से रहित होते हैं, उनके शरीर मे कोई रोग नही रहता है । वहाँ शोक, चिन्ता इत्यादिक भय आदि नहीं रहता है । इसलिए उस समवशरण मे समस्त जीवो को सुख की प्राप्ति होती है। वहाँ की भूमि कंकड से रहित होती है। अर्थात् जहाँ-जहाँ भगवान विहार करते हैं वहाँ वहाँ की भूमि अच्छी तरह साफ रहती है, उसमें काटे आदि नही रहते। उस भूमि को पवन कुमार जाति के देव समवशरण के नीचे एक योजन अर्थात् चार कोस लम्बी उसके आधा योजन प्रमाण, दो कोस चौडी जमीन को तृण रहित रत्नमय मार्ग बना देते हैं । उसके दोनों तरफ एक-एक योजन लम्बी दो दीवाल रूप वेदी की रचना करते देव चलते हैं। जिस गली को साफ किया जाता है, उस गली से ही होकर मनुष्य तिर्यंच गमन करते हैं।

भावार्थ—जब भगवान के विहार का समय आता है, तब भगवान अपने समवशरण की ऊचाई के समान ६-६ कोस १६१६ धनुष एक कमल चार अगुल प्रमाण ऊपर आकाश मे गमन करते है और मनुष्य, तिर्यंच जीव उनके नीचे पृथ्वी पर गमन करते है। इसलिए नीचे के एक योजन उस पृथ्वी को पवन कुमार जाति के देव तृण कण्टक रहित कर देते हैं। गन्धोदक वृष्टिक—भगवान के समवशरण मे तथा जिस मार्ग से भगवान गमन करते हैं, उस पृथ्वी पर मेघ कुमार जाति के देव आकाश मे अति सुगन्ध सूक्ष्म जल के कणो की वर्षा करते हैं । २२५ कमलो की रचना करके भगवान को उस पर से विहार कराते हैं। उस समय कुबेर उन भगवान के पाँव के नीचे १५ पंक्ति रूप एक हजार पाखुडी के स्वर्णमय २२५ कमल की रचना करते हैं । उसमे ५६-५६ कमल तो चारो दिशाओ में होते हैं एव एक कमल २२४ कमलो के बीच मे रहता है। ऐसी १५ पंक्ति रूप २२५ कमल होते हैं। इनके बीच के कमल पर भगवान अपने पाँव रखते हुए विहार करते हैं।

केवली भगवान को विहार कर्म का उदय आता है, तब इन्द्र अपने

अवधिज्ञान से जानकर वहाँ आकर इस प्रकार प्रार्थना करता है कि—हे देव ! यह बिहार का समय है आप विहार कीजिए एव जीवो का अपनी वाणी के द्वारा उद्धार कीजिये। इस प्रकार इन्द्र की प्रार्थना सुनते ही भगवान का विहार होता है । तब उनके पाँव के नीचे कुबेर तो २२५ कमल की रचना करता है। २२५ कमलों के वीच में (वीच वाले कमल मे) मनुष्य के समान, कमल से ४ अगुल ऊपर भगवान बिहार करते हैं। जैसे-जैसे भगवान चलते है, कुबेर उनके आगे कमलो की रचना करता जाता है।

प्रश्न—भगवान तो इच्छा रहित है, तो इच्छा बिना भगवान किस प्रकार चलते हैं ?

समाधान—केवली भगवान चार घातिया कर्मों से रहित हैं, भगवान के नामकर्म का उदय बाकी है। उससे वाणी का खिरना, उठना, बैठना, भ्रमण करना, पाँव उठाना इत्यादि क्रिया होना सम्भव है। इसलिए केवली भगवान की इच्छा बिना ही क्रिया होती है। इसमें कोई दोष नही है। इस प्रकार भगवान तो आकाश मे अधर ही विहार करते हैं। और मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका आदि इन चार प्रकार के सघ एव तिर्यंच जीव यह सब जमीन पर ही चलते हैं। जो विद्याधर आदि है, चारण मुनि और अन्य सामान्य केवली हैं, वे भी आकाश मार्ग से भगवान के समीप ही कुछ दूर पर चलते है और जो वाकी चार प्रकार के देव हैं, उनमे इन्द्र भगवान के पास भक्ति करते हुए भ्रमण करते हैं । इनमे कोई देव भगवान पर चमर ढोरते हुए जाते हैं, कोई देव चोवदार के समान अपने हाथ मे रत्नो की छडी लेकर भगवान के साथ-साथ चलते हैं और कोई जय-जयकार करते हुए चलते हैं और कोई देव देवियो के समूह भगवान के गुण गाते-गाते जाते हैं। इस प्रकार समस्त देव आकाश मार्ग से गमन करते हैं । इसी प्रकार मनुष्य तिर्यंच आदि जो पशु हैं, सब पृथ्वी पर भ्रमण करते है। भगवान जहाँ पर जाकर विराजमान होते हैं, वहाँ पर सभी देव अपने-अपने स्थान पर

वैठ जाते हैं। इस प्रकार भगवान के विहार के समय उनके पांव के नीचे २२५ कमलो की रचना होती है । जहाँ भगवान का समवशरण होता है वहाँ पर आकाश एकदम स्वच्छ निर्मल होता है, चारो दिशाए मेघ पटल से रहित निर्मल होती हैं। भगवान के आगे धर्मचक्र भी चलता है। जिस प्रकार गाडी का पहिया गोल रहता है, उसी प्रकार धर्मचक्र भी गोल होता है । भगवान के विहार के समय देव आगे आगे जय जयकार करते हुए जाते हैं। उनके साथ अष्ट मगल द्रव्य भी रहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—चमर, छत्र, कलश, झारी, दर्पण, पखा, ध्वजा, साथिया— इस प्रकार आठ मगल-द्रव्य रहते हैं।

भावार्थ—अर्ध मागधी भाषा, सभी जीवो का आपस मे मैत्री भाव होना, दर्पण के समान भूमि का निर्मल होना, षट् ऋतु के फल फूल लगे रहना, मन्द सुगन्ध वायु का चलना, सभी जीवो को सुख की प्राप्ति होना, पृथ्वी का तृण एव कटक रहित होना तथा गन्धोदक की वृष्टि होना २२५ कमलो की रचना होना, आकाश का निर्मल होना, समस्त दिशाओ का निर्मल होना, देवो का जयकार होना, धर्मचक्र होना, अष्ट मगल द्रव्यो का होना। इस प्रकार भगवान के देवकृत १४ अतिशय वतलाये हैं। इन सवकी रचना करने वाले देव ही हैं। वह सव क्रिया भगवान की भक्ति या तीर्थ कर नामकर्म के उदय से तथा पुण्य कर्म के उदय से होती है।

आठ प्रकार के देवकृत प्रातिहार्य निम्न प्रकार वतलाये हैं :—

भगवान के समवशरण मे सर्वप्रथम अशोकवृक्ष होता है। उस वृक्ष को देखते ही वारह सभाओ के जीवो का शोक आदि दूर हो जाता है, कल्पवृक्ष भी भगवान के समवशरण मे उत्पन्न होता है तथा रत्नो की वर्षा भी भगवान के समवशरण मे होती है । भगवान की दिव्य ध्वनि आठ प्रहर मे पूर्वान्ह मध्यान्ह अपरान्ह एव अर्धरात्रि— इस प्रकार चार वार मे ६-६ घडी अक्षररहित मेघ की गर्जना के समान भगवान के सारे शरीर से खिरती है।

भावार्थ—भगवान के ओठ, तालू आदि नही हिलते। केवली भगवान के सम्पूर्ण शरीर से ही ध्वनि खिरती है। भगवान की वाणी इस प्रकार की होती है जिस प्रकार मानो मेघ की गर्जना हो रही हो, रात दिन मे चार वार ६ घडी प्रमाण अक्षर रहित भगवान की दिव्य ध्वनि खिरती है। कोई गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती राजा आदि आकर भगवान से प्रश्न करते हैं, इनका निमित्त पाकर भी भगवान की और समय मे भी दिव्य ध्वनि खिरती है। इसका कुछ प्रमाण गोम्मटसार के वारहवें अधिकार मे वतलाया है। यह दिव्यध्वनि नाम का प्रातिहार्य है। तीर्थंकर के ऊपर इन्द्र अपने हाथ से स्फटिक मणि के समान निर्मल तथा देदीप्यमान इस प्रकार के ६४ सुन्दर चमर ढोरते जाते हैं।

प्रश्न—भगवान के ऊपर ६४ चमर ही क्यो ढोरे जाते हैं? कम ज्यादा क्यों नहीं है—इसका क्या कारण है?

समाधान—आदि पुराण मे जिनसेन आचार्य ने कहा है कि राजा के ऊपर एक चमर ढोरा जाता है, राजा महाराजाओ पर २ चमर ढोरे जाते हैं। और अर्ध माण्डलिक पर चार तथा महामाण्डलिक पर ८ चमर, अर्ध चक्रवर्ती तथा तीन खण्ड के चक्रवर्ती पर १६ चमर ढोरे जाते हैं। ६ खण्ड के अधिपति (चक्रवर्ती) के ऊपर ३२ चमर ढोरे जाते हैं। पुन समस्त तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भगवान पर ६४ चमर ढोरे जाते हैं। इस प्रकार से अनादि काल से परिपाटी चली आई है। इस प्रकार भगवान पर ६४ चमर ही ढोरे जाते हैं। भगवान चार कोस ऊचे स्फटिक मणि के रत्नमय सिंहासन पर विराजमान होते है, उसी सिंहासन के पीछे गोल भामण्डल होता है। उसका दर्शन करते ही समस्त ससारी जीव तीन भव की अपनी समस्त वातें जान लेते हैं और आगे होने वाले तीन भव की वातो को भी जान जाते हैं। और एक भव वर्तमान काल का इस प्रकार सात भव की अपनी जानकारी कर लेते हैं। छटवा अतिशय दुन्दुभि है। वे १२॥ करोड जाति के वाजे देवो द्वारा वजाये जाते हैं। वे वाजे समस्त भव्य जीवो को प्रिय लगते हैं,

उन्हें सुनते ही समस्त जीव मोहित हो जाते हैं। क्योकि भगवान मोहनीय कर्म से रहित हैं। इसलिए केवली भगवान को वाजे मोह उत्पन्न नही कर सकते हैं। भगवान के तीन छत्र होते हैं। वे छत्र, भगवान तीन लोक के स्वामी हैं, इस वात को प्रगट करने के लिए भगवान के ऊपर रहते हैं।

भावार्थ—अशोक वृक्ष, पुष्प वृष्टि, भामण्डल, दिव्य ध्वनि, चौंसठ चमर एक सिंहासन, दुन्दुभि वाजे, तीन छत्र—इस प्रकार आठ प्रातिहार्य भगवान केवली के होते हैं। आगे अनन्त चतुष्टय को कहते हैं।

अनन्त चतुष्टय—अरि का अर्थ मोहनीय कर्म है। रज का अर्थ ज्ञानावरणीय कर्म तथा दर्शनावरणीय तथा अन्तराय कर्म इस प्रकार के चार घातिया कर्मो को नाश करके अनन्त सुख, ज्ञान, दर्शन वीर्य इस प्रकार के चार चतुष्टय केवली भगवान को प्रकट होते हैं।

भगवान १८ दोप रहित होते हैं। क्षुधा, तृषा, जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक, विस्मय, भय, अरति, चिन्ता, खेद, स्वेद, मद-मोह, निद्रा, राग, द्वेष, इस प्रकार के १८ दोप रहित भगवान केवली होते हैं। इन १८ दोपो से रहित केवली भगवान के ३४ अतिशय, आठ प्रातिहार्य, चार अनन्त चतुष्टय—इस प्रकार ४६ गुण सहित भगवान होते हैं। नीचे पृथ्वी से लेकर ५००० धनुप प्रमाण ऊचे आकाश में समवशरण की रचना होती है।

अब आगे भगवान के समवशरण की रचना का वर्णन करते हैं।

समवशरण की रचना—५००० धनुप प्रमाण ऊचे आकाश मे १२ योजन चौडी झालरों के समान गोल रूप रत्नमय भगवान का समवशरण होता है। उसके चारों ओर एक-एक दिशा मे एक-एक कोस लम्वी एव एक-एक हाथ चौडी तथा इतनी ही एक एक हाथ प्रमाण ऊची २०००० (वीस हजार) सुवर्णमय पैडी होती हैं। यह नीचे की भूमि से ५००० धनुप प्रमाण ऊचा होता है।

भावार्थ—एक एक हाथ चौडी २०००० (वीस हजार) सीढियो

से पुन अढाई कोस प्रमाण ऊपर आकाश मे भगवान का समवशरण विराजमान रहता है। वहां पर पाच हजार (५०००) धनुप प्रमाण अढाई कोस की मोटाई और बारह योजन प्रमाण यानी ४८ कोस की चौडाई को लेकर नील रत्नमणि के समान गोलाकार एक शिला है। वह नीचे से लेकर ऊपर तक स्थित है। उसके चारो ओर बीस हजार (२००००) सीढिया बनी हुई हैं। उसी के ऊपर भगवान के समवशरण की रचना की गई है। वह शिला समवशरण की समभूमि समझनी चाहिए। इसलिए नीचे भूमि से पाच हजार (५०००) धनुष प्रमाण अढाई कोस ऊचाई आकाश मे आठ भूमि की रचना की गई है। वहा दो हजार धनुप प्रमाण एक कोस ऊँचाई मे चार कोट और पाच वेदियाँ हैं। उममे पहला धूलिसाल नामक कोट है। वह पाच प्रकार के रत्नो से निर्मित है। पुन दूसरा कोट है। वह तपे हुए स्वर्ण के समान लाल रग का हैं। तीसरा कोट स्वर्णमय पीत वर्ण है। चौथा कोट स्फटिक मणि के समान तथा चन्द्रमणि के समान श्वेत वर्ण है। इन चारो कोटो के वीच मे पाँच वेदिकायें हैं, वे भी स्वर्ण रूप हैं।

भावार्थ—पहला और चौथा ये दो कोट रत्नमय हैं। पुन बीच के दो कोट और जो पाच वेदिया हैं, वे सातों स्वर्णमय हैं। ऐसे ६ कोट हैं। वहा एक कोट तथा वेदी की चारो दिशाओ मे तीन-तीन खण्ड ऊचे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित नामक चार द्वार हैं। उसमे पूर्व की दिशा की ओर पहला विजय नामक द्वार है, दक्षिण दिशा मे दूसरा वैजयन्त नामक द्वार है, पश्चिम दिशा मे तीसरा जयन्त नामक द्वार है और उत्तर दिशा मे चौथा अपराजित नामक द्वार है। इस प्रकार ६ कोट की चारो दिशाओ में कुल ३६ (छत्तीस) द्वार हैं। उनमें पहले धूलिसाल कोट के जो चार दरवाजे है, वे स्वर्णमय तथा पीत वर्ण के हैं। बीच के जो दो कोट हैं, तथा उसमे जो चार वेदिया है, इन छहो के चारो ओर जो २४ दरवाजे हैं, वे रूप्यमय श्वेत वर्ण हैं। इसमे जो एक स्फटिक नामक कोट है, उसके आभ्यन्तर की पाच वेदियो के आठ

दरवाजे हैं। उनका रंग मरकत रत्नमय पन्ना के समान हरित वर्ण है। ऐसे समस्त तीन-तीन खण्ड मे ३६ दरवाजे हैं। उनमे अनेक देव देविया भगवान का गुणगान करती रहती है। उस प्रत्येक द्वार के ऊपर सौ सौ रत्नमय तोरण हैं। उन समस्त ३६ द्वारो के ऊपर तीन हजार छ सौ (३६००) तोरण हैं। जैसे यहा के कृत्रिम जिन मन्दिर के ऊपर स्वर्णमय गोलाकार एक कलश होता है। उसी प्रकार वहा भिन्न-भिन्न एक एक द्वार के ऊपर रक्तमणिमय लाल वर्ण रूप सौ सौ तोरण होते हैं, जो कि अत्यन्त प्रकाशमान होते हैं। इस प्रकार इन तोरणो से रहित तीन-तीन कोस ऊंचा एक द्वार होता है। उस द्वार पर अनेक रत्नमय घण्टा, मोतियों की मालायें एव अनेक कल्पवृक्ष के पुष्पो की मालायें लटकती रहती हैं। उसके बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनो तरफ अष्ट मंगल द्रव्य और नौ निधियो के समूह रहते हैं। वहा एक एक द्वार के दो-दो पार्श्व (किनारे) हैं। ये बाह्य और आभ्यन्तर भेद से एक एक द्वार के ४ पार्श्व होते हैं। वहा ३६ द्वार के समस्त १४४ पार्श्वों का तट होता है। उनमे एक एक तट सम्बन्धी अष्ट मगल द्रव्य और ९ निधिया विद्यमान हैं। उनमे जो मगल द्रव्य है, वे एक एक जाति के भिन्न-भिन्न रूप से १०८-१०८ होते हैं। और उसके ऊपर एक सौ आठ (१०८) पखे, १०८ छत्र, १०८ चमर, १०८ कलश, १०८ झारी, १०८ दर्पण, १०८ ध्वजयें, १०८ साथिया तथा इसी प्रकार भिन्न भिन्न रूप मे क-एक जाति के १०८-१०८ मगल द्रव्य हैं। अत जैसे मगल द्रव्य को कहा है, उसी तरह काल, महाकाल, पाण्डुक, मानवक, शख, नैसर्प, पद्म, पिंगल, नाना रत्न ये नौ प्रकार की निधिया हैं। वे भी एक एक जाति के भिन्न भिन्न रूप में एक सौ आठ एक सौ आठ ही हैं। इस तरह एक-एक पार्श्व सम्बन्धी इनकी रचना हैं। वहा अष्ट मगल द्रव्य का जो समूह है, वह द्वार पर भी स्थित है। और जो नौ निधियो का समूह है, वह एक एक द्वार के दोनो तटो की बाह्य भूमि मे स्थित है। उस समय मालूम पडता है कि मानो श्रीवीतराग भगवान से

तिरस्कृत होकर वीतराग भाव को प्राप्त होकर द्वार के आगे पड कर भगवान की सेवा कर रहा हो। ऐसे एक-एक द्वार के चार चार तटो मे अष्ट मगल द्रव्य और नौ निधियो की रचना है। वहा पहली पूर्व दिशा मे विजय नामक जो द्वार है, उसमे भवनवासी देव अपने हाथ मे स्फटिक नामक रत्नमय श्वेत वर्ण रूप दर्पण लिए हुए खडे है। दूसरा दक्षिण दिशा के वैजयन्त नामक द्वार मे व्यन्तर देव अपने हाथ में स्वर्णमय छडी लेकर खडे हैं। पिछली पश्चिम दिशा में जयन्त नामक जो नौ द्वार कहे गये हैं, उनमे ज्योतिषी देव अपने हाथ मे रत्नमय गुर्ज लिए खडे हैं। चौथी उत्तर दिशा का जो अपराजित नामक नौवा द्वार है, उसमे कल्पवासी देव रत्नमय दण्ड लेकर खडे हैं। इस प्रकार नौ कोट वेदी के चारो दिशाओ के ३६ द्वारो सम्वन्धी ये चार जाति के देव द्वारपाल होते हैं। ऐसे नौ कोट वेदी के समस्त ३६ द्वारो का स्वरूप जानना चाहिए। यहा कोट और वेदी मे केवल इतनी ही विशेषता है कि जो कोट है उसमे पृथ्वी सम्बन्धी चौडाई अधिक है, किन्तु ऊपर अनुक्रम से हानि रूप है, और वेदी नीचे से लेकर ऊपर अन्त तक भित्ति की तरह बरावर एक समान है। इस तरह इन चार कोट और पाच वेदी इन नौ कोटो के बीच मे चैत, खातिका, पुष्पवाटिका, उपवन, ध्वजा, कल्पवृक्ष, मन्दिर और सभा ये आठ भूमियाँ है। इनके आठवी सभा नामक भूमि के मध्य मे एक गन्धकुटी की रचना है।

भावार्थ सातवी मन्दिर नामक भूमि के आगे जो चौथा स्फटिक नामक कोट कहा गया है, उसके बीच मे छ हजार धनुप प्रमाण तीन कोस ऊचा और एक कोस प्रमाण चार कोस का चौडा एक गोल मण्डप है। उस मण्डप के वीच मे १६ धनुष ऊची तीन पीठ है। पीठ का नाम चबूतरा है। उसमे आठ धनुप ऊची और चार हजार धनुप प्रमाण दो कोस चौडी चौकोर गन्धकुटी है। उसके ऊपर एक योजन अर्थात् चार कोस ऊचा एक रत्नमय सिंहासन है। उसके ऊपर स्वर्णमय एक हजार पाखुडी का एक कमल है। उस कमल की कर्णिका के बीच मे चार

अगुल अधर श्री जिनेन्द्र भगवान विराजमान हैं। इसलिए नीचे की भूमि से छ कोस–एक हजार छ सौ सोलह धनुप प्रमाण का एक कमल और चार अगुल प्रमाण अधर आकाश मे भगवान विराजमान है। ऐसे श्री-मण्डप के बीच मे तीन पीठ के ऊपर भगवान की गन्धकुटी है। उसके चारो ओर श्रीमण्डप के नीचे दो हजार धनुप प्रमाण एक कोस की चौडी आठवीं सभा की भूमि है। उसमें अनुक्रम से मुनि, कल्पवासी देव, स्त्रियाँ, ज्योतिपी देविया, व्यन्तर देविया, भवनवासी देविया, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिप देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और तिर्यंच इस प्रकार बारह सभायें विराजमान हैं।

भावार्थ–अढाई कोस की मोटाई और बारह योजन की चौड़ाई की रत्नमयी जो एक शिला कही गई है, उसके अन्त भाग मे पहला धूलिसाल नामक कोट है। उसमें पहली चैतन्य नामक भूमि है। उसके आगे पहली वेदी है। उसके आगे दूसरी खातिका भूमि है। उसके आगे दूसरी वेदी है। उसके आगे तीसरी पुष्पवाटिका भूमि है। उसके आगे दूसरा कोट है। उसके आगे चौथी उपवन भूमि है। उसके आगे तीसरी वेदी है। उसके आगे पाचवी ध्वजा नामक भूमि है। उसके आगे तीसरा कोट है। उसके आगे छठीं कल्पवृक्ष नामक भूमि है। उसके आगे चौथी वेदी है। उसके आगे सातवीं मन्दिर नामक भूमि है। उसके आगे चौथा कोट है। उसके आगे आठवी सभा नामक भूमि है। उसके आगे पांचवी वेदी है। इस तरह ९ कोट और आठ भूमि इन सत्रहो के बीच मे तीन पीठ हैं। उसके ऊपर एक गन्धकुटी है। उस गन्धकुटी के बीच में एक सिंहासन है। उस सिंहासन के ऊपर एक कमल है। उस कमल से चार अगुल ऊपर आकाश मे भगवान विराजमान हैं। चारों दिशाओ की सीढियो मे अपनी-अपनी लम्बाई के समान एक कोस की चौडी और पहले धूलिसाल नामक कोट के दरवाजे से लेकर समवशरण के बीच मे गन्धकुटी के दरवाजे तक २३ कोस की लम्बी चार महागली हैं। उन महागलियों के मार्ग मे

होकर केवली भगवान के दर्शनार्थ समवशरण के अन्दर आते जाते हैं। इन चारो गलियो की प्रत्येक गली के दो दो पार्श्व यानी तट मे स्फटिक नामक मणिमय श्वेतवर्ण रूप एक कोस की ऊची और सात सौ पचास धनुष की चौडी तथा अपनी गली के समान २३ कोस की लम्बी दो दो दीवालें हैं। इनको वेदी भी कहते हैं। इस प्रकार चारो दिशाओ की महागलियो में कुल आठ वेदिया है। वे पृथक-पृथक एक एक वेदी अनेक द्वारो से सुशोभित हैं। उन दरवाजो मे वज्रमयी किवाड लगे हैं। इन वेदियो की दायी और बायी तरफ आठ आठ भूमिया हैं। वहा पर जो कोई भव्य जीव उन आठ आठ भमियो की रचना को यदि देखना चाहे तो उपर्युक्त द्वारो के बीच मे से जायगा। इस प्रकार समवशरण के अन्दर भूमियो का वर्णन किया गया।

अब आगे आठ भूमियो की रचना मे मानस्तम्भ की रचना का वर्णन करते है —

पहली चैत्य नामक भूमि की चारो दिशाओ के बीच मे चारो ओर चार द्वारो से सयुक्त तीन-तीन पीठ हैं। उन पीठो के ऊपर ६००० धनुष प्रमाण तीन कोस के ऊचे स्वर्णमय गोलरूप एक-एक मानस्तम्भ हैं, उसकी दो हजार धाराए हैं। वे सभी धारायें खम्भो के पहल के अनुसार हैं। उन मानस्तम्भो के नीचे मूलभाग में तीसरे पीठ के ऊपर एक एक दिशा मे एक एक जिनबिम्ब विराजमान है। उन जिनबिम्बो का अभिषेक इन्द्रादिक देव क्षीरसागर के जल से करते है। पृथक पृथक एक-एक अर्हन्त प्रतिमा आठ आठ प्रातिहार्यों से युक्त है।

प्रातिहार्य—अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, दिव्यासन, भामण्डल, दुन्दुभि और छत्र—ये आठ प्रातिहार्य है। इन आठो मे सबसे अधिक विशेषता दिव्यध्वनि की है। समस्त भव्य जीव इसे सुनकर अपने अपने कल्याण के मार्ग अपनाते है।

भावार्थ—इस प्रकार चार प्रतिमा से युक्त एक दिशा में एक एक मानस्तम्भ है। उसे देखते ही मिथ्यादृष्टि जीव का मान गल जाता है।

इसी कारण उसका नाम मानस्तम्भ है। अर्थात् मानस्तम्भ को देखने से इन्द्रादिक देवो का भी मान गलित हो जाता है। अतः समवसरण मे जो जीव जाते हैं, वे सबसे पहले मानस्तम्भ को नमस्कार करते हैं। इसलिए मानस्तम्भ का नाम सार्थक हुआ। पहली चैत्यभूमि की चारो दिशाओ मे चार मानस्तम्भ हैं। जिनमे सोलह जिनप्रतिमाए है। इसलिए इस पहली पृथ्वी का नाम चैत्यभूमि सार्थक हुआ। इस प्रकार पहली चैत्यभूमि के विषय मे चार मानस्तम्भों का स्वरूप समझना चाहिए। उन मानस्तम्भो की चारों दिशाओ मे एक एक बावडी है। पहली पूर्वदिशा के मानस्तम्भ सम्बन्धी नन्दा, नन्दोत्तरा, नन्दावती और नन्दघोषा ये चार बावडिया हैं। दूसरी दक्षिणदिशा के मानस्तम्भ सम्बन्धी विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इस प्रकार चार वापिया हैं। इसी तरह पश्चिमदिशा के मानस्तम्भ सम्बन्धी अशोक, महाशोक, कुमुदा और पुण्डरीका ये चार बावडिया हैं। पुन उत्तरदिशा के मानस्तम्भ सम्बन्धी नन्दा, महानन्दा, सुप्रतिबोध और प्रभकरी इस प्रकार चार हैं। ये सभी वापिया परमनिर्मल जल से पूरित हैं। उनमे अनेक रत्नमय कमल विकसित रहते हैं। इस प्रकार चारो ओर से बावडिया चौकोर हैं। उनमे पादप्रक्षालन करने के लिए दो-दो कुण्ड बने हुए हैं। उन कुण्डों के जल से भव्य जीव अपने चरण धोकर पुन उन वापियो के जल से जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करते हैं। इस प्रकार मानस्तम्भ की पूजा करने के पश्चात् भगवान् की पूजा करते हैं। इस तरह पहली चैत्यभूमि के विषय मे सोलह बावडियो के स्वरूप को जानना। जो पहला धूलिसाल नामक कोट है, उसकी चारो दिशाओ मे जो चार महागलिया कही गई हैं, उनके भाग मे स्फटिकमणि के श्वेतवर्णरूप दो नाट्यशालाए हैं। इस तरह चारो गलियो सम्बन्धी कुल आठ नाट्यशालाए हुई। प्रत्येक नाट्यशाला तीन-तीन खण्ड की ऊंचाई मे है। प्रत्येक नाट्यशाला में बत्तीस-बत्तीस अखाडे हैं और उन एक एक अखाडे मे बत्तीस बत्तीस भवनवासिनी देविया है, जो नृत्य करती रहती हैं। और एक-एक नाट्य-

शालाके दोनो किनारो पर दो धूपघट रहते है । इस प्रकार पहली चैत्य-भूमि सम्बन्धी आठ नाट्यशालाओ को समझना ।

भावार्थ—चैत्यभूमि सम्बन्धी चार मानस्तम्भ, सोलह बावड़ी, बत्तीस कुण्ड और आठ नाट्यशालाए है ।

अब आगे खातिका भूमि का वर्णन करते हैं—

पहली और दूसरी वेदी के बीच में दूसरी खातिका भूमि बतलाई गई है । उसमे जल की रचना है इसलिए इसका नाम खातिका भूमि है । दूसरी भूमि की चारो दिशाओ मे पहली भूमि के समान एक-एक कोस चौडी चार महागलिया है । उन महागलियो के मार्ग को छोडकर उसके चारो ओर के अन्तराल मे एकसौ पच्चीस धनुप नीचे एक जल से पूरित खातिका है । उसमे विविध भाति के स्वर्णमय एक एक हजार पखडियो वाले कमल फूल रहे है । उसके चारों ओर एक एक हाथ चौडी और ऊची पैडियाँ बनाई गई है । इन चारो खाइयो मे दोनो तटो पर हस मोर, चकवा-चकवी आदि अनेक मायामय पक्षी शब्द करते रहते है । इस प्रकार दूसरी खातिका का वर्णन समाप्त हुआ ।

अब आगे तीसरी पुष्पवाटिका का वर्णन करते है—

दूसरी वेदी और दूसरे कोट के बीच मे तीसरी पुष्पवाटिका नामक भूमि है । उसमे अनेक प्रकार के सुन्दर-सुन्दर पुष्पों की रचना की गई है । इससे इसका नाम पुष्पवाटिका है । तीसरी भूमि की चारो दिशा-सम्बन्धी दूसरी भूमि के समान एक-एक कोस की चौडी चार महा-गलियाँ है । उन महागलियो के मार्ग को छोडकर उनके चारो अन्तरालो मे बेलवन है । उसमे अनेक प्रकार की रत्नमयी बेलें फैली रहती हैं । उन बेलो मे भाँति-भाँति के सुन्दर-सुन्दर पुष्प लगते है । उस वन मे अनेक प्रकार के क्षुद्र याने छोटे-छोटे पर्वत हैं । उन पर्वतो के ऊपर जगह-जगह बेल के मण्डप बने हुए हैं । उसमे अनेक देव-देवियाँ भगवान का गुणा-नुवाद गाती रहती हैं । इस प्रकार पुष्पवाटिका का वर्णन समाप्त हुआ ।

आगे चौथी उपवन भूमि का वर्णन करते है—

दूसरे कोट और तीसरी वेदी के बीच चौथी उपवन भूमि है। उसमे अनेक वृक्षो की रचना है। इसलिए उसका नाम उपवनभूमि है। इस उपवन नामक बाग मे चौथी भूमि की चारो दिशाओ मे तीसरी भूमि के समान एक-एक कोस चौड़ी चार महागलियां हैं। उन महागलियों के मार्ग को छोडकर उनके चारो अन्तराल मे एक-एक तरफ चार-चार वन की पक्तियां अशोक, सप्तच्छद, चम्पक आम्र, इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार से चार वन की श्रेणियां हैं। उनमे पहले अशोक-नामक वृक्ष को देखकर ससारी जीवो का समस्त शोक दूर हो जाता है। इसलिए उसका नाम अशोक हुआ। दूसरे सप्तच्छद वृक्ष के ऊपर एक-एक शाखा मे सात-सात पत्ते होते हैं इसी से इसका नाम सप्तच्छद है। तीसरा चम्पक वृक्ष है। उसकी ज्योति दीपक के समान जगमगाती रहती है, इसलिए उसका नाम चम्पक पडा। चौथा आम्र का वृक्ष है। उसके ऊपर अनेक प्रकार के आम लगे हुए हैं इसीलिए उसका नाम आम्रवृक्ष पडा। उसके ऊपर मायामय पक्षी गुजार करते हैं पुन उस वन मे त्रिकोण चतुष्कोण निर्मल जलपूरित वावडियां हैं। इनकी पैडिया रत्नो की निर्मित हैं। उनके तट स्वर्णमय हैं। उस वन में रत्नमय अनेक पर्वत बने हुए हैं। वहाँ पर अनेक रत्न-मय महल भी हैं। उन महलो मे अनेक देव-देवियाँ क्रीडा करती रहती हैं। इस प्रकार विविध भांति की रचना से वह वन सुशोभित रहता है। पहले कहा हुआ जो अशोक नामक वन है, उसके बीच मे अशोक नामक चैत्य वृक्ष है। उसके चारो ओर एक-एक कोट है। उस कोट के चार-चार दरवाजे हैं। ऐसे तीन कोट के भीतर बीच मे स्वर्णमय तीन पीठ है। उसके ऊपर तीन कोस ऊँचा एक अशोक वृक्ष है। उस वृक्ष के नीचे मूलभाग सम्बन्धी तीसरी पीठ के ऊपर एक-एक दिशा में एक-एक अर्हन्त भगवान् की प्रतिमा है। इसलिए अशोक वन-सम्बन्धी एक अशोक नामक चैत्य वृक्ष है। उसके ऊपर चार जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं। इसलिए उसको चैत्यवृक्ष कहा गया है। इसी तरह दूसरे सप्तच्छद नामक वन मे सप्तच्छद चैत्यवृक्ष है तथा ऐसे तीसरे

चम्पकवन मे चम्पक नामक चैत्यवृक्ष हैं। इसी प्रकार चौथे आम्रवन मे आम्र नामक चैत्यवृक्ष है । यहाँ चैत्य नाम जिनप्रतिमा का है। इसलिए चारो चैत्यवृक्ष अपना-अपना नाम सार्थक करके विराजमान है। इस तरह चौथी भूमि के चारो अन्तराल सम्बन्धी सोलह चैत्य अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र इन चारो जातियो के अनेक वृक्ष है। जिस प्रकार पहला चैत्य नामक भूमि की चारो गलियो के दोनो किनारे पर आठ-आठ नाट्यशालाओ का वर्णन किया गया है उसी प्रकार दूसरे कोट के आभ्यन्तर चारो गलियो के दोनो किनारे आठ-आठ नाट्यशालाएँ है। परन्तु यहाँ इतना विशेष है कि वहाँ तो भवनवासी देवियाँ नृत्य करती हैं और यहाँ पर कल्पवासिनी देवियाँ नृत्य करती है।

भावार्थ—चौथी उपवन भूमि के अन्दर सोलह चैत्य नाम के वृक्षो की चारो दिशाओ मे चौंसठ जिनप्रतिमाएँ आठ-आठ नाट्यशालाएँ तथा अनेक बावडी, पर्वत, महल तथा अनेक वृक्षो की रचना है। ऐसा चौथी उपवन भूमि का वर्णन जानना।

आगे पाचवीं ध्वजाभूमि की रचना को कहते हैं—

तीसरी वेदी और तीसरे कोट के बीच में पाचवी ध्वजा नामक जो भूमि कही गई है उसमे दश प्रकार की ध्वजाओ की रचनाएँ है। इस-लिए उसका नाम ध्वजाभूमि पडा। यहाँ पर चारो महागलियो के मार्ग को छोडकर चारो अन्तराल मे सिंह, हस्ती, वृषभ, मोर, हस, गरुड, वस्त्र, माला, कमल और चक्र इस प्रकार दश प्रकार की ध्वजाएँ एक-एक दिशाओ मे तिष्ठती है। उनके अट्ठासी अगुल प्रमाण चौडे और तीन कोस ऊँचे रत्नमय दण्ड हैं। तथा उनके वस्त्र भी रत्नमय है। और वे वस्त्र पवन के झकोरे लगने से लहराते रहते हैं। उनकी शोभा ऐसी मालूम पडती है कि मानो भव्यजीवो को अपनी ओर बुला रही हो। उनमे पहली सिंहध्वजा मे सिंह के आकार मे वस्त्र लहराता रहता है और इसी प्रकार अन्य हस्ती, वृषभ, मोर,

हंस, गरुड, वस्त्र, माला, कमल और चक्र इन नौ जाति की ध्वजाओं के आकार में वस्त्र लहराते रहते हैं। इस प्रकार की ध्वजाओं में दश प्रकार के पृथक्-पृथक् चिह्न हैं। ये दश प्रकार की ध्वजाएँ पृथक्-पृथक् एक-एक दिशा में एक सौ आठ रहती हैं। इसलिए समस्त दश प्रकार की ध्वजाएँ एक दिशा में १०८० एक हजार अस्सी हुई। तो इस हिसाब से चारों दिशाओं की कुल चार हजार तीन सौ बीस ध्वजाएँ हैं। उनके बीच में परस्पर पच्चीस-पच्चीस धनुष का अन्तराल है। इस प्रकार पांचवीं भूमि का स्वरूप जानना।
आगे पांचवीं ध्वजाभूमि की रचना को कहते हैं—

तीसरे कोट और चौथी वेदी के बीच में छठी कल्पवृक्ष नामक भूमि कही गई है। उसमें दश प्रकार के कल्पवृक्षों की रचना है। इस-लिए उसका नाम कल्पवृक्ष भूमि पड़ा। वहाँ चारों महागलियों के मार्ग को छोड़कर उनके चार-चार अन्तराल में चार-चार ही कल्पवृक्षों के नाम गृहांग, भजनांग, आभूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, मद्यांग, ज्योतिरांग मालांग, वादित्रांग तथा दीपांग—ऐसे दश प्रकार के कल्पवृक्ष एक-एक वन में छह हजार धनुषप्रमाण तीन-तीन कोस ऊँचे स्थित हैं। वहां एक-एक वन में अशोक नामक चैत्यवृक्ष के समान एक-एक सिद्धार्थ वृक्ष हैं। उनके नाम क्रमशः मेरु, मन्दार, पार और सन्तान—ऐसे चार प्रकार के हैं उनके मूलभाग में सिद्ध प्रतिमा विराजमान हैं।

मूलभाग मे तीसरे पीठ के ऊपर एक-एक दिशा मे एक-एक सिद्ध भगवान की प्रतिमा विराजती हैं।

प्रश्न—सिद्ध भगवानजी की प्रतिमा का आकार किस प्रकार का है ?

उत्तर—अरहन्त भगवान के समान श्री सिद्धभगवान की वीतराग मूर्ति साढे तीन हाथ से लेकर कुछ कम पाँच सौ धनुष प्रमाण होती है। उसमे इतना विशेष है कि अरहन्त भगवान की प्रतिमा के निकट आठ-आठ प्रातिहार्य होते है परन्तु सिद्ध भगवान के निकट प्रातिहार्य नही होते। इसके अतिरिक्त समस्त रचना अरहन्त भगवान के समान ही रहती है। इस तरह एक-एक वन सम्बन्धी मेरु नामक सिद्धार्थ वृक्ष है और उसमे चार सिद्ध प्रतिमा विराजमान है। वहा पर उस वन सबधी अनेक रत्नमय महल बने हुए है। एव ५ पर्वत भी विद्यमान है। वहा की बावडी निर्मल जल से परिपूर्ण है। इस प्रकार पहले वन के सिद्धार्थ मेरु का स्वरूप जानना चाहिए। अथवा जिस पहले मेरु वन मे एक सिद्ध नाम का जो वृक्ष कहा गया है, उसी प्रकार दूसरे मन्दारजाति के वन मे एक मन्दारवृक्ष कहा गया है। इसी तरह तीसरे पारिजात वन में पारिजात सिद्धार्थ नामक वन है। इसी प्रकार चौथे सन्तानजाति के वन मे एक सन्तान नामक सिद्धार्थ वृक्ष है। इस प्रकार छोटी भूमि के चारो ओर १६ सिद्धार्थ नामक वृक्ष एव उसमें ६४ सिद्ध प्रतिमा विराजमान है। पुन जिस प्रकार चौथी उपवन नाम की गली के दोनो ओर ८ नाट्यशालाएँ कही है, उसी तरह यहा भी तीसरे कोट के आभ्यन्तर चारो महागलियों के दोनो तरफ ८ नाट्यशालाएँ है। किन्तु यहा पर इतनी विशेषता है कि कल्पवासिनी देविया यहाँ नृत्य करती है। यहाँ की नाट्यशाला श्वेतवर्ण की है और श्वेत तथा स्वर्णमय स्तम्भ है।

सातवी भूमि का वर्णन—

चौथी वेदी और चौथे कोट के बीच मे सातवी मन्दिर नाम की भूमि है। उसमे अनेक पक्ति रूप जिनमन्दिरो की रचना है। इसलिए

उसका नाम मन्दिर भूमि है। उन चारो गलियो के मार्ग को छोडकर उसके चारों अन्तराल मे तीन-तीन कोस ऊँचे शिखर निर्मित रत्नमय जिन मन्दिर है। उनमे अनेक देवी विद्याधर तथा चारणमुनि भगवान के गुणगान करते हैं। इस मन्दिर भूमि की एक-एक दिशा सम्बन्धी तीन कोस ऊँचे रत्न और मणिमय अत्यन्त सुन्दर नव स्तूप हैं। उनमे प्रत्येक के ऊपर एक-एक अरहन्त भगवान की प्रतिमा विराजमान है। वह प्रतिमा अष्ट मगल द्रव्य तथा अष्ट महा प्रातिहार्य से युक्त है। ऐसे नव-नव स्तूप के अन्तराल मे दीवाल के स्तम्भ के समान गोल रूप रत्नमय १००,१०० तोरण हैं।

भावार्थ—सातवी मन्दिर भूमि की चारो दिशा मे ३६ स्तूप तथा उनके ऊपर इतनी ही प्रतिमायें विराजमान हैं। इसके साथ-साथ ४०० तोरण अनेक प्रकार के महल वापी तथा विविध भाँति के पर्वतो की रचनायें हैं। इस प्रकार इस सातवीं मन्दिर नाम की भूमि का वर्णन किया गया।

आठवीं भूमि का वर्णन निम्न प्रकार है—

वहा पर चौथे कोट तथा पाँचवी वेदी के बीच मे आठवीं सभा नाम की भूमि है। उस भूमि मे मुनि, कल्पवासी देवी, अर्जिका-स्त्री, ज्योतिप देवी, व्यन्तर देव, देवी, भवनवासी देव, देवियाँ, कल्पवासी देव, ज्योतिप देव, तिर्यञ्च। इस प्रकार १२ सभायें हैं। इस कारण इस भूमि का नाम सभा भूमि पडा। वहाँ चारो अन्तराल मे एक-एक दिशा सम्बन्धी तीन-तीन सभायें हैं। इसलिए चारो दिशाओ के सब ओर १२ सभायें कही गई हैं। इसका भावार्थ इस प्रकार है—

भावार्थ—सातवी मन्दिर भूमि के आगे चौथा स्फटिक नामक कोट बतलाया गया है, इसके मध्य तीन कोस ऊँचा तथा चार कोस चौडा गोल रूप श्रीमंडप है। इसके मध्य मे गन्धकुटी के ऊपर भगवान की प्रतिमा विराजमान है। इस कारण इसका नाम श्री मण्डप बतलाया गया है। इस श्रीमडप मे एक अशोक वृक्ष है, यह एक योजन प्रमाण

श्रीमडप के नीचे समस्त बारह सभा के जीवो के शोक को दूर करता है। इसलिए इसका नाम अशोक वृक्ष है। अर्थात् वह अशोक वृक्ष वज्रमय है, उसकी शाखायें रत्नमय हैं। उसके पत्र मरकत मणि के समान हैं एव रत्नमय लाल वर्ण रूप उसके पुष्प हैं। इस प्रकार इस वृक्ष का स्वरूप समझना चाहिए। उसकी शाखाये एक योजन प्रमाण है एव श्रीमडप के चारो ही ओर फैली हुई है। इस श्रीमडप मे अनेक मोतियो की मालायें, रत्नघट, धूपघट, इत्यादि विविध भाँति की रत्नमयी रचनायें है। इस श्रीमण्डप के बीच मे जो तीन-तीन पीठ कहे गये है, उनमे चौथे स्फटिक नामक कोट से लेकर आगे भगवान की गन्धकुटी के नीचे पहले पीठ की ऊँचाई एक-एक कोस है एव उसकी चौडाई ७५० धनुप है। इस प्रकार स्फटिक मणि के श्वेत रूप १६ भित्तियो की वेदी है। उसमे जो ८ वेदियाँ हैं वे ४ गलियो के दोनो तरफ है। आठ वेदियो से चार अन्तराल के बीच मे और एक-एक अन्तराल में दो वेदी है। इसलिए एक-एक दिशा मे चार-चार वेदियाँ हुई। उस वेदी के बीच मे तीन-तीन कोठे है। इस प्रकार चारो दिशाओ के कुल १२ कोठे तथा भीतियाँ है।

भगवान की गन्धकुटी की रचना का वर्णन निम्न प्रकार है.—

चौथे कोठे के आगे श्रीमण्डप के नीचे स्वर्ण रूप गोलाकार जो पाचवी वेदी है उसके बीच मे तीन पीठ है। उनमें पहले पीठ की ऊँचाई तो आठ धनुष है। तथा ४००० धनुप प्रमाण दो-दो कोस चौडे मरकत मणि तथा पन्ने के समान हरित वर्ण गोलाकार है। यहाँ पहले पीठ की चारो दिशाओ मे एक कोस की चौडी तथा २३ कोस लम्बी जो चार महागलियाँ बतलायी गई है, उनकी सीध में जो १२ सभायें है, उनकी सीध मे १-१ हाथ की चौडी तथा इतनी ही एक-एक हाथ प्रमाण ऊँची बत्तीस-बत्तीस चढने उतरने की सीढियाँ हैं।

भावार्थ—भगवान की गन्धकुटी के चारो ओर १६+१६=३२ सीढियाँ हैं। उनमे एक-एक दरवाजा है। इसलिए गन्धकुटी के चारो

और १६ द्वार कहे गये है। इनमे चार द्वार तो चारो दिशाओ की महा-गलियो सम्बन्धी हैं, तथा १२ द्वार बारह सभा की तरफ हैं। इस प्रकार इन १६ द्वारो की ३२ सीढियो द्वारा ही मार्ग होता है । उस मार्ग से गणधर देव, इन्द्र महाराज तथा चक्रवर्ती आदि जितने भी भव्य जीव हैं वे सब इस प्रथम पीठ के ऊपर नही जाते । इस प्रकार नियम बताया है। इसलिए पहली पीठ तक ही जाते हैं आगे नही । वहाँ पूजा करके पुन उसी जीने के मार्ग से उतर कर अपनी-अपनी सभा में आकर बैठ जाते है।

प्रश्न—भगवान के समवशरण में बार-बार भव्य जीवो का गमन होता है ऐसा कहा है परन्तु अभव्य जीवो के जाने के लिए क्यो नहीं बतलाया ?

समाधान—यह नियम है कि वहाँ पर भव्य जीव ही जाते हैं, अभव्य नही।

भावार्थ—शास्त्रो का ऐसा नियम है कि अभव्य जीव भगवान के समवशरण मे नही जाते । मिथ्यादृष्टि जीव समवशरण मे जाते ही सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाते है। इसलिए भव्य जीवो को ही समवशरण मे जाने के योग्य भगवान ने बतलाया है।

प्रश्न—क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति मनुष्य गति मे होती है या तिर्यञ्च मे ?

का अन्त होते ही उसकी पूर्णता चारो गति मे होती है। इसलिए केवली भगवान के निकट ही जीव को आयु पूरी होती है। परन्तु वहाँ अकाल मृत्यु नही होती। इसलिए भगवान के समवशरण मे पहली कुटी के नीचे जो पहला पीठ है वहाँ देव मनुष्य तिर्यञ्च इस प्रकार तीन भेद वाले ससारी जीवो का गमन होता है इसके आगे नही। इस पीठ की एक-एक दिशा मे एक-एक धर्मचक्र एव आठ-आठ मगल द्रव्य हैं जो कि क्रमश झारी, कलश, दर्पण, स्वस्तिक, छत्र, ध्वजा, पखा, चामर इन आठ नामो से प्रख्यात हैं। और १००० गाडी के पहिये के आरे के समान गोल आकार रूप सूर्य के प्रकाश के समान धर्मचक्र का स्वरूप है। उस चक्र को यक्ष देव अपने मस्तक पर धारण किये खडे रहते है। इस प्रकार चार हजार धनुष चौडा जो पहला पीठ वतलाया गया है, उसके सात सौ पचास धनुष चौडी एक छोटी सी कटनी है उसके दोनो तरफ की चौडाई १५०० धनुष है। इसलिए पहले पीठ के ऊपर ४ धनुष ऊँचा तथा २५०० धनुष चौडा दूसरा पीठ कहा है। इस स्वर्णमयी दूसरे पीठ पर हाथी, वृषभ, गरुड, चक्र, कमल, वस्त्र, माला—ये आठ प्रकार की रत्नमयी ध्वजाये है। पहली पीठ के समान ही ७५० धनुष चौडी कटनी है। उसके दोनो ओर १५०० धनुष प्रमाण स्थान है। इसलिए दूसरे पीठ के ऊपर चार धनुष ऊँचा तथा १००० धनुष चौडा पाच प्रकार का रत्नमय तीसरा पीठ वतलाया है। तीसरे पीठ पर ६०० धनुष ऊँची, ६०० धनुप लम्वी तथा इतनी ही चौडी अनेक रत्नमयी चौकोर रूप गन्धकुटी है। वहाँ भगवान के शरीर की सुगन्धि से समस्त दिशायें सुगन्धमयी हो जाती हैं, इसलिए इसको गन्धकुटी कहा गया है। इस गन्धकुटी को अनेक मोती की मालाओ तथा अनेक जाति की रत्नमयी ध्वजाओ द्वारा सुशोभित किया गया है। इसके बीच मे एक योजन प्रमाण यानी चार कोस ऊँचा स्फटिक मणि का सिंहासन है। इसके चारो पायो को इस प्रकार बनाया गया है कि मानो सामने प्रत्यक्ष सिंह ही बैठा हो अथवा वह सिंह मानो भगवान की भक्ति करने के

लिए श्रावक व्रत धारण करके अपने समभाव पूर्वक धर्म श्रवण करने के लिए निकट मे आया हो। इसलिए इसका नाम सिंहासन पड़ा है। इस सिंहासन पर स्वर्णमय हजार पाखुडी का एक कमल है। इस कमल के चार अगुल प्रमाण ऊपर अर्थात् अन्तरिक्ष भाग मे भगवान विराजमान हैं। इसलिए नीचे की भूमि से १६१६ धनुष तथा चार अगुल प्रमाण ऊँचे आकाश मे केवली भगवान विराजमान है। नीचे की भूमि से ५००० धनुष प्रमाण ऊपर आकाश मे श्रीमण्डप के नीचे १२ सभाओ के जीव निवास करते हैं।

गन्धकुटी के ऊपर विराजमान हुए केवली भगवान के शरीर की ज्योति का चारो ओर गोलरूप इस प्रकार का एक पुंज है जिसकी प्रभा समस्त समवशरण मे व्याप्त हुई है। इसलिए उसका नाम प्रभा मण्डल है।

भावार्थ—भगवान की देह के प्रमाण गोलाकार रूप गन्धकुटी के चारों ओर एक भामण्डल है। उस भामण्डल से समस्त जीव मनुष्य, देव तथा तिर्यञ्च आदि के तीन भव आगे तथा तीन पीछे गये हुए भवो की और एक वर्तमान इस प्रकार सात भव की जानकारी जीव को हो जाती है। इस प्रकार आठभूमि के बीच मे भगवान की गन्धकुटी की रचना का स्वरूप जानना चाहिए। इस गन्धकुटी के चारो ओर एक कोस चौडी इस प्रकार बारह सभायें हैं। उनमे जीव बैठ कर धर्म का उपदेश प्राप्त कर सुख को प्राप्त करता है।

इस प्रकार बारह योजन चौडी तथा ४८ कोस प्रमाण समवशरण की रचना का जो वर्णन किया है वह इस समय विदेह क्षेत्र मे वर्तमान है। वहाँ पर वह हमेशा वर्तमान रहती है। इस भरत तथा ऐरावत क्षेत्र मे अवसर्पिणी काल के आदि में तो उत्कृष्ट १२ योजन की रचना होती है। तथा इसके आगे अनुक्रम से यह घटते जाते हैं, जैसा कि पहले वृषभदेव भगवान के समवशरण का विस्तार १२ योजन बतलाया गया है। एव अन्त में २२ वे नेमिनाथ भगवान तक आधे आधे योजन की कमी

होती गई । तेईसवें पार्श्वनाथ तथा चौबीसवें महावीर भगवान के पाव-पाव योजन घट गया। इसलिए अन्त में भगवान महावीर स्वामी का समवशरण १ योजन चौडा कहा है।

नाभेयस्य शतानि पंच धनुषां मान पर कीर्तितम् ।
सद्भिस्तीर्थंकराष्टकस्य निपुणैः पचाशदून हि तत् ॥
पचाना च दशोनक भुवि भवेत्पचोनक चाष्टके ।
हस्ता. स्युर्नवसप्त चान्त्यजिनयोर्येषा तु तान्नौम्यह ॥

समवसरणमान योजन द्वादशादि ।
जिनपतियदुयावद्योजनार्द्धार्द्धहानि ॥
कथयति जिनपार्श्वे योजनैक सपाद ।
निगदितजिनवीरे योजनैक प्रमाणम् ॥

भगवान आदिनाथ के शरीर की ऊँचाई ५०० धनुप थी । तदनन्तर अजितनाथ भगवान से पुष्पदन्त भगवान तक ५० धनुप प्रति गवान कम होती चली गई । पुष्पदन्तनाथ भगवान के शरीर की ऊँचाई १०० धनुप थी। शीतलनाथ भगवान से अनन्तनाथ भगवान तक दस-दस धनुष की कम होकर ऊँचाई ५० धनुप थी। धर्मनाथ भगवान से नेमिनाथ भगवान तक ५-५ धनुष की ऊँचाई घटती गई । नेमिनाथ भगवान की ऊँचाई १० धनुप थी। पार्श्वनाथ भगवान की ऊँचाई नव हाथ थी। तथा महावीर भगवान की ऊँचाई सात हाथ थी। इस प्रकार इन सभी भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ।

आदिनाथ भगवान के समवशरण की लम्बाई १२ योजन थी। तत्पश्चात् आधे योजन समवशरण की लम्बाई घटती गई, पार्श्वनाथ भगवान के समवशरण की लम्बाई सवा योजन तथा महावीर भगवान के समवशरण की ऊँचाई १ योजन की थी।

अर्थात् पहले आदिनाथ स्वामी का समवशरण का प्रमाण बारह योजन था, दूसरे भगवान अजितनाथ स्वामी का ११ योजन, तीसरे का

१०॥, पाचवें का १०, छटे का ९॥, सातवें का ९, आठवें का ८॥, नवें का ८, दसवें का ७॥, ग्यारहवें का ७, बारहवें का ६॥, तेरहवें का ६, चौदहवें का ५॥, पन्द्रहवें का ५, सोलहवें का ४॥, सत्रहवें का-४, अठारहवे का ३॥, उन्नीसवें का ३, वीसवें का २॥, इक्कीसवें का २, बाईसवें का १॥, तेईसवे पार्श्वनाथ का १।, चौवीसवें भगवान महावीर के समवशरण की लम्बाई १ योजन प्रमाण बतलाई गई है।

इस अवसर्पिणी काल में अनुक्रम से हीन रूप होता आता है। इसी प्रकार दूसरे उत्सर्पिणी काल में पुन वृद्धि होती है। उसमें आदि में एक योजन लम्बी-चौड़ी तथा अन्त में २४वें भगवान के समवशरण की १२ योजन प्रमाण की लम्बाई होती है। इस प्रकार दोनो समवशरण का वर्णन किया जा चुका। वहाँ पर पाँच वेदी तथा चार कोट इस प्रकार नव कोट-वेदी तथा गली की वेदी को कहा गया। इसकी ऊँचाई तो भगवान के शरीर से चौगुनी होती है। तथा वहाँ सिद्धार्थ वृक्ष, चैत्य वृक्ष, मानस्तम्भ, ध्वजा, वन के वृक्ष, महल, जिन मन्दिर, पर्वत, स्तूप आदि इनकी ऊँचाई अपने-अपने काल सम्बन्ध को लेकर तीर्थंकर के शरीर से बारह गुनी होती है। इस प्रकार समवशरण की रचना का वर्णन समझना चाहिए। वह सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर द्वारा निर्मित किया जाता है। इस प्रकार श्री भगवान तीर्थंकर के समवशरण के स्वरूप को यथासम्भव शास्त्र के आधार से विवेचन किया गया है।

इस प्रकार समवशरण की लक्ष्मी से युक्त विराजमान सयोग केवली नाम के तेरहवें गुणस्थान मे तीर्थंकर भगवान तथा सामान्य केवली, सर्वज्ञ, वीतराग, परमहितोपदेशक, जो अरहन्त भगवान हैं वे देव हैं, और उनका वर्णन इस प्रकार किया है।

भावार्थ—तीर्थंकर केवली तथा सामान्य केवली इन दोनो केवली के समान ही गुणस्थान होते हैं, इस कारण दोनो को अरहन्त कहते हैं। पर इन दोनो मे इतनी विशेषता है कि सामान्य केवली के गन्धकुटी होती है और तीर्थंकर भगवान के समवशरण आदि महान विभूति होती है।

क्योंकि वहाँ पर तीर्थंकर प्रकृति का उदय है। तीर्थंकर तथा केवली ये दोनो आत्मा की दृष्टि से समान है और दोनो ही अरहन्त भगवान है। इस प्रकार जो अरहन्त भगवान है वे सम्यग्दृष्टि के लिए पूजने योग्य है। इसके अलावा अन्य देव सम्यग्दृष्टि जीव के मानने योग्य नहीं वतलाए गये हैं। इसलिए अरहन्त भगवान को देव कहना ठीक है, दूसरे को नही। इसलिए वीतराग भगवान ही देव हैं। विशेपकर अरहन्त ही सिद्ध भगवान है। अरहन्त सिद्ध इन दोनो मे इतना ही भेद हे कि अरहन्त भगवान, सिद्ध होने के पहले का जो अरहन्त पद है वह चार घातिया कर्म के नष्ट करने से हुए हैं, सिद्ध भगवान आठो कर्मों को समूल नष्ट करते है इसलिए वे सिद्ध हो गये है। पर दोनो मे कोई विशेप भेद नही हैं। इस कारण सूक्ष्मत्व अर्थात् अमूर्तिक अवगाहन अगुरुलघु अव्यावाघ इस प्रकार के आठ गुण सहित जो सिद्ध भगवान देव हैं वे ही पूजने योग्य है।

मानस्तम्भ

मानस्तभाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिका पुष्पवाटी।
प्राकारो नाट्यशालाद्वितयमुपवनं वेदिकान्तर्ध्वजाद्याः॥
शालः कल्पद्रुमाणां सुपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली च।
प्राकारः स्फाटिकोन्तर्नृसुरमुनिसभा पीठिकाग्रे स्वयंभूः॥

समवशरण मे मानस्तम्भ सरोवर मे भरा हुआ खन्दक धूलिसाल नाम का किनारा, दो नाट्कगृह उद्यान, वावडी वेदी के बीच मे ध्वजा दूसरे किनारे पर तट तथा कल्पवृक्षो के वन, ध्वजा महलो की कतार स्फटिक मणि का तट और इस तट के मध्य मे मनुष्य, देव और मुनि इनकी वारह सभा और सिंहासन के अग्रभाग पर अरहन्त भगवान इस प्रकार समवशरण का वर्णन किया गया है।

भावार्थ—कवि ने इस श्लोक मे वारह सभाओ का वर्णन किया है। इसके अन्दर चारो प्रकार के देव और देवागना, मनुष्य, तिर्यञ्च,

मुनिराज केवलज्ञानी अवधिज्ञानी मूककेवली आदि, मनुष्य स्त्री सभी प्रकार के प्राणी भगवान के मगलमय उपदेश को सुनने के लिए एकत्रित होते हैं। इस समवशरण मे चारो तरफ चार मानस्तभ होते है, जिनके सुन्दर रूप को देखकर पहले जन्मो का हाल मालूम होता है और मानी से मानी व्यक्ति भी अपने मान को छोड देता है। भगवान की सभा में चार वार प्रवचन होते हैं । समवशरण मे भगवान ऐसे मालूम होते हैं कि चारो तरफ देखने वाले स्त्री पुरुप सभी यह समझते हैं कि भगवान मेरी तरफ देख रहे हैं। जहाँ पर भगवान का समवशरण होता है उसके चारो तरफ सुकाल हो जाता है, कही पर किसी प्रकार का दुर्भिक्ष–अकाल नही पड़ता है। सभी प्राणी अपनी-अपनी भापा मे भगवान की मगलमय अमृतमय वाणी सुनते हैं। समवशरण ज्ञान प्रचार की ऐसी सभा है जिसमे प्राणीमात्र आकर सुख शाति का अनुभव करते हैं और अपने जन्म को सफल बनाकर मोक्ष के मार्ग मे लगते हैं।

(समवशरण का विस्तृत विवेचन पहले दिया जा चुका है।)

वैराग्यनीति यात्म
विचारं तां वगेदु नोडे राजिसुगुं
शृंगारकवि हंसराजं ।
पूरिसिद सपाद शतकरत्नाकरदोळ् ॥१२८॥

स्वय विचार करके देखने से शृगार हसराजकृत सपाद शतक रत्नाकर ग्रन्थ मे वैराग्य और नीति तथा आत्म विचार झलकता है।

इस ग्रथ मे कवि ने वैराग्य और नीति तथा अध्यात्म इन तीनो को गुम्फित किया है और इसमे अनेक उदाहरण सहित अध्यात्म रस की सुन्दर ढग से विवेचना करके भव्य जीवो के हृदय से अज्ञान रूपी पटल को दूर करने का प्रयत्न किया है। जो भव्य जीव इस ग्रन्थ को एक बार मनन करता है उसके मन से ससार विपय सम्बन्धी वासना दूर हो जाती है। इसलिए सभी भव्य जीवों को इस ग्रथ को मनन करके अपने

मनुष्य जन्म को सार्थक वनाना चाहिए। ये ग्रथ १२८ श्लोको मे रचा हुआ है। इसके दो भाग हैं। एक रत्नाकर शतक और दूसरा अपराजितेश्वर शतक। इसके अन्दर वैराग्य-आत्म ध्यान के विषयो का अच्छी तरह से विवेचन किया है अथवा दो खण्डो मे विभाजित किया है। इसलिए हे भव्य जीव! इन दोनो खण्डो को मनन करके अपने मनुष्य जन्म को सार्थक कर ले।

श्रीमद्देवेद्रकीर्तियोगीश्वर पादाभोजभृ गायमान शृगारकवि-हसराजविरचितमप्परत्नाकरसपादशतक समाप्तम् ॥

कवि ने कहा है कि श्रीमद्देवेन्द्रकीर्ति योगीश्वर के चरण कमल मे भ्रमर के सदृश रहने वाले शृ गार कवि हसराज विरचित "रत्नाकर सपाद शतक" ग्रन्थ समाप्त हुआ।
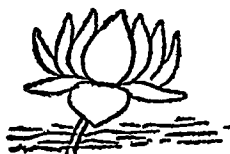
रत्नाकर शतक की साररूप

प्रश्नोत्तर-माला

प्र०—भद्र कौन है ?

उ०—विषयासक्त ।

प्र०—मुक्त क्या है ?

उ०—विषय भोगों से पूरी तरह से छूटना ।

प्र०—भय और नरक क्या है ?

उ०—सात व्यसन ।

प्र०—स्वर्ग क्या है ?

उ०—तृष्णा का छूटना ।

प्र०—ससार बधन किससे कटता है ?

उ०—आत्म ध्यान से ।

प्र०—मुक्ति के हेतु क्या है ?

उ०—तपश्चर्या, तप और सयम ।

प्र०—नरक का द्वार क्या है ?

उ०—कनक और कामिनी ।

प्र०—सुख से कौन सोता है ?

उ०—समाधिनिष्ठ । अर्थात् आत्म ध्यान में मग्न रहने वाला ।

प्र०—जाग्रत कौन है ?

उ०—सत्य का विवेकी ।

प्र०—शत्रु कौन है ?

उ०—इन्द्रियों के काम ।

प्र०— दरिद्र कौन है ?

उ०—जिसकी तृष्णा बड़ी (अधिक) है।

प्र०—श्रीमान् कौन है ?

उ०—जो पूर्ण सन्तोषी है।

प्र०—मरा कौन है ?

उ०—उद्यमहीन।

प्र०—जीवित कौन है ?

उ०—स्व और पर के ज्ञानी।

प्र०—फांसी क्या है ?

उ०—ममता और अभिमान।

प्र०—मदिरा की भांति मोहित कौन करता है।

उ०—कामान्ध नारी का संसर्ग।

प्र०—मृत्यु क्या है ?

उ०—अविवेक।

प्र०—गुरु कौन है ?

उ०—विषय आशा का जिन्होंने पूर्णतया त्याग किया हो। और हमेशा ध्यान अध्ययन में रत रहता हो।

प्र०—शिष्य कौन है ?

उ०—जो गुरु की आज्ञाओं पर चलता हो।

प्र०—लम्बा रोग क्या है ?

उ०—भव रोग।

प्र०—उसके मिटाने की दवा क्या है ?

उ०—सत्य और असत्य का विचार।

प्र०—भूषण में उत्तम भूषण क्या है ?

उ०—स० चारित्र।

प्र०—परमतीर्थ क्या है ?

उ०—अपना विशुद्ध मन।

प्र०—कौन वस्तु हेय है ?

उ०—कामनी और कंचन ।

प्र०—सदा क्या सुनना चाहिए ?

उ०—गुरु का उपदेश । सदुपदेश ।

प्र०—आत्म प्राप्ति का उपाय क्या है ?

उ०—सत्संग, दान विचार और सन्तोष ।

प्र०—सन्त कौन है ?

उ०—जो समस्त विषयों से वैरागी तथा मोह रहित व्रतनिष्ठ हो ।

प्र०—प्राणियो का ज्वर क्या है ?

उ०—चिन्ता ।

प्र०—मूर्ख कौन है ?

उ०—विवेकहीन ।

प्र०—किसको प्रिय बनाना है ?

उ०—अरहन्त भक्ति को ।

प्र०—यथार्थ जीवन क्या है ?

उ०—जो दोष वर्जित है ।

प्र०—विद्या क्या है ?

उ०—जो स्व और पर का कल्याण करे ।

प्र०—ज्ञान किसे कहते हैं ?

उ०—जो मोक्ष का हेतु हो ।

प्र०—लाभ क्या है ?

उ०—आत्म ज्ञान ।

प्र०—जग को किसने जीता है ?

उ०—जिसने मन को जीत लिया ।

प्र०—वीरो में महावीर कौन है ?

उ०—जो काम-बाण से पीड़ित न हो ।

प्र०—धीर कौन है ?

उ०—जो ललना के कटाक्ष से मोहित नही होता।

प्र०—विप क्या है ?

उ०—समस्त विपय।

प्र०—सदा दुखी कौन है ?

उ०—विपयानुरागी।

प्र०—धन्य कौन है ?

उ०—परोपकारी।

प्र०—पूजनीय कौन है ?

उ०—अरहन्त तत्व मे निष्ठावान।

प्र०—सभी अवस्था मे क्या नही करना चाहिए ?

उ०—मोह और पाप।

प्र०—विद्वानो को प्रेम के साथ क्या करना चाहिए ?

उ०—शास्त्र का पठन और धर्म।

प्र०—ससार का मूल क्या है ?

उ०—विपय और चिन्ता।

प्र०—किसके सग और किसके साथ निवास नही करना चाहिए ?

उ०—मूर्ख, पापी, नीच और खल के साथ वास नही करे।

प्र०—मुमुक्षु व्यक्तियो को शीघ्रातिशीघ्र क्या करना चाहिए ?

उ०—सत्सग, निर्ममता और जिनेश्वर की भक्ति।

प्र०—हीनता का मूल क्या है ?

उ०—याचना।

प्र०—उच्चता का मूल क्या है ?

उ०—अयाचना।

प्र०—किसका जन्म सार्थक है ?

उ०—जिसका फिर जन्म न हो।

प्र०—अमर कौन है ?

उ०—जिसकी कभी मृत्यु न हो।

प्र०—शत्रु में महाशत्रु कौन है ?

उ०—क्रोध, मान, माया और लोभ ।

प्र०—विषय भोग से तृप्त कौन नही होता है ?

उ०—कामना ।

प्र०—दुःख का कारण क्या है ?

उ०—ममता ।

प्र०—मृत्यु समीप होने पर बुद्धिमान व्यक्ति को क्या करना चाहिए ?

उ०—कर्म शत्रु का भय निवारण करने के लिए श्री भगवान जिनेश्वर का ध्यान करना चाहिए ।

प्र०—दिन रात हमारा ध्येय क्या है ।

उ०—संसार से वैराग्य और आत्म स्वरूप का चिन्तवन ।

प्र०—मार्ग का पाथेय क्या है ?

उ०—धर्म ।

प्र०—पवित्र कौन है ?

उ०—जिसका मन पवित्र है ?

प्र०—पंडित कौन है ?

उ०—स्व पर विवेकी ।

प्र०—विष क्या है ?

उ०—गुरुजनो का अपमान ।

प्र०—मदिरा के समान मोहजनक क्या है ?

उ०—ममता ।

प्र०—डाकू कौन है ?

उ०—विषय समूह ।

प्र०—संसारवर्धक क्या है ?

उ०—विषय-तृष्णा ।

प्र०—शत्रु कौन है ?

उ०—उद्योग का अभाव।

प्र०—कमल पत्र पर स्थित जल की तरह चचल क्या है ?

उ०—यौवन, धन और आयु।

प्र०—चन्द्र किरण के समान निर्मल कौन है ?

उ०—विषय वासना से रहित, बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह रहित, वीतराग, तप और सयम से युक्त दिगम्बर साधु।

प्र०—नरक क्या है ?

उ०—परवशता।

प्र०—सुख क्या है ?

उ०—समस्त ससार का त्याग।

प्र०—सत्य क्या है ?

उ०—जिसके द्वारा प्राणी का हित हो।

प्र०—प्राणियो को प्रिय क्या है ?

उ०—प्राण।

प्र०—दान क्या है ?

उ०—कामना रहित होना।

प्र०—मित्र कौन है ?

उ०—जो पाप से हटाये।

प्र०—आभूषण क्या है ?

उ०—शील।

प्र०—वाणी का भूषण क्या है ?

उ०—सत्य।

प्र०—अनर्थकारी कौन है ?

उ०—मान।

प्र०—सुखदायी कौन है ?

उ०—सज्जन की मित्रता।

प्र०—समस्त व्यसनो के नाश मे कौन समर्थ है ?

उ०—सर्वथा त्यागी ।

प्र०—अन्धा कौन है ?

उ०—जो अकर्तव्य मे लगा हो ।

प्र०—बहरा कौन है ?

उ०—जो हित की बात न सुनता हो ।

प्र०—गूंगा कौन है ?

उ०—जो समय पर प्रिय वचन न बोलता तथा न जानता हो ।

प्र०—मरण क्या है ?

उ०—मूर्खता ।

प्र०—अमूल्य वस्तु क्या है ?

उ०—उपयुक्त समय देख करके दान देना ।

प्र०—मरते समय क्या चुभता है ?

उ०—अपने गुप्त पाप ।

प्र०—साधु कौन है ?

उ०—सच्चारित्रवान् ।

प्र०—अधम कौन है ?

उ०—चारित्रहीन ।

प्र०—जगत को जीतने मे कौन समर्थ है ?

उ०—सत्यनिष्ठ और महा सहनशील ।

प्र०—शोचनीय क्या है ?

उ०—धन होने पर भी कृपणता ।

प्र०—प्रशसनीय क्या है ?

उ०—उदारता ।

प्र०—पडितो मे पूजनीय कौन है ?

उ०—सदा स्वाभाविक विनयवान ।

प्र०—चतुर कौन है ?

उ०—प्रिय वचन के साथ दान, गर्व रहित ज्ञान, क्षमायुक्त शूरता और त्यागयुक्त धन ।

प्र०—मुक्ति किसको मिलती है ?

उ०—जिन्होने ससार से मुँह मोडा हो ।

प्र०—इस काल मे धर्म मे मलिनता करने वाला कौन है ?

उ०—कानजी भाई ।

प्र०—वह कौन से मत को पालता है ?

उ०—एकान्त मत को ।

प्र०—नरक के भागी कौन हैं ?

उ०—एकान्त मत का प्रचार, वीतराग भगवान की वाणी को मलिन करने वाले, एकात के पोषक ।